सन्मति-साहित्य-रत्न-माला का चौवीसवाँ रत्न

अहिंसा-दर्शन

प्रवचनकार
उपाध्याय कविरत्न मुनि श्री अमरचन्द्रजी महाराज

संपादक
पं० शोभाचन्द्रजी भारिल्ल, न्यायतीर्थ

श्री सन्मति ज्ञान पीठ, आगरा

प्रकाशक—
सन्मति ज्ञान-पीठ
लोहामडी, आगरा

द्वितीय सस्करण १९५७
मूल्य
चार रुपये ५० नये पैसे

मुद्रक—
कल्याण प्रिन्टिग प्रेस,
राजामडी, आगरा।

वर्तमान अणु एवं उद्जन युग

की

सन्तप्त एवं सन्त्रस्त

अखण्ड मानव-जाति

को

अहिंसा-दर्शन

का

अमृत-पात्र

सस्नेह

स म र्पि त

द्वितीय सस्करण

'अहिसा-दर्शन' का यह दूसरा सस्करण है। प्रस्तुत पुस्तक ने जैन-अजैन सभी तटस्थ विचारको की दृष्टि मे जो महत्त्वपूर्ण समादर का स्थान प्राप्त किया है, ज्ञानपीठ, इसके लिए अपने को सौभाग्यशाली समझता है।

प्रथम सस्करण वहुत शीघ्र ही समाप्त हुआ। उन दिनो इसकी एक सिरे से दूसरे सिरे तक एक धूम-सी मच गई थी। यही कारण है कि गुजराती पाठको के आग्रह पर, इस बीच, जैन सिद्धान्त सभा बबई से अहिसा-दर्शन का शानदार गुजराती सस्करण भी प्रकाशित हो चुका है। अग्रेजी अनुवाद की माँग भी काफी तीव्र हो रही है। देखिए, ज्ञानपीठ के सीमित साधन, इस दिशा मे, कब सफल होते हैं।

प्रस्तुत सस्करण बहुत सुन्दर एव परिमार्जित हुआ है। इसका यह वर्तमान मोहक रूप, आदरणीय साहित्य-सेवी श्री अखिलेश मुनिजी, श्री मनोहर मुनि जी शास्त्री साहित्यरत्न, तथा श्री प० बाबूराम जी शर्मा का आभारी है। साहित्य सेवियो के बौद्धिक श्रम के साथ-साथ मुद्रण-सम्बन्धी सुविधाओ की दृष्टि से कल्याण प्रिन्टिग प्रेस के व्यवस्थापक का सहानुभूति पूर्ण सत्-सहयोग भी सराहनीय है। आप सब का अपनी अपनी मर्यादा मे दिया गया योगदान, चिरस्मरणीय रहेगा।

—विजयसिंह दूगड
मत्री, सन्मति ज्ञानपीठ

आगरा
विजय दशमी, १९५७

सम्पादकीय

विश्व के समस्त धर्म अहिंसा के सिद्धान्त को स्वीकार करते हैं। जिन धर्मों मे हम हिंसा का अवकाश देखते हैं, वह हिंसा भी विचारकों की दृष्टि से ही हिंसा है। वस्तुतः वह धर्म तो उस हिंसा को भी अहिंसा मानकर ही प्रश्रय देता है। इस प्रकार किसी भी धर्म के शास्त्र मे हिंसा को धर्म और अहिंसा को अधर्म के रूप मे स्वीकार नही किया गया, वरन् सभी धर्म, अहिंसा को ही परम-धर्म स्वीकार करते हैं। सभी धर्मों में अहिंसा को जो महत्त्वपूर्ण स्थान मिला है, वह यो ही नही मिल गया है। वास्तव मे अहिंसा मानव-जीवन की सर्वोत्कृष्ट नीति है, और कहना चाहिए कि वह अनिवार्य एव आध्यात्मिक स्तम्भ भी है ; जिसके सहारे मानव जाति का अस्तित्व टिका हुआ है।

अहिंसा कोरी सिद्धान्त की वस्तु नही, वरन् व्यवहार की वस्तु है। चिरकाल मे वडे-वडे साधक पुरुष अपने व्यावहारिक जीवन मे अहिंसा की आराधना करते आए हैं और कुछ ने अहिंसा के लिए अपने मूल्यवान् जीवन का उत्सर्ग करके उसे बहुत बडी महिमा प्रदान की है। जैन-ग्रन्थो मे ऐसे सैंकडो उदाहरण हमे मिलते हैं। केवल ससार-त्यागी सन्तो के लिए ही अहिंसा आचरणीय नही, किन्तु गार्हस्थ्य जीवन मे भी वह आचरणीय मानी गई है, क्योंकि गार्हस्थ्य जीवन का सदाचरण ही सत-जीवन की पृष्ठ-भूमि है।

किस युग मे अहिंसा की कल्पना की गई, यह कहना कठिन है। इतिहास इस प्रश्न का उत्तर देने मे मौन दिखाई देता है और सम्भवतः उसके पास कोई समुचित उत्तर हो भी नही सकता। जब से इस धरातल पर मनुष्य नामक प्राणी विद्यमान है, जब से उसे हृदय और मस्तिष्क प्राप्त है, तभी से अहिंसा का परम पुनीत सिद्धान्त भी

प्रचलित है। इस ध्रुव सत्य को मान लेने मे कोई आपत्ति दिखलाई नही देती।

सुदूर अतीत से अहिसा के सम्बन्ध मे विचार किया जाता रहा है। उस अज्ञात प्राचीन काल से लेकर आज तक हिसा-अहिसा की मीमासा चल रही है। उत्तरोत्तर अहिसा को विशाल और विराट् स्वरूप प्रदान किया जाता रहा है। आचार जगत् की अहिसा भगवान् महावीर के युग मे विचार जगत् मे भी शान के साथ प्रवेश करती जान पडती है, और गाधी युग मे राजनीति के क्षेत्र मे आकर वरदान देती प्रतीत होती है। जीवन के जिस क्षेत्र मे हिसा की बीमारी बढने लगती हे, उसे दूर करने के लिए अहिंसा को उसी क्षेत्र मे पदार्पण करना पडता है।

हिसा और अहिसा की मर्यादा स्थिर करने मे जो जटिलता प्रतीत होती है, उसका कारण उनकी विराटता ही है। तथापि मन मे यदि किसी प्रकार का दुरभिनिवेश न हो और शुद्ध जिज्ञासा विद्यमान हो, तो हिसा और अहिसा की मर्यादा स्थिर करने मे कोई कठिनाई नही हो सकती। मनुष्य का हृदय स्वय ही इस विषय मे सही साक्षी देने लगता है।

उपाध्याय श्री अमरचन्द्रजी महाराज बहुश्रुत विद्वान् और निष्पक्ष भाव से तत्त्व-ज्ञान का चिन्तन करने वाले सन्त है। सौभाग्य से उन्हे विद्या और बुद्धि के साथ वक्तृत्व कला भी उच्चकोटि की प्राप्त है। उन्होने अहिंसा पर जो प्रवचन किये हैं, इस पुस्तक मे उन्ही का सकलन है। यह प्रवचन अनेक दृष्टियो से मौलिक और महत्वपूर्ण हैं। इनके पढने से पाठको को अहिसा के निखरे हुए विराट् स्वरूप का दर्शन होगा, इसमे तनिक भी सन्देह नही है। जैन दृष्टि मे अहिसा का ऐसा स्पष्ट, विशद और सर्वाङ्गीण चिन्तन और प्रतिपादन अन्यत्र नहीं मिलेगा। कविजी के भावो मे गाभीर्य है और भाषा मे ओज है। उनकी भाषा बडी सुहावनी है। नदी के प्रवाह की तरह प्रतिपाद्य विषय की ओर अग्रसर होती हुई, लहराती हुई, धरातल से ऊपर उठकर गगनतल को स्पर्श

करती हुई-सी जान पडती है। न तो कही रुकती है, न स्खलित ही होती है, अपितु अपने प्रतिपाद्य पथ की ओर अग्रसर होकर अभीष्ट विषय को पूरी तरह निखार देती है। प्रवचनो का सम्पादन करते समय कविश्री की भाषा की मौलिकता को कायम रखने का मैंने भरसक प्रयास किया है। फिर भी यह दावा करना कठिन है कि मैं इसमे पूरी तरह सफल हो सका हूँ।

कविश्री के प्रवचन सुव्यवस्थित और क्रमबद्ध होते हैं। अतएव उनका सम्पादन करने मे कोई कठिनाई नही होनी चाहिए। परन्तु जहाँ कही शीघ्रलिपि-लेखक भाषण के प्रवाह एवं वेग को सम्यक् वहन न कर सका, वहाँ स्खलनाएँ हो गई हैं और उन स्खलनाओ को सँवारना ही मेरा काम रहा है। ऐसा करते समय भाषा मे कही विरूपता आ गई हो, तो उसके लिए विवशता है।

कविश्री के प्रवचन युग की भाषा बोलते हुए भी आगम के 'हृदय' की ही बात कहते हैं। आपकी विचारावली दिवगत पूज्य श्री जवाहर-लाल जी महाराज का हठात् स्मरण करा देती है। हो सकता है कि परम्परागत धारणाओ के कारण किसी का उनसे मतभेद हो, तथापि ऐसे सज्जनों ने यदि निष्पक्ष भाव से विचार किया, तो उनका समाधान होना कठिन नही है।

आशा है पाठको के विचारो को माँजने मे ये प्रवचन खूब सहायक सिद्ध होगे।

—शोभाचन्द्र भारिल्ल

जैन गुरुकुल, ब्यावर
दिनाक २—४—५२

प्रकाशकीय

'अहिंसा-दर्शन' उपाध्याय श्रीजी के व्यावर-चातुर्मास (वि० २००६) में दिए गए अहिंसा-सम्बन्धी प्रवचनो का सकलन है। इसमे अनेक पहलुओ से अहिंसा की जो विवेचना की गई है, उसमे कितनी मौलिकता, गभीरता और विशदता है, यह बात इस पुस्तक को ध्यानपूर्वक पढने वाले विवेकशील पाठक स्वय समझ सकते हैं। जैन-शास्त्रो मे अहिंसा के सम्बन्ध मे वहुत विस्तृत विवेचना की गई है, किन्तु आज बहुत थोडे ही विद्वान् मिलेगे, जो शास्त्रो का अध्ययन करते हैं। फिर उस विवेचना के अन्तस्तत्त्व को सही रूप मे समझने और प्रतिपादन करने वालो की सख्या तो और भी कम है। उपाध्याय श्री ने शास्त्रो की शब्दावली के सहारे शास्त्रो की आत्मा को स्पर्श किया है और यही कारण है कि उनके द्वारा की हुई विवेचना अपूर्व और मौलिक बन पडी हैं। हमारे इस विचार में कितना तथ्य है, इसका निर्णय विद्वान् पाठक स्वय कर सकते हैं।

'अहिंसा-दर्शन' व्यावर-श्री-सघ की दीर्घदर्शिता का फल है। उपाध्याय श्री के प्रवचनो को लिपिबद्ध कराने की सूझ व्यावर-सघ की ही है। अतएव इसका सारा श्रेय व्यावर-सघ के हिस्से मे जाता है। व्यावर के साहित्य-प्रेमी श्रावको ने इन प्रवचनो को लिपिबद्ध ही नही करवाया, अपनी ओर से इनका सम्पादन भी करवाया है और प्रकाशन के लिये ज्ञानपीठ को उल्लेखनीय सहयोग प्रदान किया है। इस सब के लिए हम व्यावर श्रीसघ के अत्यन्त ही आभारी हैं। उसकी सामयिक सूझ-बूझ की बदौलत ही पाठको को यह सुन्दर साहित्य उपलब्ध हो रहा है।

मत्री, सन्मति ज्ञानपीठ,

आगरा।

ब्यावर-श्रीसघीय

पौष वदि ८ सवत् २००५ की बात है। श्री अ० भा० श्वे० स्था० जैन कान्फरन्स बम्बई के अध्यक्ष तथा अन्य सदस्य सघ-ऐक्य-योजना के प्रति स्थानकवासी सन्त-मुनिराजो और बडे-बडे नगरो के श्रावको का सहयोग प्राप्त करते हुए ब्यावर पधारे। विभिन्न सम्प्रदायो के नाम से बिखरे हुए ब्यावर के स्थानकवासी समाज ने भी इस सघ-ऐक्य के महायज्ञ मे अपनी आहुति प्रदान की। सभी स्थानकवासियो ने एक सघ का निर्माण किया और वे उन प्रगतिशील भावनाओ को मूर्त रूप देने को कटिबद्ध हुए, जो सघ-ऐक्य-योजना मे पूर्ण सहायक हो।

इसी दिशा मे ब्यावर-श्रीसंघ ने उपाध्याय मुनि श्री प्रेमचन्दजी महाराज, पूज्य आनद ऋषिजी महाराज और उपाध्याय मुनि श्री कविरत्न अमरचन्द्रजी महाराज के चातुर्मास करने का निर्णय किया। प्रथम चातुर्मास सवत् २००६ मे पूज्य श्री का हुआ और द्वितीय चातुर्मास सवत् २००७ मे कवि श्री का हुआ।

कवि श्री जी के गभीर, सारभूत एव तत्त्वस्पर्शी व्याख्यानो से प्रेरित एव प्रभावित होकर श्रीसघ के कुछ प्रमुख बन्धु सर्वश्री पन्नालालजी पूनमचन्दजी कांकरिया, देवराजजी सुराणा, और पुखराज जी सिशोदिया ने उन व्याख्यानो को लिपिबद्ध कराने का निर्णय किया।

प० श्री शोभाचन्द्र जी भारिल्ल द्वारा सम्पादन किया जाकर उन व्याख्यानो का कुछ भाग "अहिंसा दर्शन" के रूप मे जनसाधारण के सामने आ रहा है।

कवि श्री ने 'उपासक-दशाग-सूत्र' का अवलम्बन करके व्याख्यान फरमाये थे। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह आदि विषय पर आपके बड़े ही महत्त्वपूर्ण एव युगस्पर्शी प्रवचन हैं। यत्र-तत्र

प्रकाशकीय

'अहिंसा-दर्शन' उपाध्याय श्रीजी के ब्यावर-चातुर्मास (वि० २००९) में दिए गए अहिसा-सम्बन्धी प्रवचनो का सकलन है। इसमे अनेक पहलुओ से अहिसा की जो विवेचना की गई है, उसमे कितनी मौलिकता, गभीरता और विशदता है, यह बात इस पुस्तक को ध्यानपूर्वक पढने वाले विवेकशील पाठक स्वय समझ सकते हैं। जैन-शास्त्रो मे अहिंसा के सम्बन्ध मे बहुत विस्तृत विवेचना की गई है, किन्तु आज बहुत थोडे ही विद्वान् मिलेगे, जो शास्त्रो का अध्ययन करते हैं। फिर उस विवेचना के अन्तस्तत्त्व को सही रूप मे समझने और प्रतिपादन करने वालो की सख्या तो और भी कम है। उपाध्याय श्री ने शास्त्रो की शब्दावली के सहारे शास्त्रो की आत्मा को स्पर्श किया है और यही कारण है कि उनके द्वारा की हुई विवेचना अपूर्व और मौलिक बन पडी हैं। हमारे इस विचार में कितना तथ्य है, इसका निर्णय विद्वान् पाठक स्वय कर सकते हैं।

'अहिसा-दर्शन' ब्यावर-श्री-सघ की दीर्घदर्शिता का फल है। उपाध्याय श्री के प्रवचनो को लिपिबद्ध कराने की सूझ ब्यावर-सघ की ही है। अतएव इसका सारा श्रेय ब्यावर-सघ के हिस्से मे जाता है। ब्यावर के साहित्य-प्रेमी श्रावको ने इन प्रवचनो को लिपिबद्ध ही नही करवाया, अपनी ओर से इनका सम्पादन भी करवाया है और प्रकाशन के लिये ज्ञानपीठ को उल्लेखनीय सहयोग प्रदान किया है। इस सब के लिए हम ब्यावर श्रीसघ के अत्यन्त ही आभारी हैं। उसकी सामयिक सूझ-बूझ की बदौलत ही पाठको को यह सुन्दर साहित्य उपलब्ध हो रहा है।

मत्री, सन्मति ज्ञानपीठ,
आगरा।

ब्यावर-श्रीसंघीय

पौष वदि ८ सवत् २००५ की बात है। श्री अ० भा० श्वे० स्था० जैन कान्फरन्स बम्बई के अध्यक्ष तथा अन्य सदस्य सघ-ऐक्य-योजना के प्रति स्थानकवासी सन्त-मुनिराजो और बडे-बडे नगरो के श्रावको का सहयोग प्राप्त करते हुए ब्यावर पधारे। विभिन्न सम्प्रदायो के नाम से बिखरे हुए ब्यावर के स्थानकवासी समाज ने भी इस सघ-ऐक्य के महायज्ञ मे अपनी आहुति प्रदान की। सभी स्थानकवासियो ने एक सघ का निर्माण किया और वे उन प्रगतिशील भावनाओ को मूर्त रूप देने को कटिबद्ध हुए, जो सघ-ऐक्य-योजना में पूर्ण सहायक हो।

इसी दिशा मे ब्यावर-श्रीसंघ ने उपाध्याय मुनि श्री प्रेमचन्दजी महाराज, पूज्य आनद ऋषिजी महाराज और उपाध्याय मुनि श्री कविरत्न अमरचन्द्रजी महाराज के चातुर्मास करने का निर्णय किया। प्रथम चातुर्मास सवत् २००६ मे पूज्य श्री का हुआ और द्वितीय चातुर्मास सवत् २००७ मे कवि श्री का हुआ।

कवि श्री जी के गभीर, सारभूत एव तत्त्वस्पर्शी व्याख्यानो से प्रेरित एव प्रभावित होकर श्रीसघ के कुछ प्रमुख बन्धु सर्वश्री पन्नालालजी पूनमचन्दजी कांकरिया, देवराजजी सुराणा, और पुखराज जी सिशोदिया ने उन व्याख्यानो को लिपिबद्ध कराने का निर्णय किया।

प० श्री शोभाचन्द्र जी भारिल्ल द्वारा सम्पादन किया जाकर उन व्याख्यानो का कुछ भाग "अहिंसा-दर्शन" के रूप मे जनसाधारण के सामने आ रहा है।

कवि श्री ने 'उपासक-दशाग-सूत्र' का अवलम्बन करके व्याख्यान फरमाये थे। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह आदि विषय पर आपके बडे ही महत्त्वपूर्ण एव युगस्पर्शी प्रवचन हैं। यत्र-तत्र

भारतीय सस्कृति एव जैन सस्कृति के गोरवपूर्ण दृश्य पाठक की आत्मा को सहसा आप्लावित कर देते हैं।

श्री सघ के पास प्रकाशन और प्रचार के साधन सुलभ न होने के कारण प्रकाशन का कार्य 'श्री सन्मति ज्ञानपीठ आगरा' ने स्वीकार किया है, जिसके लिए यह सघ ज्ञानपीठ को धन्यवाद प्रदान करता है।

यह, और आगे प्रकाशित होने वाला उपाध्यायजी महाराज का व्याख्यान-साहित्य उनके ब्यावर-चातुर्मास की अमर स्मृति है। इस वाग्विभूति की उपलब्धि मे उपाध्याय श्री जी का कितना भाग है और किन शब्दो मे उनका आभार माना जा सकता है, यह निर्णय करना कठिन है। हमे कोई उपयुक्त शब्द ही नही मिल रहे हैं।

आशा है इस साहित्य के अध्ययन और मनन से पाठको के विचारो का स्तर कुछ ऊँचा उठेगा और तत्व-शोधन की दिशा मे जनसाधारण की रुचि अग्रसर होगी।

जालमसिह मेडतवाल
मन्त्री
श्र० श्रमणोपासक जैन–श्रीसघ
ब्यावर

चैत्र शुक्ला १
२००९ वि०

अनुक्रमणिका

१ अहिंसा-दर्शन का स्वरूप-दर्शन

२ सामाजिक हिंसा का शोषण चक्र

३ कृषि-उद्योग और अहिंसा-तत्त्व

अहिंसा-दर्शन

'एवं खु नाणिणो सारं, जं न हिंसइ किंचणं ।'
'ज्ञानी होने का सार है, किसी की हिंसा न करना ।'

—तीर्थंकर महावीर

उपाध्याय अमर मुनि

अहिंसा-वाणी

'समः सर्वेषु भूतेषु, मद्-भक्ति लभते पराम् ।'

'जो सब पर सम है, वही मेरा परम भक्त है ।'

—*कर्मयोगी कृष्ण*

'अत्तानं उपमं कत्वा, न हनेय्य न घातये ।'

'सभी को अपने जैसा समझ न किसी को मारे, न मरवाए ।'

—*तथागत बुद्ध*

'अहिंसा सत्य का प्राण है, उसके बिना मनुष्य पशु है ।'

—*महात्मा गांधी*

प्रथम खण्ड

अहिंसा-दर्शन

का

स्वरूप-दर्शन

औरो को हँसते देखो मनु,
हंसो और सुख पाओ ।
अपने सुख को विस्तृत कर लो,
सब को सुखी बनाओ ॥

—प्रसाद

—: १ :—

अहिंसा : एक जीवन-गंगा
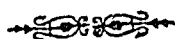
आज आपके सामने अहिसा और उसके महत्त्व की चर्चा चल रही है। अहिसा मानव-जाति के ऊर्ध्वमुखी विराट चिन्तन का सर्वोत्तम विकास-विन्दु है। क्या लौकिक, और क्या लोकोत्तर––दोनो ही प्रकार के मगल–जीवन का मूलाधार 'अहिसा' है। व्यक्ति से परिवार, परिवार से समाज, समाज से राष्ट्र और राष्ट्र से विश्वबन्धुत्व का जो विकास हुआ या हो रहा है, उसके मूल मे अहिसा की ही पवित्र भावना काम करती रही है। मानव–सभ्यता के उच्च आदर्शो का सही-सही मूल्याकन अहिसा के रूप में ही किया जा सकता है। हिसा और विनाशकता, अधिकार-लिप्सा और असहिष्णुता, सत्ता-लोलुपता और स्वार्थान्धता से विषाक्त उत्पीडित ससार मे अहिसा ही सर्वश्रेष्ठ अमृतमय विश्राम-भूमि है, जहाँ पहुँच कर मनुष्य आराम की साँस लेता है। अपने को और दूसरो को समान धरातल पर देखने के लिए अहिसा की निर्मल आँख का होना नितान्त आवश्यक है। यदि अहिसा न हो,

तो मनुष्य न स्वय अपने को पहचाने, और न दूसरो को ही। पशुत्व से ऊपर उठने के लिए अहिसा का अवलम्बन अनिवार्य है।

यही कारण है कि विश्व के सभी धर्मो ने, घूम-फिर कर ही सही, अन्ततोगन्वा अहिसा का ही आश्रय लिया है। मनुष्य के चारो ओर पार्थिव जीवन का मजबूत घेरा पडा हुआ है, उसे तोड कर उच्चतम आध्यात्मिक जीवन के निर्माण के लिए अहिसा के विना गुजारा नही है। कौन ऐसा धर्म है, जो अपने प्रभु से मिलने के लिए और सब कुछ लेकर चले, किन्तु अहिसा को किसी कारणवश छोड दे ? इसीलिए ईसा को भी यह कहना पडा कि—"यदि तू प्रार्थना के लिए धर्म-मन्दिर मे जा रहा है और उस समय तुझे याद आ जाय कि मेरी अमुक व्यक्ति से अनबन या खटपट है, तो तुझे चाहिए कि तू लौट जा और विरोधी से अपने अपराध की क्षमा-याचना कर। अपने अपराधो की क्षमा-याचना किये विना, प्रार्थना करने का तुझे अधिकार नही है।" इतना ही नही, वह यह भी कहता है कि—"यदि कोई तेरे एक गाल पर तमाचा मारे, तो तू दूसरा गाल भी उसके सामने कर दे।" यह है वह अहिसा का स्वर, जो आपकी मान्यता के अनुसार अनार्य देश मे पैदा हुए एक साधक के मुख से भी गूज उठा है।

अहिसा जैन-धर्म का तो प्राण ही है। उसकी छोटी-से-छोटी और बडी-से-बडी प्रत्येक साधना मे अहिसा का जीवन-सगीत चलता रहता है। जैन-धर्म का नाम लेते ही जो

अहिसा की स्मृति सर्वसाधारण को हुआ करती है, वह
भू-मण्डल पर जैन-धर्म के अहिसा-सम्वन्धी महान् प्रतिनिधित्व
का सफल परिचायक है । जैन-धर्म मे आध्यात्मिक जीवन के
निर्माण के लिए किये जाने वाले व्रत-विधान मे पहला स्थान
अहिसा का है । जैन गृहस्थ भी सवसे पहले अहिसा की ही
प्रतिज्ञा लेता है, और जैन साधु भी । यहाँ अल्पता और महत्ता
को लेकर दोनो की अहिसा मे यद्यपि महान् अन्तर है, तथापि
अहिसा की प्राथमिकता मे कोई अन्तर नही है ।

इसका यह अर्थ कदापि नही कि जैन-धर्म अहिसा को
ही महत्व देता है, दूसरे सत्य आदि व्रतो को नही । अपने
यहाँ सभी व्रत महान् है और उपादेय है । किन्तु कहना यह
है कि अन्य सब व्रतो की जड अहिसा है ।

यदि अहिसा है तो सत्य भी टिकेगा, अचौर्य भी टिकेगा और
ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह की भावना भी टिक सकेगी । जीवन
के जितने भी ऊँचे-ऊँचे नियम है, उन सब मे अहिसा
विद्यमान है । * जमीन है, तभी तो यह विशाल महल खडा
हुआ है, और छत है तभी तो आप इस पर वैठे है । आधार
के अभाव मे आधेय कहाँ टिकेगा ? यह सारे ससार का जो
वैभव खडा है, वह भूमि के सहारे ही तो खडा है । इस रूप

*"अहिंसा-गहणे पच महव्वयाणि गहियाणि भवति । सजमो पुण
तीसे चेव अहिंसाए उवग्गहे वट्टइ सपुण्णाय अहिंसाय सजमो वि तस्स
—दशवैकालिकचूर्णि, प्रथम अध्ययन
-वट्टइ ।"

मे अहिंसा हमारी भूमि है। जहाँ अहिंसा है—वही सत्य, करुणा, क्षमा, दया आदि सब कुछ टिक सकेगे। अहिंसा न हो, तो कुछ भी टिकने वाला नही है। इस सम्बन्ध मे एक आचार्य कहते है :—

दयानदी-महातीरे, सर्वे धर्मास्तृणाङ्कुरा: ।
तस्या शोषमुपेताया, कियन्नन्दन्ति ते चिरम् ॥

गगा जैसी महानदी जब बहती है और उसकी विराट धाराएँ जब लहराती हुई चलती है तो उसके किनारो पर घास खडी हो जाती है, हरियाली लहलहाने लगती है, अनेकानेक बडे-बडे वृक्ष भी उग आते है, और यदि निरन्तर पोषण मिले तो ऊँचे-ऊँचे वृक्ष तो क्या, सघन वन भी खडे हो जाते है। पर ऐसा कब और कैसे होता है ? जब पानी की धारा वहाँ तक पहुँचती है। नदी के पानी की धारा प्रत्यक्ष मे उन्हे सीचती तो नजर नही आती, किन्तु उसके जलकण अन्दर ही अन्दर सबको तरी पहुँचाते है, वृक्षो को हरा-भरा करते है, पोषण देते है और वे वृक्ष विस्तार पाते है। यदि नदी सूख जायगी तो हरियाली कब तक ठहरेगी ? वह भी सूख जायगी और समाप्त हो जायगी। निसर्ग का वह सुन्दर और मनोरम विशाल-वैभव नष्ट हो जायगा, स्थिर नही रह सकेगा।

इसी प्रकार दया की महानदी भी यदि हमारे अन्त करण मे बहती रहेगी, वचन मे और काय मे भी उसका सचार होता रहेगा, तो दूसरे व्रत भी आप ही आप पनप उठेगे। अहिंसा एव दया के साधक का मन शुद्ध भावना से परिपूर्ण होकर प्रत्येक प्राणी के लिए करुणा का भडार बन जाता

है । अपनी ओर से किसी को कष्ट देना तो दर-किनार रहा ; दूसरे की ओर से भी यदि किसी पर कष्ट होता हुआ देखता है, तब भी उसका हृदय करुणा से छलछलाने लगता है । मुँह से कुछ भी बोलता है तो अमृत छिड़क देता है । क्या मजाल कि कभी मुँह से गाली निकल जाय ? कड़वी बात तो उसकी जीभ पर कभी आ ही नहीं सकती । जहाँ अहिंसा और करुणा की धाराएँ जीवन के कण-कण में वह रही हो, वहाँ विकार का जहर आएगा कहाँ से ? वहाँ से तो अमृत की ही बूँद टपकेगी । यदि कहीं जहर निकल रहा है, तो समझ लो कि उस स्रोत के मूल मे अमृत की कमी है ।

हाँ, तो साधक की वाणी के ऊपर अहिंसा और दया का झरना वह रहा है । जब वह बोलता है तो ऐसा मालूम पड़ता है कि दुखिया के मन को वाणी द्वारा ढाढस मिलता है । दुखिया उसकी वाणी सुनने के बाद अपना दुःख भूल जाता है । साधक की वाणी लगी हुई चोट मे मरहम का काम करती है । वह अमृत-रस से छलकती हुई वाणी संसार का कल्याण करने के लिए सदैव तैयार रहती है । वह साधक बच्चो से, बूढो से, नौजवानो से, बहिनो से, घर मे और घर से बाहर भी सबसे आदर और प्रेम के साथ बोलता है । साधक को यदि अमीर मिलता है तो उसी भाव से, और यदि झाड़ू देने वाला भंगी सम्मुख आता है, तो उसके साथ भी उसी समान भाव से उसकी वाणी बहेगी । उस वाणी मे दया और प्रेम का सोता बहता है, उससे मानो फूल झड़ते है । इस प्रकार

अहिंसा की वह धारा शरीर से भी बहती है, वाणी से भी बहती है, और मन से भी बहती है। भगवान् महावीर ने कहा है —

'हत्थसजए पायसजए वायसजए मजइ दिए ।'

—दशवैकालिक, १०, १५

अपने हाथो को सयम मे रखो, उन्हे अनुचित कार्य के लिए छूट मत दो । इन हाथो पर तुम्हारा पूरा नियत्रण और पूरा अधिकार होना चाहिए । जब ये हाथ बेकाबू हो जाते है तो अनुचित की ओर बढते है, और स्व-पर के विनाश मे निमित्त बनने लगते है । इसलिए इन्हे सदा काबू मे ही रखो । यदि इन्हे असयत होने दिया तो इनमे शूल चुभेगे और व्यथा होगी, और उस व्यथा से सारे शरीर मे उत्पीडन पैदा हो जायगा । इससे आत्म-हिसा तो होगी ही, साथ ही दूसरे मूक जीवो को, और कीडों-मकोडो को भी ये कुचल डालेगे । वाणी ो भी सयम मे रखो । यदि इसे बे-लगाम होने दिया, तो यह ूसरो के कानो मे शूल हूल देगी और न जाने क्या-क्या अनर्थ पैदा करेगी ! इन्द्रियो को भी सयम मे रखो । यदि इन्हे निरकुश हो जाने दिया, तो समझ लो कि जीवन नौका व्यसनो के प्रवाह मे बहकर एक दिन विनाश के भँवर मे जा गिरेगी, और मानव-जीवन का अनमोल महत्व धूल मे मिल जायगा ।

यह मन, वचन और काय की अहिसा है । जो साधक अहिंसा का व्रत लेगा—वह मन से भी लेगा, वचन से लेगाभी और शरीर से भी लेगा । तभी वह सच्चा साधक कहलाने

योग्य होगा । यह नही होगा कि अन्दर मन मे तो सोच रहा है अहिसा, और मन के वाहर वाणी से ससार मे आग लगाने का दुस्साहस करे । यह कैसी अहिसा, जो वाणी तथा काया से तो वाहर मे हिंसा करे, और ढिढोरा जग मे यह पीटे कि मेरे तो मन मे अहिसा है ? अतएव अहिसा-व्रती साधक के लिए यह परम आवश्यक है कि उसकी अहिसा—मन, वचन और शरीर के रूप मे त्रिपथगामिनी होनी चाहिए। तभी वह अहिसा का सच्चा आराधक माना जायगा ।

कहते है, गगा त्रिपथगा है—त्रिपथगामिनी है, अर्थात्, वह तीन राह से होकर वहती है । पौराणिक ग्रथो मे इसे त्रिपथगामिनी कहा गया है । पुराने टीकाकारो ने इसकी वडी लम्वी-चौडी व्याख्या की है । परन्तु मुझे ऐसा लगता है कि तीर जिस जगह लगना चाहिए था, वहाँ नही लगा है । वे त्रिपथगामिनी का अर्थ करते है कि गगा की एक धारा पाताल लोक मे, दूसरी धारा मर्त्यलोक मे, और तीसरी धारा स्वर्ग-लोक मे वहती है । यह विश्व तीन लोको मे विभाजित है—पाताल, ऊर्ध्व और मध्य । अस्तु, गगा तीनो लोको के कल्याण के लिए वहती है । वेचारे पाताल लोक के निवासी यहाँ कैसे आ सकते है ? तो गगा की एक धारा पौराणिक टीकाकारो ने उनके लिए वही भेज दी । इसी प्रकार ऊर्ध्व-लोक वालो पर दया करके गगा की एक धारा ऊर्ध्वलोक मे भी पहुँचा दी गई है । मध्यलोक मे तो वह है ही, मगर है उसकी तीन धाराओ मे से एक ही धारा ! इसीलिए उसे त्रिपथगामिनी कहा है ।

'त्रिपथगामिनी' विशेषण की यह कैसी शोचनीय छीछा-लेदर की गई है! हमारे पडित स्थूल गगा से चिपट गए, और बस अपनी कल्पना के घोड़े दौडा दिए। खैर, जो भी कुछ हो, किन्तु अहिंसा की यह त्रिपथगामिनी गगा तो वस्तुत. तीनो लोको में बहती है। यह हमारा मानव-जीवन या इन्सानी जिन्दगी तो एक विराट दुनिया है! एक विशाल लोक है! उसके विषय मे ऐसा कहा जाता है—

"यत् पिण्डे, तद् ब्रह्माण्डे।
यद् ब्रह्माण्डे, तत् पिण्डे॥"

अर्थात्—जो पिण्ड में है, वही ब्रह्माण्ड मे है, और जो ब्रह्माण्ड मे है, वही पिण्ड मे है। जो पिण्ड मे मालूम कर लिया गया है, वह ब्रह्माण्ड मे मिल जायगा। कृष्ण के जीवन-चरित्र मे एक अलकार आता है—

कृष्ण-चरित्र के लेखक कहते है—कृष्ण जब बच्चे थे, तो उन्हे मिट्टी खाने की आदत थी। साधारण बच्चे मिट्टी खा ही लिया करते है, पर शुक या सूरदास ने कृष्ण मे भी इस आदत की घोषणा कर दी। हाँ, तो कृष्ण मिट्टी खाते थे और माता उन्हे रोकती थी। एक बार कृष्ण ने देखा कि घर मे मुझे कोई नही देख रहा है, और झट मिट्टी की डली उठाकर मुँह मे डाल ली। अचानक उसी समय यशोदा आ पहुँची और मुँह पकड लिया कि क्या कर रहे हो?

कृष्ण ने बात को हँसी मे उडाते हुए कहा—कुछ नही।

यशोदा ने मुँह खोलने को कहा। कृष्ण ने मुँह खोला तो माता को मुँह मे सारा विश्व दिखलाई दिया। वहाँ चाँद,

सूरज और चमकते हुए तारे दिखाई दिए। वन, पर्वत, सागर और वडे-वडे नगर भी नजर आए। तव यशोदा ने सोचा—यह पुत्र नही, भगवान् है।

यह तो अलकार की वात है, रूपक अलकार है। इसका असली मतलव यह है कि नन्हे से बालक के अन्दर भी विश्व की विराट चेतना छिपी पडी है। उसकी आत्मा के अन्दर भी अनन्त शक्ति का अनन्त स्रोत वह रहा है। इसी प्रकार एक बूढा, जो मौत की शय्या पर पडा जीवन की अतिम घडी गिन रहा है, उसकी आत्मा मे भी अनन्त शक्तियाँ है। यद्यपि यह कहानी काल्पनिक है, तथापि इसके आधार पर भागवतकार वताना चाहता है कि यदि ब्रह्माण्ड मे देखने चलोगे, तो वहाँ क्या मिलेगा ? जो देखना है, वह आत्म-ब्रह्माण्ड मे देखो। यदि गगा को देखना हो, तो अपने अन्त स्थल पर देखो, यदि चाँद और सूरज देखने हो, तो अपने अन्दर ही देखो। अधिक क्या, जो भी महान् विभूतियाँ देखनी हो, वे सब आत्मा के पुनीत पट पर चित्रित है।

हाँ, तो गगा की धारा—अहिसा-गग की धारा है। पुराने टीकाकार भटक गए। वे तीनो लोको मे पानी की धार को तलाश करने लगे। लेकिन अहिंसा-गग की धारा तीन मार्गों पर वहती है। यदि स्थूल गगा मे नहा भी लिए, तो शरीर के ऊपर का मैल भले ही साफ हो जाय, किन्तु ऐसे गगा-स्नान से पाप नही धुल सकते। यदि पापो को धोना है, तो आत्मा मे जो अहिंसा की अमृत-गगा वह रही है, उसी मे स्नान करना होगा। तभी तुम्हारा कल्याण सुनिश्चित है।

अहिंसा की वह अमृत-धारा तीन रूप मे बह रही है। इस सम्बन्ध मे भगवान् महावीर ने कहा है कि "मनुष्य का यह विराट जीवन—मन का लोक, वचन का लोक और शरीर का लोक है।" इस प्रकार मानव जीवन तीन लोको मे विभक्त है, यही त्रिलोकी है। इसी के अन्दर बसने वाले राक्षस बन रहे हैं, पशु बन रहे है और अहिंसा अमृत को पीने वाले देवता भी बन रहे है, और इस तत्व-ज्ञान का पान करने वाले कोई-कोई भगवान् भी बन रहे है। जो व्यक्ति इस त्रिलोकी के अन्दर अहिंसा की गगा नही बहा रहा है, जिसने अहिंसा की ज्ञान-गगा मे स्नान नही किया है और गहरी डुबकियाँ नही लगाई तथा जिसकी आत्मा अहिंसा की धारा मे नही बही है—वह बाहर से इन्सानी चोला भले ही पहने हो, किन्तु अपनी अन्दर की दुनिया मे वह हैवान बन रहा है। उसे न तो अपने आपका पता है, न अपने अमूल्य जीवन का ही पता है। वह वासनाओ मे भटक रहा है, फलत कभी कुछ भी अनर्थ करने को तैयार हो जाता है। इस तरह उसकी जिन्दगी ठोकरे खा रही है, वह जगली और हिंसक जानवरो की तरह बन रही है। वह एक प्रकार से राक्षस की जिन्दगी है।

मानव-जाति के इस विराट जीवन मे न मालूम कितने राम और कितने रावण छिपे पडे है ! वे कही बाहर से नही आते, बल्कि अन्दर ही पैदा होते है। भारतवर्ष के सन्तो ने इस सम्बन्ध मे कहा है कि इस आत्मा को, जो अनादि काल से रावण के रूप मे राक्षस और पशु रहा है, यदि इन्सान बनाना है, देवता बनाना है और भगवान् बनाना है, तो

अहिसा की जो पतित-पावनी ज्ञान-गगा वह रही है, उसमे स्नान कराओ । सव मैल-पाप दूर हो जायगा । अहिसा की ज्ञान-गगा मे कूदो । यदि अभिमान आता होगा तो स्वत नष्ट हो जायगा । मोह, लोभ, माया आदि जो भी विकार तुम्हे तग कर रहे है , और इनका जो मैल मन एव मस्तिष्क पर चढ गया है, वह समूल नष्ट हो जायगा । अन्तर्जीवन मे जो अमृत की धारा वह रही है, यदि उसमे डुवकी लगाओगे, स्नान करोगे—तो समारी आत्मा से महात्मा, और महात्मा से परमात्मा वन जाओगे ।

मनुष्य के भीतर प्राय एक ऐसी मिथ्या धारणा काम करती रहती है कि वह समस्या का समाधान अन्दर तलाश नही करता, वल्कि वाहर खोजता फिरता है । जहाँ जख्म हे वहाँ मरहम नही लगाता, अन्यत्र लगाता हे । यदि चोट हाथ मे लगी है, और दवा पैर मे लगाई गई, तो क्या असर होगा ? यदि सिर दुख रहा है, और हाथो मे चन्दन लगाया, तो क्या सिर का दर्द मिट जाएगा ? रोग जहाँ हो, वही दवा लगानी चाहिए । यदि दाहिने हाथ मे कीचड लगा हे, तो वाएँ हाथ पर पानी डालने से वह कैसे साफ होगा ?

हाँ, तो हमे देखना चाहिए कि काम, क्रोध, मद, लोभ आदि विकारो का मैल कहाँ लगा है ? यदि वह मैल कही शरीर पर लगा है, तब तो किसी तीर्थ मे जाकर धो लिया जाय । पर, वहाँ तक भी जाने की क्या जरूरत है ? यदि कही आस-पास के किसी तालाव या नदी मे डुवकी लगा लोगे, तो भी वह दूर हो जाएगा । जैन-धर्म दृढता पूर्वक कहता है कि

वह मैल आत्मा पर लगा है। अत दुनिया भर के तीर्थों मे क्यो भटकते हो ? सबसे बडा तीर्थ तो तुम्हारी अपनी आत्मा ही है। क्योकि उसी मे तो अहिसा और प्रेम की निर्मल धाराएँ बहती है। उसी मे डुबकी लगाओ तो पूर्णत शुद्ध हो जाओगे। जहाँ अशुद्धि है, वहाँ की ही तो शुद्धि करनी है। जैन-दर्शन बडा आध्यात्मिक दर्शन है, और वह इतना ऊँचा भी है कि मनुष्य को मनुष्यत्व के अन्दर बन्द करता है। मनुष्य की दृष्टि मनुष्य मे डालता है। अपनी महानता अपने ही अन्दर तलाश करने को कहता है। क्या तुम अपना कल्याण करना चाहते हो ? तुम पूछते हो कि कल्याण तो करना चाहते है, पर कहाँ करे ? तो जैन-धर्म का उत्तर साफ है कि—जहाँ तुम हो, वही पर ! बाहर किसी गगा मे, या और किसी नदी या पहाड मे नही। आत्म-कल्याण के लिए, जीवन-शुद्धि के लिए या अपने अन्दर मे सोए हुए भगवान् को जगाने के लिए एक इन्च भी इधर-उधर जाने की जरूरत नही है। तू जहाँ है, वही जाग जा ! और आत्मा का कल्याण कर ले।

एक बार एक अजैन विद्वान् ने परिहास मे कहा—आपके यहाँ ४५ लाख योजन का मोक्ष माना गया है। कितना बडा विस्तार है ? आप एक ओर तो बडी-बडी दार्शनिक चर्चाएँ करते है, और दूसरी ओर मोक्ष को इतना लम्बा-चौडा मानते है कि जिसकी कोई हद नही। क्या यह गप नही है ?

मैने कहा—इतना तो मानना ही है। इतने बडे की जरूरत भी तो है। हमने मोक्ष को इन्सान के लिए माना है, और जहाँ इन्सान है, वहाँ मोक्ष भी है। यदि इन्सान का

कदम भू-मडल पर ४५ लाख योजन तक है, तो ऊपर मोक्ष भी ४५ लाख योजन लम्बा-चौडा है। मोक्ष तो इन्सान को ही मिलता है। जब इन्सान आत्म-शुद्धि कर लेगा, तो सीधा मोक्ष मे पहुँच जायगा। उसे एक इञ्च भी इधर-उधर नही होना पडेगा। अतएव जहाँ हो, वही वैठ जाओ। जहाँ हो, वही आत्म-गगा मे डुबकी लगा लो! क्योकि वहाँ अमृत की धारा वह रही है। जीवन-यात्रा मे सयम और साधना की ओर जितना अधिक-से-अधिक अग्रसर होगे, उतने ही मोक्ष के निकट होते जाओगे। मैल धोकर निर्मल होते जाओगे और धुलते-धुलते, जब मैल का आखिरी कण भी धुल जायगा तो वही के वही मोक्ष पा लोगे।

यह सुनकर वह विद्वान् हँसे और वोले—मोक्ष-सिद्धि के लिए वडे गजब का रूपक खोजा है!

मैंने कहा—यह वनावट नही है, सार्वभौमिक सत्य ऐसा ही है।

आप ही कहिए, मोक्ष किसको मिलेगा? क्या ऊँट, घोडे या राक्षस को मिलेगा? नही! वह तो केवल मनुष्य को ही मिलेगा। अत जहाँ मनुष्य है, वही मोक्ष होना चाहिए।

हाँ, तो जैन-धर्म अपने आप मे इतना विराट है कि वह गगा को अपने ही अन्दर देखता है, कही अन्यत्र जाने को नही कहता। सव से वडी गगा उसके भीतर वह रही है, और वह तीन मार्गों पर वहती है। अर्थात्—वह मन के लोक मे, वचन के लोक मे, और कर्म के लोक मे वह रही है। परन्तु उस

गगा मे तभी डुबकी लगेगी, जब आप लगाएँगे। यदि हजारो तीर्थो मे स्नान कर भी आये, किन्तु अन्दर की गगा मे स्नान नही किया, तो सब बेकार होगा।

हमारे भारतीय लोक-साहित्य मे एक रूपक कथा प्रचलित है। जब महाभारत का युद्ध खत्म हुआ, अठारह अक्षौहिणी सेना का सहार हुआ, निस्सकोच नर-सहार हुआ और भाई ने भाई की गर्दन पर तलवार चलाई। तब उस भीषण रक्तपात के बाद युधिष्ठिर के मन मे यह शका उत्पन्न हुई कि हमने बहुत पाप किये है। इतने पाप कैसे धुलेगे ? उनकी आत्मा मे व्यथा होने लगी। गम्भीरता से सोचने लगे—प्रायश्चित्त के लिए क्या उपाय करूँ, क्या न करूँ ? युधिष्ठिर सात्विक मन वाले साधु-पुरुष थे। काम तो कर ही गुजरे, पर पश्चात्ताप उन्हे परेशान करने लगा। तब उन्होने श्रीकृष्ण से कहा—भगवन्, हमने बहुत पाप किये है। उन्हे धो डालने के लिए ६८ तीर्थो मे स्नान करना आवश्यक है। मैं अपने पापो को धोने के लिए तीर्थो मे जाना चाहता हूँ। आपकी क्या राय है ?

श्रीकृष्ण ने सोचा—युधिष्ठिर स्थूल बन रहे है। मरहम कहाँ लगाना है, और लगाना कहाँ चाहते है ? मैल कहाँ है, और धोने कहाँ जा रहे है ? अभी सूक्ष्म दर्शन की बात कहूँगा तो इनके मन की समस्या हल नही होगी और इनका मन कभी नही बदलेगा। जब मन न बदला, तो किसी बोलते को बन्द कर देने का फल भी क्या निकलेगा ? किसी को चुप कर देना और बात है, किन्तु मन को बदल देना और बात है।

तो श्रीकृष्ण ने युधिष्ठिर से कहा---पापो को तो धोना ही चाहिए ! जव तुम्हारे जेसे साधु-पुरुप नही धोएँगे, तो और कौन धोएगा ?

युधिष्ठिर---अच्छा, महाराज ! आज्ञा हो , जाता हूँ ।

श्रीकृष्ण बोले---ठीक है ! तुम तो जा ही रहे हो, परन्तु हम तो काम-काज की दलदल मे फँसे है । हम कैसे जाएँ ? किन्तु हमारी यह प्यारी तूँबी है, इसे ही लेते जाओ । इसे भी स्नान कराते लाना ।

युधिष्ठिर को श्रीकृष्ण की तूँवी स्नान कराने के लिए मिली, तो मानो कृष्ण ही मिल गए । बोले---महाराज, इसे जरूर स्नान कराऊँगा, और सबसे पहले कराऊँगा ।

श्रीकृष्ण ने कहा---देखो, भूल मत जाना ।

युधिष्ठिर बोले---महाराज, यह तूँवी निरी तूँवी नही है , यह तो आप ही है । अत इसे सब से पहले, और सभी तीर्थो मे जरूर स्नान कराऊँगा ।

बेचारे युधिष्ठिर सब तीर्थो की यात्रा करने गए और भटक-भटक कर स्नान किया, और वापिस भी आ गए । श्रीकृष्ण का दरवार लगा हुआ था । वे सिंहासन पर विराजमान थे । तब सारी सभा के बीच युधिष्ठिर आदि आकर बैठ गए ।

श्रीकृष्ण युधिष्ठिर की ओर दृष्टिपात कर बोले---स्नान कर आए धर्मराज !

युधिष्ठिर---हाँ, महाराज ! गगा, यमुना आदि सब तीर्थो मे स्नान कर आए ।

श्रीकृष्ण---पाप धो आए ! कही लगा तो नही रहा ?

युधिष्ठिर---आपकी कृपा से सब पाप धुल गए। जब इसी काम के लिए गया था, फिर बचाकर क्यो लाता ?

श्रीकृष्ण---ठीक ! हमारी तूँबी को भी स्नान कराया या नही ?

युधि०---महाराज ! आपकी तुँबी को कैसे न कराते ? सब तीर्थो मे उसे पहले स्नान कराया, और बाद मे हमने किया।

अब श्रीकृष्ण ने अपनी तूँबी को हाथ मे लेकर कहा---हमारी तूँबी ६८ तीर्थो मे स्नान करके आई है। अब यह पवित्र हो गई है। तुम सभी सभासद् तीर्थ-स्नान करने नही गए हो, अत इसे पीस कर चूर्ण बनालो, और थोडा-थोडा चूर्ण सभी लोग खा लो। तुम सब भी पवित्र हो जाओगे।

चूर्ण तैयार हो गया और सबको थोडा-थोड़ा बॉट दिया गया। क्योकि कृष्ण महाराज की आज्ञा थी, इसलिए सभी ने थोडा-थोडा चूर्ण अपने मुँह मे डाला। पर, वह तो कड़वा जहर था। सब के रग-रूप बदल गए। मुख विषण्ण, नाक-भौह बुरी तरह तनकर रह गए। बहुतो को तो उलटी भी हो गई। कोई-कोई बाहर जाकर थू-थू करके थूक भी आए।

सभा की यह बदली रगत देखकर श्रीकृष्ण ने कहा---यह क्या कर रहे हो ? तूँबी इतनी पवित्र होकर आई है, और तुम इसका अपमान कर रहे हो ? इसे तो बडे प्रेम से और गहरा श्रद्धा से ग्रहण करना चाहिए था !

सब ने कहा---महाराज ! बात तो ठीक है, मगर तूँबी कडवी बहुत है। निगली ही नही जाती।

श्रीकृष्ण बोले—तुम सब झूठ बोलते हो। इसका कड़वापन तो गंगा मैया मे ही निकल गया। फिर भी यह कडवी कैसे रह गई ? क्यो युधिष्ठिर, तुमने कहा था कि इसे सब तीर्थो मे स्नान करा दिया है ? फिर यह कडवी कैसे रह गई ?

इस दृश्य को देखकर युधिष्ठिर सोच-विचार मे पड गए। मन ही मन कहने लगे—श्रीकृष्ण तो इतने बडे दार्शनिक और विचारक है, फिर भी कहते क्या है कि इसका कडवापन निकल गया होगा! फिर वह बोले—'महाराज, इसको अनेक बार डुबकियाँ लगवाई है। कडवेपन के लिए तो बात यह है कि वह इसके बाहर नही लगा है। वह कडवापन तो भीतर है, और इसकी रग-रग मे समाया हुआ है। भला, वह कैसे दूर हो सकता है ?

श्रीकृष्ण—अच्छा यह बात है! कडवापन बाहर नहीं था इसके भीतर था ?

युधि०—जी हाँ महाराज! वह इसके भीतर था और तीर्थ-स्नान का पानी भीतर नही जा सकता था। वह बाहर ही बाहर रहा।

श्रीकृष्ण—युधिष्ठिर, अब यह तो बताओ कि तुम्हे पाप भीतर लगा था या बाहर ही बाहर लगा था ? पाप शरीर के बाहर लगता है या आत्मा मे लगता है ? और तुमने गंगा मे किसको स्नान कराया—शरीर को या आत्मा को ? तूँबी का कडवापन बाहर से स्नान कराने पर नही गया, क्योकि वह अन्दर था। इसी प्रकार तुम्हारे कर्मो का, तुम्हारी वासनाओ का, और तुम्हारी सम्पूर्ण बुराइयो का मैल तो

आत्मा मे लगा हुआ था। जब पाप-दोष आत्मा मे लगा हुआ था, तो क्या तुमने आत्मा को बाहर निकाल कर तीर्थ-जल मे धोने का प्रयत्न किया ?

युधि०—महाराज, आत्मा को कैसे धोते ? हम तो शरीर को ही धो आए है।

श्रीकृष्ण—युधिष्ठिर, देखो ! जहाँ तुम्हे स्नान करना था, वहाँ नही किया। शरीर के स्नान के लिए क्यो इधर-उधर भटकते फिरे ? वह तो यहाँ भी कर सकते थे। आत्म-शुद्धि के लिए वाह्य स्नान उपयुक्त नही, उसके लिए अन्त स्नान होना चाहिए।

आत्मा नदी सयम-तोयपूर्णा ।
सत्यावहा शील तटा दयोर्मि ॥
तत्राभिषेक कुरु पाण्डुपुत्र !
न वारिणा शुद्धयति चान्तरात्मा ॥

यह आत्मा नदी है। इसमे सयम का जल भरा है। दया की तरगे उठ रही है। सत्य का प्रवाह बह रहा है। इसके ब्रह्मचर्य्य रूपी तट बडे बजबूत है। इसी मे तुम्हे स्नान करना चाहिए। अहिसा और सत्य की गगा मे स्नान करने से ही आत्मा की शुद्धि होती है। शरीर पर पानी डाल लेने से केवल शरीर की सफाई हो सकती है, परन्तु आत्मा कदापि स्वच्छ नही हो सकती।

जो बात वहाँ पर पाण्डवो के लिए कही गई है, वही समस्त साधको के लिए समान है। इसे हल करना चाहिए। पर हल कहाँ करना चाहते हो ? क्या गली के नुक्कड पर

वैठकर हल करना है ? या जगलो मे भटक कर ? नही, वह हल तो जीवन के अन्दर ही मिल सकता है। शुद्धि की साधना भी अन्दर है और मूल शुद्धि भी अन्दर ही होती है। सब से बडा इष्ट देव अन्दर ही वैठा है। दुनिया भर के देवता कही पर हो, किन्तु सबसे बडा आत्म-देव तो अन्दर ही मौजूद है। इसी इष्ट देवता की उपासना मे तल्लीन होकर, जव तक अन्दर का पाप नही धोओगे, तव तक वाहर के देवताओ से कुछ भी लाभ प्राप्त नही होगा।

हाँ, तो सवसे वडी गगा हमारे ही अन्दर बह रही है। अहिंसा और सत्य की गगा हमारी नस-नस मे प्रवाहित हो रही है। यदि अहिंसा की उस गगा मे स्नान नही करोगे, तो जीवन की पवित्रता कभी मिलने वाली नही। आप जैन-धर्म को देखे, बोद्ध-धर्म को देखे, वैदिक धर्म को देखे या ससार के किसी और धर्म को देखे, देश-काल और परि-स्थितियो के प्रभाव से कुछ गलतफहमियाँ मिल सकती है, किन्तु अहिंसा की आवाज सभी धर्मो मे एक-सी सुनाई देगी। सव का स्वर एक ही निकलेगा—अहिंसा से ही कल्याण हो सकेगा। इस सम्बन्ध मे हमारे यहाँ कहा है —

दयानदी-महातीरे सर्वे धर्मास्तृणाकुरा।

जब नदी बहती है तब तो किनारो पर, आसपास हरियाली छा जाती है, और जव वह नदी सूख जाती है तो आसपास की हरियाली भी सूख जाती है। इसी प्रकार हमारे मन, वचन और शरीर मे से भी यदि अहिंसा की धारा बह रही है—तो सत्य भी फला-फूला रहेगा, अस्तेय

भी, ब्रह्मचर्य्य भी, श्रावकपन और साधुपन भी हरा-भरा रहेगा। यदि अहिंसा की नदी सूख गई और उसका प्रवाह बन्द हो गया तो—सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य्य और अपरिग्रह आदि सभी धर्म सूख जाएँगे। न श्रावकपन रहेगा, न साधुपन बचेगा। यदि इन सब धर्मो को हरा-भरा और जीवन को सुन्दर एव सौरभमय देखना है, तो अहिंसा की त्रिपथगामिनी दिव्य गगा को मन, वचन एव कर्म के पथ पर अविश्रान्त गति से बहने दो।

३०—८—५०

—: २ :—

अहिंसा की कसौटी
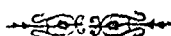
चाहे जैन-धर्म हो, चाहे और कोई धर्म हो। यदि गहराई के साथ उसका अध्ययन, मनन और चिन्तन किया जाए तो एक बात स्पष्ट विदित हो जायगी कि—प्रत्येक धर्म का प्राण या हृदय अहिंसा ही है।

हमारा शरीर कितना ही बलवान क्यो न हो, मजबूत क्यो न हो और लम्बा-चौडा भी क्यो न हो। जब तक उसमे हृदय अपना काम करता रहता है, अर्थात् हृदय धक-धक करता रहता है, तभी तक यह शरीर चलता है और इसका एक-एक अग हरकत करता है। तभी तक हमारा शरीर क्रियाशील है और उस पर हमारा अधिकार रहता है। किन्तु ज्यो ही हृदय की गति मे जरा भी गडबड हुई, हृदय का स्पन्दन जरा-सी देर के लिए भी रुका कि यह भारी भरकम शरीर सहसा बेकार हो जाता है। चलता-फिरता सडक पर ही लुढक जाता है।

यद्यपि हृदय, शरीर मे छोटी-सी जगह रखता है, फिर भी सारे शरीर का उत्तरदायित्व, सम्पूर्ण-प्राणशक्ति, उसी मे केन्द्रित है। यदि हृदय धक-धक करता रहेगा और रक्त को ठीक-ठीक फैकता रहेगा, तो प्राणो की झकार रहेगी, शरीर चैतन्य रहेगा। यदि हृदय गुम हो जाय, उसकी हरकत बन्द हो जाय, वह काम करना छोड दे—तो क्या फिर शरीर स्थिर रह सकेगा ? कदापि नही, क्रियाशील शरीर के स्थान पर निष्क्रिय लाश-मात्र रह जायगी। शरीर तभी तक रहता है जब तक आत्मा उसमे स्थिर-है। आत्मा के निकल जाने के बाद शरीर, शरीर नही रहता।

आगामो की परिभाषा मे भी वह शरीर नही कहलाता। आगमकार एक-एक इच नाप कर चलते है और जिनके पद-चिन्हो को देखकर आज हम चलते है, वे यही कहते है कि जब तक शरीर मे आत्मा है, तभी तक शरीर, शरीर है। जब आत्मा निकल जाती है, तो वह मिट्टी का ढेर है। भूत-काल के दृष्टिकोण से भले ही स्थूल भाषा मे उसे शरीर कहते रहे। हाँ, तो जो बात इस शरीर के सम्बन्ध मे हम देखते है और सोचते है, वही धर्म के सम्बन्ध मे भी है। कोई धर्म कितना ही ऊँचा क्यो न हो, उसका क्रियाकाण्ड कितना ही उग्र और घोर क्यो न हो, उसकी तपस्या कितनी ही तीव्र क्यो न हो, और ऐसा भी क्यो न जान पडता हो कि दुनिया की समस्त साधनाओ का गहन बोझ उस धर्म या व्यक्ति ने अपने ऊपर लाद लिया है, किन्तु जब तक उसमे अहिंसा की भावना विद्यमान रहेगी, जीवो के प्रति दया का झरना बहता रहेगा,

पीडितो के लिए सवेदना स्पन्दित रहेगी , तभी तक वह धर्म, वह क्रियाकाण्ड, वह तप और वह परोपकार धर्म की कोटि मे गिना जायगा। तभी तक सत्य भी धर्म है, नवकारसी मे लेकर छ महीने तक की तपस्या आदि क्रियाकाण्ड भी धर्म है। यदि उसमे से अहिंसा निकल जाय तो फिर वह धर्म नही रहेगा, धर्म का निर्जीव-शवमात्र रहेगा, अथवा वहाँ एक प्रकार से अधर्म ही होगा। अहिंसा मूल मे रहनी चाहिए, फिर चाहे वह थोडी हो या ज्यादा, न्यूनाधिक की बात यहाँ नही है। यहाँ तो यह बात है कि अहिंसा का जरा भी अश न रहे तो फिर वहाँ धर्म नही रह सकता।

हमारा जीवन धर्ममय और विराट तब ही बनता है, जब अहिंसा की भावनाएँ उसमे लहराती हो, दूसरो पर अन्त करण मे करुणा की अजस्र वर्षा होती हो, और अपने जीवन के साथ दूसरो के जीवन को भी देखकर चला जाता हो। जिस प्रकार मुझे जीने का हक है, उसी प्रकार दूसरो को भी जीने का हक है। जहाँ "जीओ और जीने दो" यह महा-मत्र जीवन के कण-कण मे गूँजता हो, हृदय से मेल रखते हुए चलता हो , तो समझ लो कि वहाँ सच्ची अहिंसा है। जहाँ यह अहिंसा रहेगी, वही पर धर्म रहेगा। इस अहिंसा के अभाव मे धर्म टिक नही सकता। इसी महासत्य की ओर सकेत करते हुए भगवान् महावीर ने प्रश्नव्याकरणसूत्र के सवरद्वार मे, जहाँ अहिंसा का वर्णन किया है, उसे 'भगवती' कहा है।❀

❀ "एसा सा भगवती अहिंसा जा सा भीयाण विव सरण०।'

अहिसा को भगवती का जो रूपक दिया गया है वह अर्थहीन नही है। अहिसा वस्तुत. भगवत्स्वरूप है, पूज्य है। जितनी श्रद्धा तुम भगवान् के प्रति करते हो, जितना प्रेम और जितना स्नेह तुम्हारा भगवान् के प्रति होता है, उतना ही स्नेह और श्रद्धा साधक के मन मे अहिसा के प्रति भी होनी चाहिए है। अहिसा हमारे लिए पूजा की चीज है और श्रद्धा का केन्द्र है।

अव प्रश्न उठता है कि भगवान् के दर्शन कब होगे ? उत्तर सीधा है—जब अहिसा के दर्शन कर लोगे, तभी भगवान् के दर्शन होगे। अहिसा के दर्शन किये नही, अहिसा की झाकी देखी नही, अपितु आप उसे ठुकराते चले, उसकी ओर से पीठ मोडकर चले, तो भगवान् के दर्शन कैसे होगे !

सवसे बडे भगवान् तो अन्दर बैठे है और उनके ऊपर विकार-वासनाओ का पर्दा पडा है। आत्म-देव, जो सबसे बडे भगवान् है, अन्दर ही तो बैठे है, इसी शरीर के अन्दर तो विराजमान है ! किन्तु दुर्भाग्य से, अनादि काल से हिसा का पर्दा पडा हुआ है, काला लवादा पहिन रखा है और वह पर्दा नख से शिख तक पडा हुआ है। फिर आत्म-देव के दर्शन हो तो कैसे हो ? यदि उस आत्म-देव के दर्शन करना है तो हिसा के काले पर्दे को उतारना होगा। जितने अशो मे वह कम होता जायगा, उतने ही अशो मे आत्मा के दर्शन होते जाएँगे और उतने ही अशो मे फिर भगवान् का भी साक्षात्कार होता चला जायगा। श्रावक बने हो, किन्तु श्रावक के रूप मे पूरी

अहिसा नही पाल सके और हिसा का पूरा पर्दा नही उतार सके, तो भी जितना वन सके उतना ही उतारो ।

अहिंसा भगवती की पूजा के लिए कही भी भटकने की आवश्यकता नही । किसी खास समय की जरूरत नही । दुकान मे वैठे हो तव भी उसकी पूजा करो, घर मे भी उसी को सामने रखो । आँखो से जरा-सी देर के लिए भी ओझल न होने दो । जीवन के प्रत्येक क्षण मे और प्रत्येक व्यापार मे अहिसा की प्रतिष्ठा करो । अपनी मनोवृत्तियो को, अपने कर्मो को, अहिसा की तराजू पर ही तोलो । अहिसा के प्रति गहरी और आग्रह-भरी भावना चित्त मे उत्पन्न करो । इस प्रकार हर जगह और हर समय उसकी पूजा होनी चाहिए । आचार्य समन्तभद्र, जो जैन-जगत् मे एक वहुत वडे दार्शनिक हो चुके है और जिनकी विचारधाराएँ गम्भीर रूप मे हमारे सामने आज भी मौजूद है, वे जब भी वोले, आत्मा की झाँकी खोलकर वोले । अहिंसा के सम्वन्ध मे उनका एक वडा ही हृदय-स्पर्शी वोल है —

> अहिंसा भूताना जगति विदित ब्रह्म परमम् ।
>
> —बृहत्स्वयम्भू स्तोत्र

वह परमब्रह्म, परमेश्वर, परमात्मा कौन है ? कहाँ है ? और किस रूप मे है ? इस प्रश्नावली के उत्तर मे आचार्य कहते है—इस ससार के प्राणियो के लिए, साधारण प्राणियो के लिए, और जो भी विशिष्ट साधक है उनके लिए भी साक्षात् परमब्रह्म तो अहिसा है । यदि उसकी उपासना नही कर सके, सेवा नही कर सके तो जिस भगवान् की उपासना या सेवा करने

के लिए जो तुम चले हो, वह अविवेक हो सकता है, भ्रान्ति हो सकती है किन्तु सच्ची उपासना एव सेवा कदापि नही हो सकती।

अहिसा को जब भगवान् कहा है तो वह अपने आप मे स्वत अनन्त हो गई, क्योकि जो भगवान् होता है वह अनन्त होता है। जिसका अन्त आ गया, वह भगवान् कैसा ? जिसकी सीमा बँध गई हो, वह और कुछ भले ही हो, किन्तु भगवान् कदापि नही हो सकता। आत्मा मे अनन्त गुण है। भगवान् होने के लिए उनमे से प्रत्येक गुण को भी अपने असली रूप मे अनन्त होना चाहिए। आत्मा मे एक विशेष गुण ज्ञान है। जब यह ज्ञान गुण अनन्त और असीम बन जाता है, तभी भगवान् बना जा सकता है। इसी प्रकार जब चरित्र मे अनन्तता आ जाती है, दर्शन गुण, वीर्य और दूसरे प्रत्येक गुण जब अनन्त बन जाते है, तब साधक को भगवत्स्वरूप की प्राप्ति होती है। अहिसा जब भगवान् है, परम ब्रह्म है तो अनन्त है, और जब अनन्त है तो उसको पूरी व्याख्या हम जैसे साधारण जीव न तो जान सकते है और न कह ही सकते है। केवलज्ञानी भी अहिसा के पूर्ण रूप को जानते तो है, किन्तु वाणी के द्वारा पूर्णत व्यक्त वे भी नही कर सकते। इस भू-मण्डल पर अनन्त-अनन्त तीर्थंकर अवतरित हो चुके है किन्तु अहिसा का परिपूर्ण रूप जानते हुए भी किसी के द्वारा वर्णन नही किया जा सका, तो फिर मुझ जैसे को तो कहना आ ही कहाँ सकता है ? हम तो अहिसा को अच्छी तरह पहिचान भी नही पाए है, उसके अनन्त रूप की झाँकी देख भी कहाँ पाए है ?

फिर भी अहिंसा की विराट झांकी हमारे सामने आई है और वह इतनी बडी झांकी है कि संभव है, दूसरो के सामने न आई हो। साथ ही वह झांकी इतनी विशाल और विस्तृत है कि उसका नेत्रो से ओझल होना असम्भव है, अत. अहिंसा हमारे लिए बडी से बडी अलौकिक विभूति है। हम जब पढते है और शास्त्रो की बाते करते है तो जान पडता है कि बडी बारीकी मे घूमकर चले गए। मगर जिन्होने उसे पहिचाना है और कहा भी है, वे बतलाते है कि यह तो अनन्तवाँ भाग ही कहा गया है ? महा समुद्र मे से केवल एक ही बूँद बाहर फेंकी गई है ? यह अनन्तवाँ भाग और एक बूँद जो भी शास्त्रो मे आई है, बडे विस्तार मे है। वह पूरा पढा भी नही गया और समझा भी नही गया, किन्तु जो कुछ भी थोडा-सा पढा और समझा गया है, वह भी आपको पूर्णत समझाया नही जा सकता। फिर भी जो कुछ समझाया जा रहा है वह भी बहुत बडी बात है और उसे आपको धैर्य के साथ समझना है।

उस विराट अहिंसा का दिव्य स्वरूप आपको समझना है और यह भी तय करना है कि आपको मानव बनना है या दानव ? जब मनुष्य के सामने मानवता और दानवता मे से किसी एक को चुन लेने का सवाल उपस्थित होता है तो उसी क्षण अहिंसा सामने आकर खडी हो जाती है। परन्तु अनन्त-अनन्त काल से यह संकल्प हमारे मन मे उत्पन्न नही हुआ। अनादि काल से प्राणी मानवता के सत्-मार्ग को छोडकर दानवता के कुपथ पर भटक रहा है, और कही-कही

तो दानवता के आवेश मे इतनी वीभत्स हिसा भी कर चुका है कि जमीन को निरीह प्राणियो के खून से तर कर दिया। फिर भी उसे इस सकल्प की याद नही आई कि—मै मानव बनू या दानव ? इस गति से यह जीव एक दिन उस अवस्था मे भी पड गया कि बाहर से जरा भी हिसा नही की, उस एकेन्द्रिय और निगोद दशा मे कि जहाँ अपना रक्षण करना भी उसके लिए मुश्किल हो गया। वहाँ तो यह सकल्प आता ही कैसे कि मुझे मानव वनना है या दानव , राक्षस बनना है या इन्सान।

ससार चक्र मे भटकता हुआ यह प्राणी किस गति और किस स्थिति मे नही रहा है ? इस असीम ससार मे जितनी भी गतियाँ, स्थितियाँ तथा योनियाँ है, उन सब मे एक-एक बार नही, अनन्त-अनन्त बार यह गया और आज भी जा रहा है।* किन्तु किसी भी स्थिति मे यह सकल्प नही जगा कि मुझे वनना क्या है—मानव या दानव ? जिस दिन आत्मा के सामने यह प्रश्न खडा होता है कि मुझे क्या बनना है, उसी समय अहिसा सामने आती है और कहती है—यदि तुझे इन्सान बनना है तो मुझे स्वीकार कर, मेरा अनुसरण कर, मेरे चरणो की पूजा कर, और मेरे चरणो पर अपना जीवन उत्सर्ग कर।

अपनी जिन्दगी को यदि इन्सानियत के आदर्श साँचे मे ढालना है और मानवता के महान् स्वरूप को प्राप्त करना है तो समझ लो कि अहिसा के बिना प्राणी, मानव नही बन

* देखिये, भगवती सूत्र १२, ७ ४५७।

सकता। इस मिट्टी के ढेर को अनन्त-अनन्त बार ग्रहण किया और छोड दिया। इस प्रकार के ग्रहण करने और छोड देने से मानवता नही आती। जब मन मे अहिसा की ज्योति जाग्रत होगी, प्रेम का स्रोत प्रवाहित होगा, अपने ही समान दूसरो की जिन्दगी को समझने की विश्व-चेतना जागेगी, अखिल विश्व मे इन्सानियत का पवित्र भाव भरेगा—तभी सच्चे अर्थो मे इन्सानियत आयगी और जितना-जितना अहिसा का विराट रूप निकट आता जायगा, जीवन मे उतरता जायगा—उतनी ही तेरे भीतर भगवत्-चेतना जागेगी, तभी यह दुष्कर्म और पाप, जो तुझे सब ओर से घेरे खडे है, तुरन्त भाग खडे होगे। अरे मानव, जब भी कभी तुझे कठिनाई अनुभव हो कि मै क्या करूँ, तब भगवान् महावीर की अहिंसा की यह व्याख्या तुझे सीधा रास्ता दिखलाएगी —

> सव्वभूयप्पभूअस्स, सम्म भूयाइ पासओ।
> पिहिआसवस्स दतस्स, पावकम्म न बधइ॥
>
> —दशवैकालिक सूत्र ४, ९

ससार भर के प्राणियो को अपनी आत्मा के समान समझो। यही अहिसा की व्याख्या है, यही अहिसा का भाष्य और महाभाष्य है, और यही अहिसा की महान् कसोटी है। जिस दिन और जिस घडी, तू अपने आप मे जो जीने का अधिकार लेकर बैठा है वही जीने का अधिकार सहज भाव से दूसरो के लिए भी देगा, तेरे अन्दर दूसरो के जीवन की परवाह करने की मानवता जागेगी, दूसरो की जिन्दगी को

अपनी जिन्दगी के समान देखेगा और ससार के सव प्राणी तेरी भावना मे, तेरी अपनी आत्मा के समान बनने लगेगे और सारे ससार को समभाव से देखने लगेगा—ज्ञान और विवेक की दिव्य दृष्टि से देखेगा कि यह सव प्राणी मेरे ही समान है, मुझ मे और इनमे कोई मौलिक अन्तर नही है, जो चीज मुझे प्रिय है, वही दूसरो को भी प्रिय होगी। बस, तभी समझना कि मेरे अन्दर अहिसा है।

जब तक तेरा यह हाल है कि—'मेरे लगो सो तो दिल मे, और दूसरो के लगी सो दीवार मे। यानी चोट लगने पर जैसा दर्द मुझे होता है वैसा दूसरो को नही होता, तब तक अहिमा नही आ मकती। निश्चय समझ ले कि जब तेरे मन को, तेरी भावना को चोट लगती है और तव तू दर्द से घबराने लगता है तो दूसरो को भी वैसी ही पीडा होती है। इस प्रकार दूसरो के दर्द की अनुभूति जब तेरे हृदय मे अपने दर्द की तरह होने लगे तो समझ लेना कि अहिसा भगवती तेरे भीतर आ विराजी है। इस सम्बन्ध मे भगवान् महावीर ने कहा है —

> मव्वे जीवा वि इच्छति, जीविउ न मरिज्जिउ ।
> तम्हा पाणिवह घोर, निग्गथा वज्जयति ण ॥

—दशवैकालिक ६, ११

एक वार भगवान् से एक शिष्य ने पूछा, "प्रभो! आपने हिसा क्यो छोडी और अहिसा के पथ पर क्यो आए? भते! अनेक कष्ट और पीडाएँ सहन करते हुए भी इस दुर्गम मार्ग पर ही क्यो चल रहे है?"

तब भगवान् ने सीधा-सादा और सहज ही समझ मे आ जाने वाला किन्तु प्रभावशाली उत्तर दिया—"आयुष्मन् ! सब जीव जीना चाहते है ! कोई मरना नही चाहता । सभी को अपने जीवन के प्रति आदर और आकाक्षा है । सभी अपने सुख-सुविधा के लिए सतत प्रयत्नशील है, अपने अस्तित्व के लिए सघर्ष कर रहे है और अपनी सत्ता के लिए जूझ रहे है । अत जैसा तू है, वैसे ही सब है । इसीलिए मैने प्राणि-वध अर्थात् हिसा का त्याग किया है और दूसरो को सताना छोडा है । यदि स्वय को सताया जाना पसद होता तो दूसरो को सताना न छोडते । यदि स्वय को मारा जाना पसद होता तो मारना न छोडते । परन्तु सभी प्राणियो के जीवन की एक ही धारा है ।"

उपर्युक्त कथन की परिपुष्टि मे श्रीआचारागसूत्र मे यही कहा गया है —

> सव्वे पाणा पियाउया, सुहसाया, दुक्खपडिकूला, अप्पियवहा, पियजीविणो, जीविउकामा । सव्वेसिं जीविय पिय ।
>
> १, २, ९२-९३ ।

अर्थात्—सब जीव सुख के लिए तरसते है और दु ख से घबराते है ।

इस प्रकार अहिंसा की सच्ची कसौटी अपनी ही आत्मा है । एक सज्जन कल बात कर रहे थे । वह कह रहे थे कि धर्म और अधर्म, पुण्य और पाप निश्चित नही है । आप जिसे धर्म समझते है, दूसरा उसे अधर्म समझता है । एक जिसे पुण्य कहता है, दूसरा उसे पाप मानता है । क्या परीक्षा है ? किस

कसौटी पर इन्हे कसे, और उसके अनुसार आचरण करे ?

मैने उनसे कहा—यह कसौटी वेदो मे, पुराणो या आगमो मे नही मिलेगी। यह कसौटी तो भगवान् ने तुम्हारी आत्मा को ही प्रदान कर दी है। उसी कसौटी पर जॉचो। यदि तुम्हे कोई मारे, गाली दे या तुम्हारा धन छीने तो तुम्हारी क्या हालत होगी ? और यदि कोई गुडा तुम्हारी बहिन, बेटी या माता की इज्जत बर्बाद करे तो उस समय तुम्हारी क्या भावनाएँ होगी ? उस समय पूछो केवल अपनी आत्मा से कि यह धर्म हो रहा है या अधर्म हो रहा है ? यह पुण्य है या पाप है ?

इस परीक्षण के लिए यदि हजारो पोथे सिर पर लादे-लादे भी फिरो, तो भी कुछ नही होगा। अहिसा की सच्ची परीक्षा और कसौटी पोथियो को रगडने से या उनके पन्ने पलटने से नही तैयार होगी। उसके लिए यदि आत्म-मन्थन करोगे और विचार करोगे तो पता चलेगा। जब तक तुम्हारे ऊपर नही बीती, तभी तक यह बाते हो रही है, और जब तक आपत्तियॉ नही आई तभी तक तर्क-वितर्क हो रहे है। जिस दिन और जिस क्षण भी दृढ सकल्प के द्वारा तुम आत्म-चिन्तन मे लीन हो जाओगे, और आत्मानुभूति के अनुसार अपने जीवन-व्यापार को चलाओगे, उसी समय तुम अहिसा के धर्मत्व को अनुभव करोगे।

मैने उनसे पूछा—एक गुडा है और वह हिन्दू स्त्री के अपहरण मे ही धर्म समझता है। दूसरी ओर एक हिन्दू किसी मुस्लिम स्त्री का अपहरण करने मे ही धर्म मानता है।

तो क्या इन दोनो के लिए वैसा करना धर्म हो गया ! अगर तुम्हारे ऊपर भी यही बात गुजरे तो तुम्हारी आत्मा उसे धर्म कहेगी या अधर्म ? तुम उस कृत्य को पुण्य समझोगे या पाप ?

एक वेदान्ती कहता है—सारा ससार मिथ्या है, स्वप्न है, असत्य है। किन्तु जब वही वेदान्ती चार-पाँच दिन का भूखा हो और उसके सामने मिठाइयो का भरा थाल आ जाय और खाने का इशारा किया जाय तो क्या वह उस वक्त भी कह सकेगा कि यह तो मिथ्या है, असत्य है, भ्रम है ? यदि उस समय भी ऐसा कह दे तो उसी वक्त खबर पड जाए। अत जब जीवन को परखने का प्रश्न आता है और सचाइयाँ सामने आती है, तभी वास्तविकता का सही-सही पता चलता है। एक हिन्दी साहित्यकार ने कहा है —

जाके पैर न फटी बिवाई,
सो का जानै पीर पराई ?

अर्थात्—जिसने कष्ट न पाया हो, जिसने पीडाएँ न देखी हो, फलत जो मारना ही जानता हो, सताना ही जानता हो और दूसरो के हृदय मे भाले भोंकना जानता हो और जो भोग-विलास की गहरी नींद मे सो रहा हो—आत्मस्वरूप को नही देख सका हो, उसे भला कैसे मालूम होगा कि 'अहिंसा' क्या होती है ? जब मनुष्य दु ख की आग मे पडता है, तभी जानता है कि यहाँ धर्म है, अधर्म है, पुण्य है, या पाप है ! जीवन का देवता किसी विशेष प्रसग पर जब बोलता है तो पूरी तरह पुकार कर कहता है कि यह धर्म है, यह अधर्म है !

कल्पना करो--तुम जगल मे जा रहे हो और लाखो के हीरे जवाहिरात भी लिये जा रहे हो । यदि उस समय लपलपाती हुई नगी तलवार लेकर कोई तुम्हारे सामने आकर खड़ा हो जाता है और कहता है—'रख दे यहाँ, जो हो तेरे पास, और मौत के घाट उतरने के लिए तैयार हो जा ।' तब तुम क्या कहोगे ? यही कि ये सब चीजे ले लो किन्तु प्राण रहने दो । लेकिन जब वह कहता है--'नही, मै तो धन और तन दोनो लूँगा । यह तो मेरा धर्म है । तू जीता कैसे निकल जायगा ?' और वह मारने के लिए तैयार होता है । तव तुम उसके सामने गिडगिडाते हो, पैरो पडते हो और हजार-हजार मिन्नते करते हो, और फिर कहते हो--जो लेना हो ले लो, पर मेरे ऊपर करुणा करो । वह मृत्यु की घडी आपसे कहलवाती है कि मुझे छोड दो । परन्तु वह कहता है, छोडूँ कैसे ? मारना तो मेरा धर्म है, कर्त्तव्य है । यही तो मेरे धर्म, गुरु और देवता ने मुझे सिखाया है ।

ऐसी विकट परिस्थिति मे प्रकट रूप मे कहने का साहस, सभव है आपको न हो, तो भी मन ही मन यही कहोगे-"धूल पडे ऐसे धर्म, गुरु और देवता पर कि जिसने ऐसा निर्मम पाठ सिखलाया है ! सच्चे धर्म, गुरु और देवता तो दुर्बल की रक्षा करना बताते है । जो किसी निरपराध दीन-हीन की हत्या करने की शिक्षा देता है--वह धर्म नही, अधर्म है, गुरु नही, कुगुरु है, देवता नही, राक्षस है । भला किसी राह चलते आदमी का गला काट लेना भी कोई धर्म है ?"

कल्पना करो--इतने मे ही दूसरा आदमी आ पहुँचता है

और कहता है—"क्या कर रहे हो ? तुम इसे नही मार सकते ।" जब कि वह पहला कहता है कि मारना मेरा धर्म है । तब यह दूसरा कहता है—"बचाना मेरा धर्म है । मेरे देवता, गुरु और धर्म ने मुझे रक्षा का पाठ सिखलाया है कि मरते जीव को अपना जीवन देकर भी बचाओ ।" और वह कहता है—'मै हर्गिज नही मारने दूँगा । तेरा मारने का धर्म झूठा है, और मेरा बचाने का धर्म सच्चा है ।'

'मारने' और 'बचाने' के इस संघर्ष मे धर्म की कसौटी ढूँढने कहाँ जाएँ ? मारा जाने वाला बीच मे खडा है । उसी से पूछ लो कि 'मारना' धर्म है या 'बचाना' धर्म है ? हिंसा मे धर्म है या अहिंसा मे ? तलवार चलाने वाला कहता है कि हिंसा मे धर्म है, और तलवार पकडने वाला कहता है कि अहिंसा मे धर्म है । तो जिस पर तलवार पड रही है, उसी से पूछ लो । जिस पर गुजर रही है, उसी से पूछो । जिस पर तलवार का झटका पडने वाला है, उसी से पूछ कर देखो कि हिंसा मे धर्म है या अहिंसा मे ? यही सबसे बढकर आत्मा की कसौटी है । इस सम्बन्ध मे एक सन्त के विचार सुनिये—

श्रूयतां धर्मसर्वस्वं श्रुत्वा चैवावधार्यताम् ।
आत्मनः प्रतिकूलानि, परेषां न समाचरेत् ॥

धर्म के गूढ रहस्य को सुनो और विश्व मे जितने भी मत-मतान्तर है, सब की बाते सुनो । कही इधर-उधर जाने-आने से और सुनने-सुनाने से धर्म भागता नही है । अपने धर्म के साथ-साथ दूसरो के धर्म को भी मालूम करो । फिर देखो कि सब धर्मों का निचोड एक ही है, अर्थात्, अपनी आत्मा के

प्रतिकूल जो बाते मालूम होती हो और जिन बातो से तुम्हारे मन मे पीडा उत्पन्न होती हो, जैसे—गाली देना, अपमान करना, नुकसान पहुँचाना, कष्ट पहुँचाना आदि, वे तुम दूसरो के लिए भी कभी न करो। यही सबसे बडा धर्म है और सबसे बडी अहिंसा है। जो व्यक्ति के 'अहम्' भाव को अन्दर से निकाल कर प्राणीमात्र मे बिखेर देता है, व्यक्ति के भीतर सीमित स्नेह की सकीर्ण वृत्ति को विशालता और विपुलता प्रदान करता हुआ चलता है और अन्त मे जगत् के कोने-कोने मे उसे फैला देता है, वही सच्चा धर्म है।

आज की सबसे बडी समस्या क्या है ? आज ससार क्यो चक्कर मे पडा है ? नित्य नये-नये सघर्षो का जन्म क्यो हो रहा है ? वर्गगत सघर्ष क्यो दैत्य की तरह भयानक होकर परेशान और भयभीत कर रहे है ? इन सबके मूल मे केवल एक ही कारण है, और वह यह है कि हमारे अन्दर आज धर्म सजीव रूप मे नही रह गया है। मनुष्य अपनी वासना के लिए, खाने-पीने के लिए, भोग-विलास के लिए दूसरो को बर्बाद कर रहा है, नेस्तनाबूद कर रहा है। क्षुद्र स्वार्थो की पूर्ति के लिए चाहे भले ही दूसरो के हित कुचल दिये जायँ, चाहे दूसरो का जीवन नष्ट हो जाए, किन्तु अपना घर भर जाना चाहिए और अपनी जिन्दगी को पूरा आराम मिल जाना चाहिए। इस प्रकार की भावना से मनुष्य अपने अन्दर बन्द हो गया है, फलत उसे नही मालूम कि दूसरो पर कैसी गुजर रही है ! तो ऐसा सकुचित प्रेम अपने अन्दर जागता हुआ भी प्रेम नही, अपितु स्वार्थ है, मोह है और अज्ञान है। वह

धर्म नही है। इसी की बदौलत आज ससार की यह दुर्दशा है। वही प्रेम जब दूसरो के सकट मे सहायक होगा, करुणा की धारा मे बहेगा और समष्टि के रूप मे फैलता जायगा, तो अहिंसा के विराट साँचे मे भी ढलता जाएगा।

जो आदमी अपने अन्दर बद हो गया है, स्थिर स्वार्थो से घिर गया है और जिसे अपनी ही जरूरते और चीजे महत्वपूर्ण मालूम होती है, वह उनकी पूर्ति के लिए दूसरो के जीवन की उपेक्षा करता है, और ऐसी उपेक्षा करता है, जैसी एक नशेबाज ड्राइवर।

कल्पना कीजिए—एक ड्राइवर है और उसने नशा कर लिया है। वह मोटर मे बैठ जाता है और पूरी रफ्तार मे मोटर छोड देता है। अब मोटर दौड रही है और ड्राइवर को भान नही है कि इस रास्ते पर दूसरे भी चलने वाले है। दूसरो के जीवन भी इसी सडक पर घूम रहे है, वे मेरी बेहोशी से कुचले जा सकते है। वह तो नशे की मस्ती मे झूम रहा है और मोटर तीव्रतम वेग के साथ दौडी जा रही है। क्या यह ड्राइवर सच्चा और ईमानदार ड्राइवर है ? नही, कभी नही। इसी प्रकार जो मनुष्य अपने लिए स्वार्थ या वासना का प्याला चढा लेता है और अपनी जीवन-गाडी को ऐसी उन्मुक्त एव तीव्र गति से चलाता है कि दूसरो के जीवन कुचले जा रहे है, वे मर रहे है, परन्तु इसकी उसे तनिक भी चिन्ता नही है। क्या वह व्यक्ति कभी सच्चा मनुष्य हो सकता है ?

गाडी को तेज रफ्तार मे छोडने पर कोई भी दुर्घटना या

खतरा हो सकता है, अत उसे ब्रेक लगाकर चलाना चाहिए। जिस मोटर गाडी मे ब्रेक न लगा हो, क्या उस गाडी को चलाने का अधिकार मिल सकता है ? बिना ब्रेक की गाडी चलाना दण्डनीय है। जीवन की गाडी मे भी सयम का ब्रेक लगाओ। सयम का ब्रेक लगने पर जीवन-गाडी स्वय भी सुरक्षित रहती है और दूसरो को भी सुरक्षित रखती है। हाँ, तो कोई ड्राइवर सोच-समझकर मोटर चला रहा है, नशा उसने नही कर रखा है और दिमाग को तरोताजा रखकर चला रहा है, और मोटर को जैसे-तैसे मरते-मारते ठिकाने पहुँचा देना मात्र ही उसका लक्ष्य नही है, किन्तु सडक पर किसी को किसी प्रकार का नुकसान भी नही होने देता और सकुशल ठिकाने पहुँच जाता है तो वही सच्चा और होशियार ड्राइवर है। अतएव जब वह चलाता है तो दाएँ-बाएँ बचाकर चलाता है। फिर भी मनुष्य होने के नाते उससे कभी भूल हो भी जाती है। अस्तु बचाने का पूरा प्रयत्न करने पर भी कोई टकरा ही गया, या जब कोई सामने आया और उसने ब्रेक भी लगाया, किन्तु ब्रेक फेल हो गया और गाडी नही रुकी, तो ऐसी स्थिति मे यही कहा जा सकता है कि वह ड्राइवर उस हिंसा के पाप का भागी नही हुआ।

हाँ, तो आप भी जीवन की गाडी लेकर चल रहे है। मोटर गाडी को घर से बाहर न निकाल कर केवल घर के गैरेज मे बन्द कर देना ही उस का सही उपयोग नही है। मोटर का सही उपयोग तो मैदान मे चलाना है। किन्तु चलाने का उचित विवेक रहना चाहिए। इसी

प्रकार जीवन मे भी मन को वन्द करके सुला दो, जीवन की सारी हरकते वन्द कर दो और शरीर को एक मास-पिण्ड बनाकर किसी एक कोने मे रख छोडो तो इससे क्या परिणाम निकलेगा ? जीवन को प्रतिक्षण गतिशील रहने दो। गति-हीन जीवन--जीवन नही, वल्कि जीवन की जिन्दा लाश है। मुर्दे की तरह निष्क्रिय पडे रहना, क्या कोई धर्म का लक्षण है ?

जैनाचार्य कहते है--जीवन की मोटर को चलाने की मनाही नही है। यदि गृहस्थ है तो उस रूप मे गाडी को चलाने का हक है, और यदि साधु है तो भी चलाने का हक है। किन्तु चलाते वक्त कोई प्रमाद मत करो अर्थात् असावधान न वनो। मस्तिष्क को साफ और तरोताजा रखो। सदैव यह ध्यान रखो कि जीवन की यह गाडी किसी से टकरा न जाय। व्यर्थ या अनुचित ढग से किसी को कुछ भी नुकसान न पहुँचने पाए।

हाँ, तो इन सव वातो को ध्यान मे रखकर ही जीवन की गाडी चलाना चाहिए। फिर भी कदाचित् भूल हो जाय और हिंसा की दुर्घटना हो जाय, तो उस अवसर पर क्षम्य हो सकते हो। किन्तु अन्धे वनकर चलाओगे, तो क्षम्य नही हो सकते।

एक वार गौतम ने भगवान से प्रश्न किया। उन्होने अपने लिए ही नही, किन्तु समस्त विश्व के लिए पूछा--भगवन् ! जीवन मे कही पाप न लगे, ऐसी राह वताइए। क्योकि जीवन पापमय है, यहाँ चलते हुए भी पाप लगता है।

विश्व के कुछ दार्शनिको ने इस शास्वत प्रश्न का समाधान इस प्रकार करने का प्रयत्न किया है —

—चलना पाप है ,

—तो खडे रहो।

—खडे-खडे भी पाप लगता है।

—अच्छा, बैठ जाओ।

—पाप तो बैठने पर भी लगता है।

—अच्छा, पड जाओ। सारे शरीर को मुर्दे की तरह पडा रखो।

—पडे-पडे भी पाप लगता है।

—तो मौन धारण करलो, चुप रहो, बोलो मत और खाओ-पीओ भी नही !

क्या जीवन का यही अर्थ है ? किन्तु जैन-धर्म के समाधान करने की यह पद्धति नही है। भगवान् यह कभी नही कहते कि चलने से पाप लगता है तो खडे हो जाओ। यदि इस पर भी पाप लगे तो बैठ जाओ, फिर पसर जाओ, और इस तरह जीवन को समाप्त कर दो। भगवान् के धर्म मे सच्चा साधक वह नही है, जो इधर 'वोसिरे' कहे और उधर एक जहर की पुडिया खा ले। बस, राम नाम सत्य ! न तो जीवन रहे, और न जीवन की हरकत ही रहे। जैन-धर्म तो यही कहता है कि—अरे मनुष्य ! तेरी जिन्दगी अगर पचास वर्ष के लिए है तो पचास वर्ष, अगर सौ वर्ष के लिए है तो सौ वर्ष, और यदि हजार वर्ष के लिए भी है तो हजार वर्ष पूरे कर, शान के साथ पूरे कर। किन्तु एक बात का

ध्यान अवश्य रख कि —

जय चरे जय चिट्ठे, जयमासे जय मए।
जय भुजतो भासतो, पावकम्म न ववइ ॥

—दशवैकालिकसूत्र ४,८

उपर्युक्त गाथा के द्वारा भगवान् महावीर का ससार के समस्त साधको को यह जीवन-सन्देश है कि—प्रत्येक कार्य यतनापूर्वक करो। यदि चलना है तो चलने मे यतना रखो, विवेक रखो। यदि खडे हो तो बैठने की बात नही है। यथा प्रसग खडे रह सकते हो, पर विवेक के साथ खडे हो। यदि बैठना हो, तो भी विवेक के साथ बैठो। यदि सोना है, तो सोओ भी विवेक के साथ। यदि खाना है या बोलना है, तब भी यही शर्त है। विवेक के साथ ही खाओ, विवेक के साथ ही बोलो। फिर पाप-कर्म कदापि नही बँधेगे। पाप-कर्म तो अविवेक मे ही है।

बस, विवेक ही अहिसा की सच्ची कसौटी है। जहाँ विवेक है, वहाँ अहिसा है, और जहाँ विवेक नही है, वहाँ अहिसा भी नही है। विवेक या यतनापूर्वक काम करते हुए भी यदि कभी हिसा हो जाय तो वह कार्य हिसा का नही होगा। अनुबन्ध हिसा नही होगी।

—: ३ :—

द्रव्य-हिंसा और भाव-हिंसा
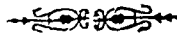
अहिंसा के सम्बन्ध मे कुछ बाते कही जा चुकी है और कुछ बाते कहनी भी है। अहिंसा को ठीक तरह समझने के लिए और उसके वास्तविक रूप को जानने के लिए सर्वप्रथम हिंसा को समझ लेना जरूरी है, क्योकि हिंसा का विरोधी भाव अहिंसा है। अहिंसा का साधारणतया अर्थ है, हिंसा का न होना। हिंसा का विरोधी भाव वही हो सकता है, जिसके रहते हिंसा न हो सके। इस प्रकार अहिंसा की जो मूल व्याख्या है, वह सर्वप्रथम 'न' के ऊपर ही आधारित है। अतएव अहिंसा को पूरी तरह समझने से पहले, हिंसा को समझ लिया जाय तो ठीक होगा और उस स्थिति मे अहिंसा का ठीक-ठीक पता लग सकेगा।*

महान् तीर्थंकरो ने और जैनाचार्यो ने मूल मे हिंसा के दो भेद किये है—(१) भाव-हिंसा, और (२) द्रव्य-हिंसा।

---

* हिंसाए पडिवियाए अहिंसा पडिविया चेव।'

—दशवैकालिक चूर्णि, प्रथम अध्ययन।

जव मैने उक्त भेदो का अध्ययन किया, चिन्तन किया और जरा गहराई मे उतरकर विचार किया तो मालूम पडा कि हिंसा और अहिंसा के विश्लेपरण के लिए उन महापुरुषो ने ससार के सामने एक महत्वपूर्ण वात रख दी है।

भाव-हिंसा क्या है ? जव आपकी आत्मा मे किसी के प्रति द्वेप जगा तो हिंसा हो गई तथा किसी भी रूप मे असत्य का सकल्प, चोरी का सकल्प, और व्यभिचार का दुर्भाव आया, इसी प्रकार कभी क्रोध, मान, माया और लोभ की भावनाएँ जगी, जो जीवन को अपवित्र वनाती है—तो हिंसा हो गई। इसे हम भाव-हिंसा कहते है।

भाव-हिंसा से सर्वप्रथम हिंसक का ही नाश होता है। आपको क्रोध आया और ज्यो ही क्रोध ने आपको धर दवाया कि मन मे आग लग गई और किसी का सर्वनाश करने का विचार किया। वस, जिस समय यह भाव आया कि हिंसा हो गई। दूसरे को मारना या उसको पीडा पहुचाना, आपके लिए हर समय शक्य नही है। यदि कोई आपसे दुर्वल होगा, तो उसके सामने आप अपनी शक्ति का उपयोग कर सकते है। यदि वह आपसे अधिक शक्तिशाली हुआ, तो आप स्वय जल कर रह जाएँगे, और उसका कुछ विगाड नही कर पाएँगे। इस तरह वाहर की हिंसा की हे या नही की है, किन्तु खुद तो जले और अन्दर ही अन्दर जलते रहे।

कुछ वच्चे एक वच्चे को चिढाते है और गन्दा कहकर उसका मजाक करते है। वह खिसिया कर कहता है—मै गन्दा हूँ ? अच्छा गन्दा ही सही। अव वह अपने हाथ मे

कीचड लेता है और दूसरे वच्चो पर उछालने के लिए उनके पीछे दौडता है। वच्चे तेजी से भाग जाते है और वह उन पर कीचड नही उछाल पाता। यदि उछाल भी देता है तो दूसरो पर कीचड पडी या नही पडी, परन्तु उसका हाथ तो कीचड से भर ही गया। यदि कीचड उछालने वाला तेज दौडता है और दूसरो पर डाल देता है, तब भी उसका हाथ तो कीचड से भरेगा ही। अगर दूसरे बालक तेज है, और वह उन पर कीचड नही डाल पाता, तो वह अपना गन्दा हाथ लिए मन ही मन जलता है। इस प्रकार दूसरो पर कीचड चाहे पडे चाहे न पडे, किन्तु उछालने वाला तो हर हालत मे गन्दा हो ही जाता है।

शास्त्रकार यही बात बाल जीवो के विषय मे कहते है। अविवेकी जीव प्राय बच्चो के जैसे खेल खेला करता है। वह अपने मन मे दूसरो के प्रति बुरे भाव, बुरे सकल्प पैदा करता है, और उनके कारण अपने अन्दर मैल भर लेता है—अन्त-करण को मलिन बना लेता है और आत्मा के गुणो की हत्या कर लेता है। क्रोध आया, तो क्षमा की हत्या हो गई, अभिमान आया, तो नम्रता का नाश हो गया, माया आई, तो सरलता का सहार हो गया, और यदि लोभ आया तो सन्तोष का गला भी घुट गया। असत्य का सकल्प आया तो सत्य की सुगन्ध भी समाप्त हो गई। इस प्रकार जो भी बुराई आत्मा मे पनपती है, वह अपने विरोधी सद्‌गुण को कुचल डालती है।

रात को आना हो तो कैसे आए? दिन को जब तक

कुचल न डाले या दिन जब तक समाप्त न हो जाय, और सूर्य की एक-एक किरण विलीन न हो जाय, तब तक रात कैसे आए ? यदि रात हो गई तो समझ लो कि दिन नष्ट हो गया है और सूरज छिप गया है।

हमारे जीवन मे भी जब अमावस्या की रात आती है, अर्थात् हिसा, असत्य आदि की काली घटाएँ उमड-घुमडकर आती है तो अहिसा, सत्य और करुणा की जो ज्योति जगमगा रही थी, समझ लो, वह नष्ट हो गई। वहाँ दिन छिप गया और रात आ गई।

तो भाव-हिसा आत्मा के गुणो की हिसा कर डालती है। अब रह गई दूसरो की हिसा। सो वह देश, काल आदि पर निर्भर है। सम्भव है, कोई दूसरो की हिसा कर सके, या न भी कर सके किन्तु अपने आप तो जल ही जाता है।*

दियासलाई को देखिए। वह रगड खाती है और जल उठती है। स्वय जल उठने के बाद घास-पात आदि को जलाने जाती है। वह खुद तो जल गई है, अब दूसरो को जलाये या न भी जलाये। वह जलाने चली और हवा का झौका आ गया तो बुझ जाने के कारण दूसरे को नही जला सकेगी, किन्तु अपने आप तो बिना जली नही रही।

इस प्रकार भाव-हिसा अन्तरग मे तो जलन पैदा करती ही है। उसके बाद दूसरे प्राणियो की हिसा हो तो वह द्रव्य-

---

* स्वयमेवात्मनात्मान हिनस्त्यात्मा प्रमादवान्।
पूर्व प्राण्यन्तराणा तु पश्चात्स्याद्वा न वा वध ॥
—राजवार्तिक ७, १३।

हिसा भी होगी। द्रव्य-हिसा कदाचित् हो या न हो, पर हिंसामय सकल्प के साथ भाव-हिसा तो पैदा हो ही जाती है।

शास्त्रकार कहते है कि इस जीवन मे मूलभूत और सब से वडी बुराई भाव-हिसा हे और इसी से तुम्हे सबसे वडी लडाई लडनी है। तुम्हे अपने अन्दर के सबसे बडे शत्रु का संहार करना है। राजर्षि नमि ने कहा है :—

अप्पाणमेव जुज्झाहि किं ते जुज्झेण वज्झओ ?

—उत्तराध्ययन सूत्र, ९, ३५

राजर्षि ने कहा—जीवन मे कितनी ही बाहर की लडाइयाँ लडो और कितना ही खून वहा और वहाया भी, किन्तु उनसे जीवन का सही फैसला नही हुआ। अब तो अपने विकारो और वासनाओ से लडना है। यदि इस सघर्ष मे सफलता प्राप्त हो जाती है, तो बाहर के शत्रु आप ही आप शान्त हो जाएंगे। उन पर शाश्वत विजय पाने वाले सद्गुण अपने अन्दर ही विराजित है, इसलिए तू अपने आप से लड। अपने से लडने का अर्थ है—अपने विकारो से और अपनी हिसा-वृत्ति से लडना। द्रव्य-हिसा की जननी, यह अन्दर की हिसावृत्ति ही तो है।

द्रव्य-हिसा और भाव-हिसा को लेकर हिसा के चार विकल्प किए गए है।* आगम की परम्परा मे उसे चौभगी कहते है। वह इस प्रकार है —

(१) भाव-हिसा हो, द्रव्य-हिसा न हो।

---

* देखिए, दशवैकालिक चूर्णि-पथम अध्ययन।

(२) द्रव्य-हिसा हो, भाव-हिसा न हो ।
(३) द्रव्य-हिसा भी हो, भाव-हिमा भी हो ।
(४) द्रव्य-हिंसा न हो, भाव-हिमा भी न हो ।

कही ऐसा प्रसग आ जाता है और वहुधा आता ही रहता है कि भाव-हिसा हो, किन्तु द्रव्य-हिसा न हो । जैसा कि अभी कहा गया है, अन्दर हिसा की भावना जगी, हिंसा का विचार पैदा हो गया और अपने जीवन के दुर्गुणो और वासनाओ के द्वारा अपने सद्‌गुणो को वर्वाद कर दिया, तो भाव-हिंसा हो गई । किन्तु दूसरे का कुछ विगाड नही हो सका, तो द्रव्य-हिसा न होने पाई ।

तन्दुलमच्छ का वर्णन आपने सुना है ? कहते है, महासागर मे हजार-हजार योजन के विशालकाय मच्छ रहते है और मुँह खोले पडे रहते है । जव वे सास लेते है तव हजारो मछलियाँ उनके पेट मे श्वास के साथ खिची चली आती है और जव सास छोडते है तो वाहर निकल जाती है । इस तरह प्रत्येक श्वास के साथ हजारो मछलियाँ अन्दर आती और वाहर जाती है । ऐसे किसी मच्छ की भौह पर या किन्ही आचार्यो के मतानुसार कान पर, तन्दुल मच्छ रहता है । वह कही भी रहता हो, उसकी आकृति चॉवल के वरावर होती है । उसके सिर है, ऑखे है, कान है, नाक है और सभी इन्द्रियाँ है । शरीर भी है और मन भी है । वह उस विशालकाय महामत्स्य की भौह या कान पर वैठा-वैठा देखता है कि इस महामत्स्य की श्वास के साथ हजारो मछलियाँ भीतर जाती है और फिर वाहर निकल आती है , और वह सोचता

है—"ओह ! इतना बडा शरीर पाया है, इस भीमकाय मच्छ ने, किन्तु कितना मूर्ख और आलसी है ! इसे होश नही है कि—हजारो मछलियाँ आई और यो ही निकल गई ! क्या करूँ, मुझे ऐसा शरीर नही मिला ! यदि मिला होता तो क्या मै एक को भी वापिस निकल जाने देता ?" किन्तु जब मछलियो का प्रवाह आता है तो वह दुबक जाता है, डर जाता है कि कही मै झपट मे न आ जाऊँ ! मर न जाऊँ ! वह कर कुछ भी नही पाता, किन्तु इस व्यर्थ की दुर्भावना से ही उसकी हजारो जिन्दगियाँ बर्बाद हो जाती है !

अरे ! जब जीवन मे कुछ सत्त्व पाया ही नही, तो फिर क्यो व्यर्थ जल रहा है ?

तन्दुल-मत्स्य मछलियो को निकलती देखकर हताश हो जाता है और सोचता है कि हाय, एक भी नही मरी ! वह इन्ही दु सकल्पो मे उलझा रहता है और रक्त की एक बूँद भी नही बहा पता । यहाँ तक कि वह किसी को एक चुटकी भी तो नही भर पाता । अन्तर्मुहूर्त्त भर की उसकी नन्ही-सी जिन्दगी है और इस छोटी-सी जिन्दगी मे ही वह सातवे नरक की तैयारी भी कर लेता है ।

भाव-हिसा को सुगमता से समझने के लिए एक उदाहरण और लीजिए —

कल्पना कीजिए—किसी डाक्टर के पास एक बीमार आया । इससे पहले वह अपनी चिकित्सा कराने के लिए जगह-जगह भटक चुका है और अपने जीवन की आशा भी लगभग छोड चुका है । डाक्टर के साथ उसका पूर्व-परिचय

नही है। उसने डाक्टर से कहा—"मै बीमार रहता हूँ। कृपा करके मेरा इलाज कीजिए। मेरा होश-हवास भी ठीक नही रहता है। इसलिए मेरी इस चार-पाँच हजार की पूँजी को आप अपने पास सुरक्षित रहने दे। रोग-मुक्त होकर यदि जिन्दा रह गया तो मै इसे ले लूँगा। यह बात किसी तीसरे को मालूम भी नही होनी चाहिए।"

डाक्टर ने इलाज शुरू कर दिया। एक दिन अचानक डाक्टर के मन मे लोभ जाग उठा। वह सोचने लगा—यह रोगी यदि मेरे इलाज से नीरोग और स्वस्थ हो जायगा, तो अपनी पूँजी लेकर चलता बनेगा।

जब मन मे दुर्विचारो का शैतान जाग उठता है, तो कभी-कभी उसे शान्त करना कठिन हो जाता है। यह वह भूत है कि जिसे एक बार जगा दिया तो फिर उसे सुलाने का मत्र मिलना जरा मुश्किल हो जाता है।

डाक्टर के मन मे पाप जगा और उसने रोगी से कहा—'लो, यह बडी बढिया और कारगर दवा है। आशा है इसके सेवन से तुम्हारी सारी बीमारी सदैव के लिए दूर हो जायगी।' यह कहते हुए उसने जहर का गिलास रोगी के सामने कर दिया। अर्थात्, धन के लोभ ने डाक्टर के मन को विषाक्त बनाया और फलत रोगी को जहर दे दिया गया।

रोगी का रोग विष-प्रयोग से ही ठीक होने वाला था। इस सम्बन्ध मे हमारे आयुर्वेदाचार्य भी कहते है—'विषस्य विषमौषधम्' अर्थात्, जहर की दवा जहर है। रोगी के शरीर मे जो जहर फैल गया था, वह जहर से ही दूर हो सकता

था। अस्तु, डाक्टर ने जो ज़हर दिया, उससे शरीर का ज़हर नष्ट हो गया और रोगी नीरोग हो गया।

वह रोगी अब डाक्टर के प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट करता हुआ कहता है—"डाक्टर साहब! आप तो साक्षात् ईश्वर है! आप जैसा दयालु और बुद्धिमान् दूसरा कौन होगा? मै भटकते-भटकते परेशान हो गया था, जीवन से भी निराश हो चुका था। निस्सदेह आपने तो मुझे नया जीवन दिया है! आपके इस उपकार के बदले मे मेरी वह पूँजी बिल्कुल नगण्य है। अब उसे आप अपने ही पास रहने दीजिए।" इस प्रकार वह रोगी अपनी सबकी सब पूँजी डाक्टर को ही अर्पित कर देता है और जहाँ कही जाता है, डाक्टर की योग्यता का विज्ञापन करता है और उसका गुण-गान गाता है।

यह कहानी तो समाप्त हो चुकी। अब तो हमारे सामने यह प्रश्न उपस्थित होता है कि डाक्टर को क्या हुआ? डाक्टर ने तो बीमार को मार डालने के विचार से ही जहर दिया था। परन्तु उसे उलटा आराम हो गया। डाक्टर को चार-पाँच हजार रुपये मिले, रोगी के द्वारा प्रशसा मिली, जनता मे भी उसने कल्पनातीत प्रसिद्धि प्राप्त की और लोगो ने कहा कि—डाक्टर ने बीमार को नया जीवन दिया। परन्तु इस सम्बन्ध मे शास्त्र क्या कहते है? शास्त्रो के अनुसार डाक्टर ने रोगी को जीवन दिया या मृत्यु? रोगी के नीरोग होने पर वह जीवन देने के पुण्य का भागी है या विष प्रयोग के आधार पर मौत देने के पाप का भागी है?

उसने मनुष्य की हिंसा की है अथवा दया ?

इस प्रश्न का उत्तर कुछ कठिन नहीं है। मनुष्य मे यदि सामान्य विवेक हो तो भी वह इसी परिणाम पर पहुँचेगा कि—भले ही डाक्टर, रोगी के प्राण न ले सका और रोगी नीरोग भी हो गया, फिर भी डाक्टर तो मनुष्य की हत्या के पाप का भागी ही है। यद्यपि वहाँ द्रव्य-हिंसा नही है, फिर भी भाव-हिंसा अन्तर मे स्थित है। क्योकि डाक्टर के मन मे तो हिंसा की भावना उत्पन्न हुई थी, फलत उसी हिंसा-भाव के कारण डाक्टर हिंसा के पाप का भागी हुआ। इस दुष्कर्म के अनुसार डाक्टर ने रोगी को जहर नही पिलाया, बल्कि अपने आपको जहर पिलाया है। यथार्थ मे उसने अपने आपको मार डाला है। अपनी सद्भावना का, अपने सद्गुणो का, अपनी उच्चता का और कर्त्तव्य (Duty) का घात करना भी एक प्रकार का आत्म-घात ही है।

यह विचारधारा जैन आगमो की है। भाव-हिंसा को भली-भाँति समझने के लिए उपरिलिखित दोनो रूपक बहुत उपयोगी है। यहाँ द्रव्य-हिंसा कुछ भी नही, अकेली भाव-हिंसा ही 'महतो महीयान्' है। वह तन्दुल मत्स्य को सातवे नरक मे ढकेल देती है।

उपर्युक्त दृष्टान्त के आधार पर अहिंसा के साधको को इस भाव-हिंसा से सदैव बचना चाहिए, और तन्दुल मत्स्य के दुर्विकल्पो से तो अवश्य ही बचना चाहिए। अखिल विश्व की आत्माओ से सतो का यही कहना है कि—"तुम अकेले ही दुनिया भर की सारी गति-विधि के ठेकेदार नही हो।

किसी का जन्म-मरण तुम्हारे हाथ मे नही है। फिर क्यो व्यर्थ ही किसी को मारने की दुर्भावना रखते हो ?"

दूसरे प्रकार का भग या विकल्प वह है, जिसमे द्रव्य-हिसा तो हो, किन्तु भाव-हिसा न हो। मान लीजिए—एक साधक है, और वह अपने जीवन की यात्रा तय कर रहा है। उस समय उसके मन मे हिसा नहीं है और हिसा की वृत्ति भी नही है। यद्यपि वह सावधानी के साथ प्रवृत्ति करता है, फिर भी हिसा हो जाती है। आखिर जब तक यह शरीर है, तब तक हिसा रुक ही कैसे सकती है। आध्यात्मिक उत्क्रान्ति की तेरहवी भूमिका तक भी अगत हिसा होती रहती है। जब तक आत्मा और देह का सम्बन्ध है, तब तक यह कार्यक्रम चलता ही रहेगा। आप बैठे है और हवा का झौका लग रहा है, इस स्थिति मे भी असख्य जीव मर रहे है।

'पक्ष्मणोऽपि निपातेन तेषा स्यात् स्कध-पर्यय ।'

एक पलक का झपकना, यद्यपि अपने आप मे एक अति सूक्ष्म हरकत है, किन्तु उसमे भी असख्य जीव मर जाते है। इस प्रकार जब तक शरीर है, तब तक हिसा चल रही है और वह भी तेरहवे गुणस्थान तक। यह बात मै अपनी ओर से नही कह रहा हूँ, अपितु आगमो मे ऐसा उल्लेख है। भगवती-सूत्र के अनुसार केवलज्ञानियो से भी काययोग की चचलता के कारण कभी-कभी पचेन्द्रिय जीवो तक की हिसा हो जाती है।*

---

* अणगारस्स भते ! भावियप्पणो पुरओ जुगमायाए पेहाए रीय रीयमाणस्स पायस्स अहे कुक्कुडपोए वा कुलिगच्छाए वा परियावज्जिजा;

केवलज्ञानी विहार कर रहे है और बीच मे कही नदी आ जाय तो क्या करेगे ? उत्तर स्पष्ट है, वे नाव मे बैठेगे। यदि नदी मे पानी थोडा है तो विधि के अनुसार पैदल भी जल मे से पार होगे। वे चाहे नाव मे बैठकर चले या पानी मे उतर कर, परन्तु हिंसा से बचाव सर्वथा असम्भव है ? नाव और पानी की बात भी छोड दीजिए, एक कदम रखने मे भी जो हरकत होती है, उसमे भी हिंसा हो जाती है।

अब जरा कर्म-बन्ध की बात भी सोचिए। तेरहवे गुण-स्थान वाले केवलियो को कौन-सी कर्म-प्रकृति का बध होता है ? उक्त नदी-सतरण, आदि कार्य करते हुए भी वे सातावेदनीय का ही बध करते है। यह कैसी बात हुई ? जीवन के द्वारा तो होती है हिंसा, किन्तु बध होता है सातावेदनीय का ! जिन जीवो की हिंसा हुई है, वे साता मे मरे है या असाता मे ? वे कुचले गये है, चोट पहुँचने पर मरे है, अपने आप नही मर गये है। फिर भी आगम कहते है कि इस स्थिति मे बध होता है सिर्फ पुण्यप्रकृति का ही, पापप्रकृति का नही। इस जटिल समस्या पर विचार करने की आवश्यकता है।

वास्तव मे हिंसा कषायभाव मे है। इस सम्बन्ध मे कहा भी गया है —

तस्स ण भंते ! इरियावहिया किरिया कज्जइ ? संपराइया किरिया कज्जइ?

गोयमा ! अणगारस्स ण भावियप्पणो जाव तस्स ण इरियावहिया किरिया कज्जइ, नो संपराइआ कज्जइ।

—श्री भगवती-सूत्र, श० १८, उ० ८

'प्रमत्तयोगात् प्राण-व्यपरोपण हिसा ।'

—तत्त्वार्थसूत्र ९, १३

'मण-वयण-कायेहिं जोगेहिं दुप्पउत्तेहिं ज पाण-ववरोवण कज्जइ सा हिंसा'

—दशवैकालिक चूर्णि, प्रथम अध्ययन

किसी के द्वारा किसी जीव का मर जाना अपने आप मे हिसा नही है, अपितु क्रोधभाव से, मानभाव से, मायाभाव से या लोभभाव से किसी जीव के प्राणो को नष्ट करना, हिसा है। मतलब यह है कि क्रोध, मान, माया, लोभ, घृणा, द्वेष आदि दुर्भाव यदि मन मे हो और मारने की दुर्वृत्ति के साथ जीवो को मारा जाता हो या सताया जाता हो, तो वहाँ हिसा होती है।

उक्त कथन का भावार्थ यह है कि हिसा का मूलाधार कषायभाव है। अत जो साधक कषायभाव मे न हो, फिर भी यदि उसके शरीर से हिसा हो जाती है तो वह केवल द्रव्य-हिसा है, भाव-हिसा नही। द्रव्य-हिसा, प्राण-नाश स्वरूप होते हुए भी हिसा नही मानी जाती।* केवलज्ञानी की यही स्थिति है। वे राग-द्वेष की स्थिति से सर्वथा अलग है। उनके अन्दर किसी भी प्राणी के प्रति दुर्भाव नही है, अपितु सर्वांगीण सद्भाव है। अत उनके शरीरादि से होने वाली हिसा, हिसा नही है। केवली स्वभावत हिसा करते नही है, अपितु वह हो जाती है। इसीलिए उन्हे बाहर मे हिसा

---

* 'यदा प्रमतयोगो नास्ति, केवल प्राणव्यपरोपणमेव न तदा हिंसा। उक्त च-वियोजयति चासुभिर्न च वधेन सयुज्यते।'

—तत्त्वार्थराजवार्तिक ७, १३

होते हुए भी एकमात्र सात-वेदनीय का ही वध होता है।

अब तनिक शब्दो पर ध्यान दीजिए। यहाँ दो प्रकार के शब्दो का प्रयोग किया गया है—वे तो हिंसा करते नही, वह अपने आप हो जाती है। दूसरे प्रकार से इसे यो भी कह सकते है कि केवली जीवो को मारते नही, वे अपने आप मर जाते है। इन दोनो प्रयोगो मे कितना बडा अन्तर है ?

कल्पना कीजिए—एक साधु विवेकपूर्वक भिक्षा के लिए जाता है या कोई गृहस्थ विवेकपूर्वक गमन-क्रिया करता है। उस समय उसके अतस् मे किसी भी जीव को मारने की वृत्ति नही है, फिर भी यदि मर जाते है, तो यही कहा जायगा कि वह जीवो को मारता नही है, किन्तु जीव मर जाते है। इस प्रकार के मर जाने मे पाप-बध नही है, किन्तु मारने मे पाप-बध है। इस सम्बन्ध मे आचार्य भद्रबाहु भी कहते है —

> उच्चालिदम्मि पाए इरियासमिग्रस्स सकमट्ठाए।
> वावज्जेज्ज कुलिगी मरेज्ज त जोगमासज्ज ॥७४८॥
> न य तस्स तन्निमित्तो बधो सुहुमो वि देसिओ समए।
> अणवज्जो उवओगेण, सव्वभावेण सो जम्हा ॥७४९॥
>
> —ओघनिर्युक्ति

अर्थात्—ईर्यासमिति से युक्त होकर कोई साधक चलने के लिए पाँव उठाए और अचानक यदि कोई जीव उसके नीचे आकर, दबकर मर जाय, तो उस साधक को उसकी मृत्यु के निमित्त से तनिक-सा भी बध होना शास्त्र मे नही बतलाया है। क्योकि वह साधक गमन-क्रिया मे पूर्ण-रूप से उपयोग रखने के कारण निष्पाप है।

यही बात दिगम्बर परम्परा के आचार्य वट्टकेर जी ने भी उद्घोषित की है —

पउमिणि-पत्त व जहा, उदएण ण लिप्पदि सिणेहगुणजुत्त ।
तह वद-समिदीहिं ण लिप्पदि, साहू काएसु इरियतो ॥

—मूलाचार, पचाचाराधिकार

कमलिनी का पत्ता जल से ही उत्पन्न होता है और जल मे ही उसका पोषण और विकास भी होता है, फिर भी वह जल से लिप्त नही होता, क्योकि वह स्नेहगुण से युक्त है। इसी प्रकार समितियुक्त साधु जीवो के मध्य मे विचरण करता हुआ भी पाप से लिप्त नही होता, क्योकि उसके अन्त करण मे करुणा का अखण्ड स्रोत प्रवाहित है।

एक और सुन्दर उपमा के साथ आचार्य फिर इसी बात को स्पष्ट करते है —

सर-वासेहिं पडतेहि जह दिढकवचो ण भिज्जदि सरेहि ।
तह समिदीहि ण लिप्पइ, साहू काएसु इरियतो ॥

अर्थात्—घोर सग्राम छिडा हुआ है। योद्धागण एक-दूसरे पर प्रखर बाणो की जलधारवत् वर्षा कर रहे है। परन्तु जिसने अपने वक्षस्थल को मजबूत कवच से ढँक रखा है, उसे क्या वे बाण घायल कर सकते है! कदापि नही। इसी प्रकार जो मुनि ईर्यासमिति के सुदृढ कवच से युक्त है, वह जीवो के समुदाय मे निरन्तर विचरता हुआ भी पाप से लिप्त नही हो सकता।

यतनापूर्वक प्रवृत्ति करने से नवीन पाप-कर्म का स्पर्श भी नही होता। इतना ही नही, अपितु पहले बँधे हुए कर्मो

का क्षय भी होता है। वही आचार्य कहते है —

तम्हा चेट्ठिदुकामो, जइया तइया भवाहि तं समिदो।
समिदो हु अण्णं ण दियदि, खवेदि पोराणय कम्म ॥

—पचाचाराधिकार

और—

जद तु चरमाणस्स दयापेहुस्स भिक्खुणो।
णव ण वज्झदे कम्म पोराण च विधूयदि ॥

—समयसाराधिकार

अर्थ स्पष्ट है कि जो मुनि यतना के साथ चल रहा है, जिसके चित्त मे प्राणीमात्र के प्रति दया की भावना विद्यमान है, वह चलता हुआ भी नवीन कर्मो का वध नही करता। इतना ही नही, अपितु वह पहले वधे हुए कर्मो की निर्जरा भी करता है ।

आचार्यशिरोमणि श्री भद्रबाहु जी ओघनिर्युक्ति मे ऐसा ही उल्लेख करते है —

जा जयमाणस्स भवे, विराहणा सुत्तविहिसमग्गस्स,
सा होइ निज्जर-फला, अज्झत्थ-विसोहि-जुत्तस्स ॥७५६॥

अर्थात्—गीतार्थ साधक के द्वारा यतनाशील रहते हुए भी यदि कभी हिंसा हो जाती है तो वह पाप-कर्म के वध का कारण न होकर निर्जरा का कारण होती है। क्योकि वाहर मे हिसा होते हुए भी यतनाशील के अन्तर मे भाव-विशुद्धि रहती है। फलत. वह कर्मनिर्जरा का फल अर्पण करती है।

हाँ, तो मन के अन्तर्जगत् मे अहिंसा का सागर लहरा रहा है, वहाँ कषायकृत दुर्भाव नही है, असावधानी भी नही

है, अपितु जागरुकता है, फिर भी शरीर से हिसा हो रही है। माधक किसी को मार नही रहा है, मरने वाले स्वत ही मर रहे हैं। इस पर शास्त्रकार कहते है कि वहाँ द्रव्य-हिसा है, भाव-हिसा नही। यह दूसरा भग है। जहाँ ऐसी स्थिति हो वहाँ द्रव्य-हिसा होती है, भाव-हिसा नही। द्रव्य-हिसा को स्पष्ट रूप से समझने के लिए एक रूपक लीजिए —

डाक्टर के पास एक बीमार आता है। उसके आमाशय मे घातक फोडा है। डाक्टर पहले तो बीमारी का गम्भीरता-पूर्वक अध्ययन करता है और निश्चय करता है कि फोडे का आपरेशन करना अनिवार्य है। वह बीमार को सूचना दे देता है कि आपरेशन किये बिना काम नही चल सकता और आपरेशन है भी खतरनाक। बेचारा बीमार खतरा उठाने के लिए तैयार हो जाता है। तब डाक्टर, स्वय अपने हाथो से, अत्यन्त सावधानी और ईमानदारी के साथ आपरेशन करता है। उसकी प्रत्येक सास से मानो यही ध्वनि निकलती है कि बीमार किसी प्रकार अच्छा हो जाय। क्योकि बेचारा वेदना का मारा, भरोसा करके मेरे पास आया है। गृहस्थी है और बाल-बच्चो वाला है। यदि इसकी जिन्दगी बच गई तो कितनो की ही जिन्दगी बच जायगी। यदि यह मर गया तो सारा घर तबाह और बर्बाद हो जायगा। इस प्रकार डाक्टर के मन मे दया का प्रवाह उठता है और करुणा का झरना बहता है। इस स्थिति मे डाक्टर आपरेशन करता है, किन्तु करते-करते कही भूल हो जाती है। नस कट जाती है और खून की धारा बह उठती है। डाक्टर की करुण भावना और

भी अधिक जागृत होती है और वह खून का वहाव रोकने के लिये हर सम्भव प्रयत्न करता है। परन्तु उसके प्रयत्न विफल हो जाते है और रोगी मृत्यु की शरण मे पहुँच जाता है।

यहाँ भी वही प्रश्न उपस्थित होता है कि डाक्टर को क्या हुआ ? कहने को तो यही कहा जा सकता है कि डाक्टर के हाथ से रोगी की मृत्यु हुई है। यदि डाक्टर आपरेशन नही करता, तो रोगी को प्राणो से हाथ न धोने पडते। कोई-कोई यह भी कहते है—डाक्टर मूर्ख है, लापरवाह है, अनाडी है! रोगी के घर वाले भी उत्तेजित हो जाते है और डाक्टर को कोसते है। उसकी प्रेक्टिस को भी धक्का पहुँचता है और गली-गली मे उसकी वदनामी होती है। दुनिया की वात जाने दीजिए, वह चाहे कुछ भी कहे। हमे तो सूक्ष्म-दृष्टि से यह देखना है कि इस सम्वन्ध मे शास्त्रकार क्या कहते है ?

शास्त्रकार कहते हैं कि डाक्टर मनुष्य की हिंसा के पाप का भागी नही है। उसने सद्भावना से, वीमार को शान्ति देने के शुभ सकल्प से और सावधानी के साथ कार्य किया है। वीमार तो स्वत मरा है, डाक्टर ने उसे नही मारा है।

इस प्रकार द्रव्य-हिंसा हुई है, भाव-हिंसा नही। इस स्थिति मे डाक्टर को पुण्य ही हुआ, पाप अशमात्र भी नही। पुण्य-पाप का सम्वन्ध तो कर्त्ता के अन्तर्जगत् से है, वाह्य जगत् से नही।

जव इन दोनो दशाओ की तुलना करके देखते है तो विस्मय-सा होता है। पहले भग मे भाव-हिंसा है, द्रव्य-हिंसा नही, और दूसरे भग मे द्रव्य-हिंसा है, भाव-हिंसा नहीं। दोनो

के परिणाम मे और प्रयोग मे कितना अन्तर है ? एक, वाहिरी हिसा न होते हुए भी हिसक है, और दूसरा, लोक दृष्टि मे हिसक होते हुए भी अहिसक है ।

जो लोग अहिसा को अव्यावहारिक कहते है, उन्हे इस सिद्धान्त पर गम्भीरतापूर्वक विचार करना चाहिए । जीवन-व्यापार मे यदि हिसा का दुसकल्प त्याग दिया जाय, निष्कपायत्व का भाव पूर्णरूप से अपना लिया जाय, तो हिसा का परित्याग हो जाता है । जैन-धर्म मुख्यत हिंसा की वृत्ति को छोडने के लिए ही कहता है । वह कहता है कि जितनी-जितनी हिसा की वृत्ति कम होगी, अर्थात् कपाय की दुर्भावना जिस अनुपात से कम होती जायगी, उसी अनुपात से अविवेक भी कम हो जायगा । इसके फलस्वरूप विवेक जागेगा और जीवन मे पवित्रता की ज्योति उत्तरोत्तर जगमगाती दिखलाई देगी ।

आचार्य भद्रवाहु ने उक्त सिद्धान्त का स्पष्टीकरण करते हुए ओघनिर्युक्ति मे कहा है —

> आया चेव अहिसा आया हिमत्ति निच्छओ एसो,
> जो होइ अप्पमत्तो अहिंसओ हिंसओ इयरो ॥७५४॥

अर्थात्—अहिसा और हिसा के सम्वन्ध मे यह एक निश्चित सिद्धान्त है कि आत्मा ही अहिसा है और आत्मा ही हिसा । जो आत्मा विवेकी है, सजग है, सावधान है, अप्रमत्त है, वह अहिसक है । इसके विपरीत जो अविवेकी है, जागृत एव सावधान नही है, प्रमाद युक्त है , वह हिसक है ।

तीसरा भग है—भाव-हिसा भी हो और द्रव्य-हिसा

भी हो। अर्थात्—हृदय की अन्तर्भूमि मे मारने की वृत्ति भी आ गई, और वाहर मे किसी को मार भी दिया। किसी को सताने की भावना भी उत्पन्न हुई, और उसे सताया भी गया। इस प्रकार की दोहरी हिसा का फल भी भाव-हिसा के समान ही जीवन को वर्वाद करने वाला होता है।

चौथा भग है—न तो भाव-हिसा हो, और न द्रव्य-हिसा हो। परन्तु यह भग हिसा की दृष्टि से शून्य है। यहा हिसा को किसी भी रूप मे स्थान नही है। ऐसी सर्वा ग परिपूर्ण अहिसा अयोग एव मुक्ति की अवस्था मे होती है। जहाँ न तो मारने की वृत्ति है, और न मारने का कृत्य ही है, यह सर्वोच्च आदर्श की स्थिति है।

इस प्रकार हिसा की वारीकियो को जब आप भली-भाँति समझ जाएगे तो अहिसा भी आपकी समझ मे अपने आप आ जाएगी।

—: ४ :—

अहिंसा की त्रिपुटी
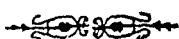
धर्म के जितने भी मार्ग है, एक तरह से सभी अहिसा के ही मार्ग है। धर्म के विभिन्न रूप भो अहिसा के ही पृथक्-पृथक् रूप है। आचरण-सम्बन्धी जितने भी विधि-विधान है, उन सब मे अहिसा उसी प्रकार व्याप्त है, जैसे समुद्र की प्रत्येक लहर मे जल। क्या सत्य, क्या अस्तेय, क्या ब्रह्मचर्य्य और क्या अपरिग्रह, सब के साथ अहिसा ही चलती है। जीवन की किसी भी ऊँची भूमिका मे, ऐसा नही है कि अहिसा छूट जाय। यह कभी भी सभव नही होगा कि अहिसा बिछुड जाय और सत्य चलने लगे, या अपरिग्रह उसे छोडकर आगे चल पडे। अहिसा-वीणा की मधुर झकार सर्वत्र सुनाई देती है। इस प्रकार अहिसा का स्वरूप विराट् है और उसी के सहारे धर्मो के समस्त नियम और उपनियम टिके हुए है।

अब यह विचार करना है कि जिस अहिसा अथवा हिसा को हम अपने जीवन के अन्दर लेकर चलते है, वह कहाँ-कहाँ और किस-किस रूप मे रहती है? जब यह बात

भली-भाँति समझ मे आ जाती है तो अहिंसा का शुद्ध रूप भी हमारे सामने स्वत उपस्थित हो जाता है ।

एक ओर शरीर है, तो दूसरी ओर आत्मा । यहाँ, एक प्रश्न उपस्थित होता है कि जो कर्म-बध होते है, वे शरीर के द्वारा होते है या आत्मा के द्वारा ? उत्तर है—जीवन मे एक प्रकार की जो चचलता और हलचल-सी रहती है, जिसे शास्त्र की परिभाषा मे योग कहते है, उसी के द्वारा कर्मों का वध होता है । यह हलचल न तो अकेले शरीर मे होती है, और न अकेली आत्मा मे , वल्कि एक-दूसरे के प्रगाढ सम्बन्ध के कारण दोनो मे समान रूप से होती है । यदि आप गहराई से विचार करेगे तो मालूम हो जायगा कि न केवल शरीर के द्वारा वधन हो सकता है और न केवल आत्मा के द्वारा । यदि केवल शरीर के द्वारा ही वधन होता तो जव आत्मा नही रहती और शरीर मुर्दा हो जाता है, तव भी कर्म-वन्धन होना चाहिये । किन्तु ऐसा नही होता । हाँ, तो समझ लीजिए कि यह शरीर तो जड वस्तु है । यह अपने आप मे कुछ नही है, अपितु यह तो मिट्टी का ढेला है, जो अपने आप कुछ भी करने वाला नही है । जब तक आत्मा की किरण नही पडती और आत्मा का स्पन्दन नही होता, तव तक शरीर कोई क्रिया नही कर सकता ? यदि उसके द्वारा अपने आप कुछ करना-धरना होता तो आत्मा के निकल जाने पर भी कर्म-बध अवश्य होता ।

प्रश्न उठता है, यदि शरीर कर्म को नही वाँधता है, तो क्या उसे आत्मा वाँधता है ? और यह जो शुभ या अशुभ जीवन-धारा वह रही है, वह शरीर मे नही, तो क्या आत्मा

मे वह रही है ? यदि आत्मा ही शुभ और अशुभ कर्मो का सचय कर रहा है, ऐसा मान लिया जाय तो जैन-धर्म की मर्यादा स्पष्ट नही होती। यदि आत्मा स्वय, बिना शरीर के कर्म-वध कर सकता है तो मुक्ति की दशा मे भी कर्म-बध होना चाहिए। वस्तुत. मोक्ष मे क्या है ? वहाँ एकमात्र सिद्धत्व रूप है, ईश्वरीय रूप है और परम विशुद्ध परमात्म-दशा है। वहाँ शरीर नही रहता, केवल आत्मा ही रहता है। यदि आत्मा ही कर्म-बध का कारण है तो सिद्धो को भी कर्म-वध होना चाहिए। वहाँ भी शुभ और अशुभ कर्म होने चाहिएँ। किन्तु ऐसा होता नही है। वहाँ आत्मा कर्म-बध से अतीत, विशुद्ध ही रहती है। अतएव स्पष्ट है कि अकेला आत्मा भी कर्मो का वध नही करता।

अस्तु, यह स्पष्ट है कि कर्म-बन्ध होता है, आत्मा और शरीर के सयोग से। जब तक ये दोनो मिले रहते है, तब तक ससारी दशा मे कर्म-बन्ध होता रहता है। परन्तु जब ये दोनो अलग-अलग हो जाते है, न केवल स्थूल-शरीर ही, अपितु सूक्ष्म-शरीर भी आत्मा से अलग हो जाता है, तो इस अवस्था मे कर्म-बन्ध का सर्वथा अन्त हो जाता है। इस प्रकार आत्मा और शरीर के सयोग पर ही कर्म-बन्ध आधारित है।

कल्पना कीजिए—भग है और वह अधिक से अधिक तेज घोट कर रखी गई है। अब प्रश्न यह है कि उसका जो नशा है, और नशे के प्रभाव से जो पागलपन रहता है, वह भग मे है या पीने वाले मे है ? यदि पीने वाले मे है तो भग पीने से पहले भी उसमे उन्माद और दीवानापन होना चाहिए था।

किन्तु ऐसा है तो नही । भग पीने से पहले पीने वाले मे पागलपन नही होता ।

अब विचार यह होता है, यदि पीने वाले मे और उसकी आत्मा मे नशा नही है, मादकता भी नही है—तो क्या भग मे है ? यदि भग मे ही है तो भग जब घोट-छानकर गिलास मे रखी हो तब उसमे भी दीवानापन आना चाहिए । किन्तु देखते है, वहाँ कुछ नही है । वह वहाँ शान्त रूप मे, लोटे या गिलास मे पडी रहती है । परन्तु जब पीने वाले का सग होता है तब जाकर नशा खिलता है, उन्माद और पागलपन भी आता है । तात्पर्य यह हुआ कि अकेली भग और अकेले आत्मा मे नशा नही है, बल्कि जब दोनो का सग होता है तभी मादकता पैदा होती है ।

हाँ, तो अकेले शरीर पर दोषारोपण मत कीजिए, और न अकेले आत्मा को ही अपराधी समझिए । जब आत्मा निस्सग हो जाती है और विशुद्ध बन जाती है, तब उसमे कोई हरकत या स्पन्दन नही रह जाता । इसी को योग-निरोध कहते है । जब तक आत्मा और शरीर का ऐहिक ससर्ग है, तब तक योग है, और जब तक योग है, तभी तक कर्म-बन्ध है ।

इस प्रकार जैन-धर्म का दृष्टिकोण स्पष्ट है, अर्थात्—हिसा की धारा किन-किन नालियो द्वारा बह रही है ? आत्मा के द्वारा हिसा होती है, किन्तु वह शरीर के माध्यम से ही होती है । शरीर मे मन और वचन की धारा भी बहती है । ये तीनो 'योग' कहलाते है ।

अब प्रश्न यह है कि हम हिंसा पर प्रतिबन्ध लगाएँ तो किधर से लगाएँ ? हम स्थूल शरीर को भी पाप करने से रोक देते है, वचन को भी असद् भाषण से रोक देते है और मन को भी अशुभ संकल्पो से हटा लेते है। शरीर पर नियन्त्रण रखने से शरीर के द्वारा होने वाले पाप रुक जाते है, वचन पर अधिकार रखने से वचन द्वारा होने वाले पाप रुक जाते है, और मन पर अंकुश लगा देने से मानसिक पाप रुक जाते है।

इस प्रकार मन, वचन, और शरीर—ये तीन हिंसा और अहिंसा की आधार भूमिकाएँ है, और आगे चलकर इन तीनो के भी तीन-तीन भेद हो जाते है। मन से स्वयं हिंसा करना, दूसरे से करवाना, और हिंसा करने वाले के कार्य का अनुमोदन-समर्थन करना। इसी प्रकार वचन और शरीर के साथ भी ये तीनो विकल्प चलते है। इन विकल्पो का अन्त इतने मे ही नही हो जाता है, अपितु वे और भी आगे चलते है। किन्तु मै प्रस्तुत चर्चा को उन शास्त्रीय विकल्पो तथा भंगो की लम्बाई मे नही ले जाना चाहता। हमे हिंसा के सम्बन्ध मे जानकारी प्राप्त करने के लिए फिलहाल यही तक सीमित रहना है।

जैन श्रावक (गृहस्थ) दो करण* तथा तीन योग से हिंसा का परित्याग करता है। अर्थात्—वह न तो मन, वाणी और

* कृत, कारित, और अनुमोदित—ये तीन करण हैं। इसी प्रकार मन, वचन और शरीर—ये तीन योग हैं।

शरीर द्वारा स्वय हिंसा करता है, और न मन, वाणी और शरीर द्वारा अन्य किसी से हिंसा करवाता ही है।* यहाँ अनु-मोदन की छूट है। अब प्रश्न यह है कि एक आदमी स्वय काम करता है और उससे पाप-बन्ध होता है। दूसरा स्वय करता नही, अपितु दूसरो से करवाता है और उससे भी पाप-बन्ध होता है। तीसरा स्वय करता भी नही, करवाता भी नही, सिर्फ करने वाले का अनुमोदन या सराहना करता है और उससे भी पाप-बन्ध होता है। किन्तु मूल प्रश्न तो यह है कि इन तीनो मे से किस स्थिति मे पाप ज्यादा है ? तीनो विकल्पो से आने वाला पाप समान है या न्यूनाधिक ?

आपके सामने मैने जो प्रश्न उपस्थित किया है, उस पर तनिक गम्भीरता से विचार करने की आवश्यकता है। इससे पहले आपको भली-भाँति मालूम भी है कि जैन-धर्म अनेकान्त-वादी धर्म है, एकान्तवादी नही। वह प्रत्येक सिद्धान्त को विभिन्न दृष्टिकोण से देखता है। ऐसी स्थिति मे धर्म, पुण्य या पाप का निर्णय देते समय वह एकपक्षीय निर्णय कैसे देगा ? अस्तु, जैन-धर्म इस प्रश्न का निर्णायक उत्तर विचारो की विभिन्नरूपता पर ही छोड देता है। अतएव विचारो का जो प्रवाह आता है, वह भी विभिन्न रूपो मे प्रकट होता है, अर्थात्—एक व्यक्ति को किसी रूप मे, और दूसरे को दूसरे ही रूप मे प्रकट होता है। उसकी गति कही तीव्र होती है, तो कही मन्द। जब तक उसकी भूमिका नीची रहती

---

* गृहस्थ को सकल्प-पूर्वक निरपराध प्राणियो की स्थूल हिंसा का परित्याग करना होता है।

है और राग-द्वेष का आधिक्य होता है, तब तक विकल्पात्मक विचारो के प्रवाह मे भी तीव्रता होती है। जैसे पृथ्वी का ढलाव पाकर पानी का प्रवाह तेज हो जाता है, उसी प्रकार जीवन की नीची भूमिका मे सकल्प और विकल्पो का प्रवाह भी तीव्रता धारण कर लेता है। जैसे ढलाव मे बढने वाले पानी का प्रवाह अनियन्त्रित हो जाता है, उसी प्रकार जीवन की भूमिका जब नीची होती है तो विचारो का प्रवाह भी अनियत्रित रहता है। इसके विरुद्ध जब साधक की भूमिका ऊँची होती है और राग-द्वेष मन्द होते है, तब साधक प्रत्येक कार्य मन्दभाव या अनासक्त भाव से करता है और उसमे यथासभव तटस्थ बुद्धि भी रखता है। विवेक-विचार से काम लेता है और उसका हर कदम नियत्रण के साथ बढता है। इस तरह वह चलता भी है और रुकता भी है।

जीवन की गाडी के सम्बन्ध मे एक बार पहले भी कह चुका हूँ। गाडी मे दोनो प्रकार के गुण होने चाहिएँ—आवश्यकता होने पर वह चल सके और आवश्यकता होने पर यथा अवसर रोकी भी जा सके। यदि वह मोटर है तो उसमे चलने का, और समय पडने पर ब्रेक लगाते ही रुकने का गुण भी होना चाहिए। हाँ, तो जीवन की गाड़ी को भी जहाँ साधक ठीक समझता है, वहाँ चलाता है और यथा अवसर रोक भी लेता है। वह अपने मन, वचन और शरीर से काम लेता है और जब चाहता है, तब उनकी गति को रोक भी सकता है। वह हरकत तो करेगा ही, जीवन को मास का पिण्ड बनाकर नही रखेगा। यदि रखेगा भी तो

कहाँ तक ? आखिर जीवन तो जीवन है, और वह भी मानव का जीवन। अस्तु, जीवन को जीवन के वास्तविक रूप मे ही व्यतीत करना है, जड रूप मे निष्क्रिय नही बनाना है। जगत् मे जीवन तो जीवन के ही रूप मे रहेगा, जड के रूप मे नही रह सकता। उसमे स्पन्दन का होना अनिवार्य हे। यदि हठात् शरीर और वचन पर ताला डाल भी दिया जाय तब भी मन का क्या होगा ? वह तो अपने चचल स्वभाव के कारण उछल-कूद करता ही रहेगा। वह हजारो प्रकार के बनाव और बिगाड करता रहता है। मन राजा है। भला, उस पर सहसा ताला किस प्रकार लगाया जा सकता है ? अस्तु, जीवन है तो ये सब हरकते भी रहेगी ही। किन्तु साधक मे इतना सामर्थ्य आना चाहिए कि उसके जीवन की गाडी जब कभी गलत रास्ते पर जाने लगे, तब वह उसे रोक दे और यथाशीघ्र सही रास्ते पर ले आए।

हाँ, तो एक साधक स्वय काम करता है। यदि उसमे विवेक है, विचार है और चिन्तन है, तो वह यथाअवसर चलता भी है और इधर-उधर के पाप-प्रवाह को कम भी करता है। यदि चलते समय कोई कीडा मार्ग मे आ गया, बालक आ गया या बूढा आ गया तो उन्हे अवश्य बचा देता है। क्योकि उसे चलना है, पर विवेक के साथ।

हमारे यहाँ भारतीय सस्कृति की परम्परा मे चलने के लिए भी नियम है। यदि सामने से बालक आ रहा है और रास्ता तग है, तो वयस्क पुरुष या स्त्री को किनारे पर खडा हो जाना चाहिए और उस बालक को पूरी सुविधा देनी

चाहिए। उसका सम्मान करना चाहिए। बालक दुर्बल है और उसे इधर-उधर भटकाना उचित नही, क्योकि वह गडबड मे पड जायगा। इसलिए उसे सीधे नाक की राह जाने दो। यदि कोई बहिन आ रही है तो भारतीय सस्कृति का तकाजा है कि पुरुष को बचकर एक ओर खडा हो जाना चाहिए और उस बहिन को सीधी राह से चलने देना चाहिए। यदि कोई वृद्ध आ रहा है तो नौजवान को अलग किनारे खडा हो जाना चाहिए और वृद्ध को इधर-उधर नही होने देना चाहिए। उसकी वृद्धावस्था का ख्याल रखकर उसे सुविधा के साथ चलने देना चाहिए। यदि कोई राजा आ रहा है तो प्रजा का कर्त्तव्य है कि वह राजा को रास्ता दे और किनारे खडी हो जाय। पहले राजा थे, अब इस जमाने मे नेता या सरक्षक होते है। न मालूम वे कहाँ और किस महत्त्वपूर्ण कार्य के लिए जा रहे है। उनके रास्ते मे रोडा क्यो अटकाया जाय? और यदि सामने से साधु सत आ रहे हो, तो राजा को भी रास्ता बचाकर सामान्य प्रजाजन की भाँति किनारे खडा हो जाना चाहिए और साधु को सीधा चलने देना चाहिए।

अब यह प्रश्न उपस्थित होता है कि साधु को भी कही रुकना चाहिए या नही? सभ्यता और सस्कृति की आत्मा अपने आप ही बोल उठती है कि साधु चल रहा है और सामने से कोई मजदूर वजन लादे आ रहा है, तो साधु को भी रास्ता छोडकर किनारे खडा हो जाना चाहिए। जो मजदूर भार लेकर चल रहा है और एक-एक कदम बोझ से लदा चला

आ रहा है, वोझ से हाँफता और पसीने से लथपथ हुआ चल रहा है, तो उसे हटने के लिए कभी नही कहना चाहिए। चाहे कोई राजा हो या साधु-सत हो, उस मजदूर के लिए सवको हटना चाहिये।

यह सब क्या है ? यही कि चलने के साथ जरूरत पडने पर 'ब्रेक' लगाना है। इसी प्रकार आवश्यकता होने पर अपने जीवन को रोक भी लेना चाहिए। यह नही कि गाडी छूट गई तो वस छूट ही गई। वह कही भी टकराये किन्तु हम तनिक भी इधर-उधर न होगे ! नही, साधक को वच कर चलना चाहिए। आशय यह है कि जीवन की जो भी गतियाँ है, उनमे खाना, पीना, पहनना आदि सभी कुछ सम्मिलित है। उन सव मे प्रवृत्ति भी करनी है और निवृत्ति भी। प्रवृति करते समय वातावरण, समय, व्यक्ति और स्थान आदि का यथोचित ध्यान रखना आवश्यक है। जीवन की गति को विवेक पूर्वक रोके भी रखना है और आगे भी वढाना है।

इतनी भूमिका के वाद इस प्रश्न का उत्तर सरल हो जाता है कि करने मे ज्यादा पाप है, या कराने मे, अथवा अनुमोदन मे ज्यादा पाप है ? पहले ही कहा जा चुका है कि जैन-धर्म अनेकान्तवादी धर्म है। इसी दृष्टिकोण से यहाँ भी वास्तविकता का पता लगाया जा सकता है।

जो साधक स्वय दक्षता-पूर्वक काम कर सकता है किन्तु वह स्वय न करके किसी ऐसे व्यक्ति से, जिसकी भूमिका उस काम के योग्य नही है, जो उस काम को विवेक के साथ नही

कर सकता है, यदि आग्रहपूर्वक करवाता है तो ऐसी स्थिति मे करने की अपेक्षा करवाने मे ज्यादा पाप होता है। हमारे सत प्राय एक कहानी कहा करते है —

किसी के घर नव-बधू आई। धनिक बाप की पुत्री होने के कारण वह मायके मे घरेलू काम-काज नाममात्र को ही करती थी। अत घर-गृहस्थी के काम मे उसको निपुणता प्राप्त न होना स्वाभाविक था।

घरेलू काम-काज मे निपुण न होते हुए भी कोई भी नव-बधू यह नही चाहती कि उसकी मौजूदगी मे सास या ननद भोजन बनावे। अतएव अपने उत्तरदायित्व को पहिचान कर बधू ने भोजन बनाने की रुचि प्रकट की और रसोई-घर मे जा पहुँची। परन्तु सास को यह मालूम था कि उस की पुत्र-बधू भोजन बनाना नही जानती, अत उसने बहू से कहा —

—तू रहने दे बहू, मै ही खाना बना लूँगी।

बहू—मेरे रहते हुए यह कैसे हो सकता है कि आप खाना बनाएँ?

सास—अरी मुझे मालूम है कि तू भोजन बनाना नही जानती, इसलिए रहने भी दे!

बहू—यह कैसे मालूम हुआ कि मै भोजन बनाना नही जानती? इस दोष को सदैव के लिए दूर करने के लिए मै अभी भोजन बनाकर दिखाए देती हूँ।

यह कहकर बहू भोजन बनाने मे जुट गई, और आटा गूँदना शुरू कर दिया, किन्तु विचारो की अस्थिरता के कारण

आटे मे पानी अधिक पड गया। जिसका कुपरिणाम यह हुआ कि पानी के आधिक्य ने आटे का लचीलापन समाप्त कर दिया। इस दृश्य को सास गम्भीरता-पूर्वक देख रही थी। भला इस अवसर पर वह कैसे चुप रहती ? अस्तु बुढिया वोली।

—वहू रानी, मैने तो पहले ही कहा था कि भोजन मे ही वना लूँगी ! क्योकि तुझे भोजन वनाने का अभ्यास नही है। देखले, तेरे हाथ से आटा पतला हो गया न ? घर मे और आटा भी नही है, जिससे आटे के पतलेपन को दूर किया जा सके !

सास के कथनानुसार अपनी अनुभव-हीनता प्रमाणित हो जाने पर, वहू सहसा सहम-सी गई। परन्तु किसी भी उपाय द्वारा पतले आटे का उपयोग करना ही था, अत धीरज धारण कर विनम्र भाव से वोली।

—तो माता जी, किस उपाय के द्वारा इस पतले आटे को ठीक किया जा सकेगा ?

सास—ऐसे पतले आटे के तो पूए ही वन सकते है ? सो मै वनाए देती हूँ।

वहू—इसके पूए तो मै ही वना लूँगी। आप मेरे पास ही वैठी रहे, और आवश्यकतानुसार सकेत देती रहे।

वहू के सादर निवेदन को स्वीकार कर बुढिया वही वैठी रही, और पूए वनाने के लिए आटे को कुछ और पतला करने के लिए, वहू को थोडा-सा पानी डालने को कहा। सकेत मिलते ही वहू ने पानी डालना शुरू किया, और किसी

सनक मे इस बार भी पानी अधिक पड गया। इस वार आटे का रूप ही वदल गया, अर्थात्--श्वेत रग का कोई पतला और तरल पदार्थ दिखाई देने लगा।

आटे की इस दुर्दशा ने चाहे बहू को चिन्तित और खिन्न-चित्त न बनाया हो, किन्तु बुढिया के मन को गहरी ठेस पहुँची, और उसी गम्भीर भाव से वह बोली।

--अरी लक्ष्मी! मैने तो पहले ही कहा था कि तू अपनी चतुराई मत कर, किन्तु तू कव मानने वाली थी। अब फैकने के सिवाय इसका और कुछ न बनेगा।

बहू--फैकने का काम तो मै बिना किसी के बताए ही कर लूँगी। भला, इस काम मे कौन-से शास्त्रीय ज्ञान तथा गुरू के उपदेश की जरूरत है? यह कहते हुए आटे के वर्तन को उठाकर उसे सडक पर फैकने चली और जब ऊपर की मजिल की खिडकी के पास पहुँच गई, तब नीचे से बुढिया ने पुकार कर निर्देश दिया--

--अरी, तू अपनी जिद्द मे इसे ले तो गई है, किन्तु भले आदमी को देखकर ही फैकना!

आज्ञाकारिणी पुत्र-वधू इस अन्तिम अवसर पर सास के उपदेश का भला कैसे उल्लघन करती? वह किसी भले आदमी के आने और खिडकी के नीचे से गुजरने की प्रतीक्षा करती रही। इतने मे ही कोई भला आदमी आता हुआ दिखलाई दिया, और ज्यो ही वह खिडकी के नीचे आया, त्यो ही बहू ने ऊपर से उसके ऊपर आटे का पानी डाल दिया।

सचमुच यदि कोई भला आदमी होता तो शायद उसकी ओर से इतनी उत्तेजना भी पैदा न होती। किन्तु दुर्भाग्य-वश वह आदमी सज्जन कहलाने वाले व्यक्तियो मे से न था। अपने को आटे के पानी से तरवतर पाकर वह उत्तेजित हो उठा और अपने स्वभाव के अनुसार वेसिर-पैर की अनर्गल वाते वकने लगा। उसकी उत्तेजनापूर्ण वकवास को सुनकर राह चलने वाले लोग इकट्ठे हो गए, और उस व्यक्ति को समझा-वुझाकर विवाद का निपटारा कर दिया।

आटे के भाग्य का अन्तिम फैसला करके जव नव-वधू ऊपर से नीचे आ गई, तो सास ने पूछा —

अरी पगली! यह तूने क्या किया? क्या मेरे वतलाने का यही सतोपजनक फल होना चाहिए था?

वहू वोली—माता जी, व्यर्थ मे क्यो विगडती हो? जैसा आपने वतलाया, वैसा ही तो मैने किया। क्या आपने यह नही कहा कि भले आदमी को देखकर ही पानी डालना? वहू के इस मूर्खतापूर्ण कथन को सुनकर, सास ने अपना माथा ठोककर गहरी साँस लेते हुए कहा—हाय रे भाग्य! जो ऐसी सुलक्षणा पुत्र-वधू मिली।

हाँ, तो उपर्युक्त कथन का यही तात्पर्य है कि—कोई वहिन हो या कोई भाई हो! सवकी जीवन-यात्रा का एक ही मार्ग है। ऐसा भूलकर भी नही है कि महिलाओ के लिए कोई अलग पगडडी वनी हो, और पुरुषो के लिए कोई दूसरी। सभी के लिए केवल एक पगडडी है, और वह है—'विवेक' की। यदि हमारा विचार सुस्थिर है, और विवेक

अभीष्ट लक्ष्य-विन्दु मे केन्द्रित है, तो किसी कार्य को स्वय करना अथवा दूसरो से करवाना, दोनो ही प्रकार के मार्ग निश्चित रूप से ठीक होगे। विवेक के द्वारा ही पापो के प्रवाह से वचा जा सकता है। किन्तु जहाँ अविवेक का वाहुल्य है, अज्ञान है, फिर भी मनुष्य आग्रहपूर्वक काम करता या करवाता है और यथा प्रसग ब्रेक नही लगाता है तो अधिक पापार्जन करता है।

जब शरीर पर नही, तो वचन पर ब्रेक कैसे रह सकता है? अस्तु अविवेकी मनुष्य इस प्रकार काम करता है जिससे ज्यादा हिसा होती है और फिर उसकी प्रतिक्रिया सब ओर अशुद्ध वातावरण बना देती है। अच्छा, तो मतलव यह कि जहाँ अविवेक है, वहाँ करने मे भी ज्यादा पाप है और कराने मे भी ज्यादा पाप है। इसके विपरीत जहाँ विवेक है, वहाँ स्वय करने मे भी और दूसरो से कराने मे भी पाप कम होता है।

एक वहिन जो विवेकवती है, यदि वह स्वय काम करती है, तो समय पडने पर जीवो को वचा देगी, चीजो का अपव्यय नहीं करेगी और चौके की मर्यादा को अहिसा की दृष्टि से निभा सकेगी। सेठानी और हमारी वी० ए० तथा एम० ए० पास बहिने स्वय काम न करके यदि एक अनजान नौकरानी को काम सौप दे, जिसे कुछ पता नही कि विवेक क्या है? वह रोटियाँ सेककर आपके सामने डाल देती है, पर उसमे चौके की अहिसा-सम्वन्धी मर्यादा की बुद्धि नही है। अहिसा की सस्कृति के सम्वन्ध मे कोई स्पष्ट विचार-

धारा उसे नही मिली। इस स्थिति मे यदि वह भोजन बनाने के काम पर बिठादी गई है तो समझिए कि कराने मे ही पाप ज्यादा होगा। यदि कोई बहिन स्वय विवेक के साथ कार्य करेगी, कदम-कदम पर अहिंसा का विवेक लेकर चलेगी और अन्तर मे दया एव करुणा की लहर उद्बुद्ध होगी तो, उसे ख्याल होगा कि खाने वाले क्या खाते है और वह उनके स्वास्थ्य के अनुकूल है या प्रतिकूल! किन्तु उसने आलस्यवश स्वय कार्य न करके विवेकशून्य नौकरानी के गले मढ दिया तो वह कब देखने लगी कि पानी छना है या नही, आटा देखा गया है या नही, कीडे-मकोडे पडे है या नही? इस तरह वह चौके को सहार-गृह का रूप दे देती है। किसी तरह रोटियाँ तैयार हो जाती है और आपके सामने रख दी जाती है। यहाँ कराने मे भी ज्यादा पाप होता है।

इस प्रकार सत्य का महान् सिद्धान्त आपके सामने आ गया है। इसके विरुद्ध और कोई बात नही कही जा सकती, और यह सिद्धान्त जैसे गृहस्थो पर लागू होता है, उसी प्रकार साधुओ पर भी। कल्पना कीजिए—किन्ही गुरुजी के पास एक शिष्य है। गुरुजी को गोचरी-सबन्धी नियम-उपनियम, विधि-विधान, सबका परिज्ञान है और शिष्य को भिक्षा-सम्बन्धी दोषो का ज्ञान नही है। नियमो और विधानो को भी वह अभी तक नही सीख-समझ पाया है। वह गोचरी का अर्थ केवल माल इकट्ठा करना ही जानता है। ऐसी स्थिति मे यह समझना कठिन नही है कि गुरुजी यदि स्वय गोचरी करने जाते तो विवेक का अधिक ध्यान रख सकते

थे। पर वे स्वय गोचरी करने नही गये और विवेकहीन शिष्य को भेज दिया। उसे पता नही कि किसे, कितनी, और किस चीज की आवश्यकता है ? जिस घर से भिक्षा ले रहा है वहाँ बूढो और बच्चो के लिए बच रहता है या नही ? उसे प्राणियो की हिसा का भी कोई विशेष ध्यान नही है। यह शिष्य गोचरी मे दोषो का भडार ही लेकर आएगा। इस प्रकार स्वय करने की अपेक्षा दूसरो से करवाने मे ज्यादा हिसा हो जाती है।

भारतीय सस्कृति, और उसमे भी विशेषत जैन-धर्म की यह शिक्षा है कि हर काम विवेक से करना चाहिए। विवेक और चिन्तन हर काम मे चालू रहना चाहिए। इस प्रकार किसी कार्य को स्वय करने और दूसरो से करवाने मे पाप की न्यूनाधिकता विवेक और अविवेक पर निर्भर करती है। विवेक के साथ 'स्वय' करने मे कम पाप है, जब कि अविवेक-पूर्वक दूसरे अयोग्य व्यक्ति से कराने मे अधिक पाप है। दूसरी ओर अविवेक से साथ स्वय करने मे अधिक पाप है, जब कि उसी कार्य को विवेक के साथ दूसरे योग्य व्यक्ति से कराने मे कम पाप है। यह जैन-धर्म की अनेकान्त दृष्टि है।

तीसरा करण अनुमोदन है। एक आदमी स्वय काम नही करता, दूसरो से करवाता भी नही, केवल काम करने वालो की सराहना करता है। कही लडाई हुई, इतने जोर से कि सिर फट गये। एक तमाशबीन बाजार के एक सिरे से दूसरे सिरे तक लडाई और सिरफुटौव्वल का समर्थन करता जाता है। वह कहता है—'वाह ! आज बिना पैसे कैसा बढिया तमाशा

देखने को मिला ! वडा मजा आया । वहुत अच्छा हुआ कि उसका सिर फूटा और उसकी हड्डी का कचूमर निकल गया । आप स्वय सोचिये—ऐसा कहकर लडाई का अनुमोदन करने वाला कितना कर्म-वन्ध कर रहा है ? वह कितने घोर अज्ञान मे फँस रहा है ? उसने स्वय लडाई की नही, दूसरो से करवाई भी नही, फिर भी सम्भव है वह लडने वालो से भी अधिक कर्म वॉध ले । लडने वाले आवेग मे लडे है । उनकी हिंसा विरोधी की और अपराधी की हिंसा हो सकती है, और सप्रयोजन भी हो सकती है । किन्तु अनुमोदन करने वाला व्यर्थ ही पाप की गठरी सिर पर लाद रहा है । अपराधी की हिंसा तो श्रावक के लिए क्षम्य हो सकती है, परन्तु इस प्रकार के अनुमोदन की व्यर्थ हिंसा श्रावक के लिए कथमपि क्षम्य नही है । यहाँ करने और कराने की अपेक्षा अनुमोदन मे अधिक हिंसा है ।

जीवन मे जव हम चलते है तो एकान्त पक्ष लेकर नही चल सकते । जैनधर्म कहता है कि कभी करने मे, कभी करवाने मे और कभी अनुमोदन मे ज्यादा पाप हो जाता है ।

एक भाई की वात मेरे ध्यान मे है । उसने अपने एक नौकर को फल लाने के लिए भेजा । नौकर ग्रामीण था, वालक था, अज्ञान था । वह सडे हुए फल ले आया । वह ले तो आया, किन्तु उस पर हजार-हजार गालियाँ पडी । उस भाई ने स्वय वतलाया कि मुझे उस समय इतना आवेश आया कि दो-चार चॉटे भी जड दिये ।

मैने उस भाई से कहा—तुमने ऐसे वालक को भेजा ही

क्यो ? जिसे ज्ञान नही था, खरीदने के विषय मे जिसे कुछ भी विवेक नही था । अब कहते हो, गुस्सा आ गया, किन्तु उस समय अपनी गलती नही मालूम की कि मै किसे भेज रहा हूँ ? तुम्हारी अपनी गलती से ही गुस्सा, आवेश और मारने-पीटने की मनोवृत्ति जगी, और फल फैकने पडे । दोष तुम्हारा था, किसी और का नही । तुम्हारे ही कारण इतना बवण्डर मचा । यदि विवेकपूर्वक तुम स्वय काम करते तो इतनी गलत चीजे क्यो होती ? तुम्हे क्यो घृणा और आवेश होता ? और मार-पीट भी क्यो करनी पडती ?

जीवन मे इस प्रकार की जो साधारण घटनाएँ होती है, उन्ही से हम जीवन का निर्णय-सूत्र तैयार करते है और समझ लेते है कि विवेकपूर्वक काम करने से पाप कम होता है । अनजान से काम कराया तो उसने न जाने कितने जीवो की हिसा की । इसके अतिरिक्त अपने मन मे और नौकर के मन मे आवेश, घृणा आदि के कारण जो मानसिक-हिसा और भाव-हिसा हुई, सो अलग ।

जीवन के ये दृष्टिकोण कुछ नये नही है, बहुत पुराने युग से यो ही चलते आ रहे है । जैन-धर्म के कुछ इतिहास सम्बन्धी पुराने पन्ने मै आपके सामने ला रहा हूँ, जिनसे पता चलेगा कि जैन-सस्कृति ने जीवन मे कभी कुछ ऐसे प्रश्न छेडे है, जहाँ मनुष्य को कराने की अपेक्षा करने की ओर खीचा है और सकेत किया है कि कही करने से कराने मे ज्यादा पाप होता है ।

जैन इतिहास का पहला अध्याय कहाँ से प्रारम्भ होता

है ? भगवान् ऋषभदेव से। वही से हम जीवन की कला सीखते है। भगवान् ऋषभदेव के समय, उनके वडे पुत्र भरत को चक्रवर्ती वनने का प्रसग आया। वे लडाइयाँ लडते रहे। भारत की समस्त भूमि पर उनका स्वामित्व स्थापित हो गया। रह गए उनके भाई, जिन्होने उनका अधिपत्य स्वीकार नही किया था। भरत ने सोचा—जव तक भाई भी मेरे सेनाचक्र के नीचे न आ जाएँ तव तक चक्रवर्त्ती का साम्राज्य पूरा न होगा।

यह सोचकर भरत ने अन्य भाइयो के पास, खासकर वाहुवली के पास भी दूत भेजा। वाहुवली प्रचण्ड वल के धनी और अभिमानी थे। उन्होने भरत की अधीनता स्वीकार करने से साफ इन्कार कर दिया। परिणाम यह हुआ कि भरत और वाहुवली की विशाल सेनाएँ मैदान मे आ डटी। जव दोनो ओर की सेनाएँ जूझने को तैयार थी, सिर्फ शख फूँकने भर की देर थी कि वाहुवली के चित्त मे करुणा की एक मीठी लहर पैदा हुई।

वैसे तो इस प्रसग पर इन्द्र के आने की वात आपने सुनी होगी। वहुत-सी लडाइयो मे इन्द्र को वुलाया जाता है। किन्तु इतिहास के मूल मे यह वात नही है। कोई कारण नही कि लडाई से होने वाली हिंसा की कल्पना करके इन्द्र का अन्त करण तो करुणा से परिपूर्ण हो जाय और वाहुवली जैसे अपने जीवन की भीतरी तह मे विरक्ति-भाव, अनासक्ति-भाव और करुणा-भाव धारण करने वाले के चित्त मे इन्द्र के वरावर भी करुणा न हो। आचार्य जिनदास महत्तर ने

आवश्यक चूर्णि मे इन्द्रो के आने का उल्लेख नही किया है। स्वय बाहुबली के हृदय मे ही करुणा के स्रोत का उमडना लिखा है। दिगम्बर परम्परा भी ऐसा ही मानती है।

किन्तु वास्तविकता यह है कि बाहुबली ने देखा—भरत को चक्रवर्त्ती बनना है और मै उसके पथ का रोडा हूँ। तब मेरा स्वाभिमान मुझे आज्ञा देता है कि भरत की आज्ञा स्वीकार न करूँ, क्योकि वह अनुचित आज्ञा है। भाई को, भाई से भाई के रूप मे सेवा लेने का अधिकार है। भरत बडे है, मै छोटा हूँ। इस हैसियत से मै हजार बार सेवा करने को तैयार हूँ। किन्तु मै भाई बनकर ही आज्ञा उठाऊँगा, दास या गुलाम बनकर नही।

बाहुबली की वृत्ति मे यही मूल चिन्तन था। उन्होने सोचा—भरत है, जो चक्रवर्त्ती बनने को तैयार है, और मै हूँ, जो स्वाभिमान को तिलाँजलि नही दे सकता। हम दोनो अपनी-अपनी बात पर अटल रहने के लिए ही तलवारे लेकर मैदान मे आये है। अब तो प्रश्न भरत का और मेरा है। बेचारी यह गरीब प्रजा क्यो कट-कटकर मरे ? हम दोनो के झगडे मे हजारो-लाखो मनुष्य दोनो तरफ के कट मरेगे, कितना भीषण नर-सहार होगा, न मालूम कितनी सुहागिनो का सौभाग्य सिदूर पुँछ जायगा, कितनी हजार माताएँ अपने कलेजो के टुकडो के लिए विलाप करेगी, कौन जाने कितने पिता अपने पुत्रो के लिए और कितने पुत्र अपने पिताओ के लिए हजार-हजार आँसू बहाएँगे ?

बाहुबली ने भरत के पास सन्देश भेजा—'आओ भाई ! इस

लडाई का फैसला हम और तुम दोनो आपस मे कर ले। यह उचित नही कि प्रजा लडे और हम लोग अपने-अपने डेरो मे बैठे दर्शको की तरह लडाई देखते रहे। अच्छा हो, सिर्फ हम दोनो ही आपस मे लडे और इस व्यर्थ के नर-सहार को समाप्त करे।

इसका क्या अर्थ हुआ ? यही कि कराएँ नही, स्वय करे। कराने मे जो विराट हिसा थी, उसे स्वय करने मे सीमित कर दिया। हाँ, तो दोनो भाई लडाई के मैदान मे उतर आये। आँखो का युद्ध हुआ, मुष्टि का युद्ध हुआ। इस सीमित युद्ध मे भी अहिसा की उल्लेखनीय सीमा यह है कि मरना-मारना किसी को नही है। केवल जय और पराजय का निर्णय करना है। फिर यह निर्णय तो खून की एक भी बूँद बहाए बिना उक्त तरीके से भी हो सकता है। ससार के इतिहास मे यह सर्वप्रथम अहिसक युद्ध था।

यहाँ जैन-धर्म का एक सुन्दर दृष्टिकोण परिलक्षित होता है, और जब मै इस पर विचार करता हूँ तो बाहुबली को हजार-हजार धन्यवाद देने पडते है। उनके मन मे करुणा की वह उज्ज्वल धारा आई कि उन्होने हजारो-लाखो आदमियो को गाजर-मूली की तरह कटने से बचा लिया। उन्होने स्वय लडने की अपेक्षा दूसरो को लडवाने मे अपने जीवन को अधिक मैला देखा। जैन-धर्म का वह युग-पुरुष जब युद्ध करवाने की अपेक्षा स्वय युद्ध करने को उद्यत हुआ तो उसके उस महान् ऐतिहासिक निर्णय का अग-अग चमकने लगा।

आगे फिर जैन इतिहास के पन्ने उलटिए। भगवान्

मुनिसुव्रत स्वामी का युग रामायण काल है। रामायण जैन-सस्कृति की दृष्टि से पद्मपुराण के रूप मे है। आचार्य हेमचन्द्र ने भी रामायण की कथा लिखी है और आचार्य विमल ने भी। भगवान् महावीर के पाँच-सौ वर्ष बाद जो विमल रामायण लिखी गई है, वह प्राकृत भाषा मे है। उसे आप पढेगे तो मालूम होगा कि उसमे युद्ध के फैसले का एक नया अध्याय है।

एक ओर बाली है और दूसरी ओर रावण। बाली से अपना अधिकार मनवाने के लिए, उसे अपने सेवक के रूप मे रखने के लिए रावण एक बडी सेना लेकर किष्किन्धा पर चढ आता है। दूसरी तरफ से बाली की विशाल सेना भी डट जाती है, दोनो ओर के सेनापति इस इन्तजार मे थे कि कब युद्ध का शख बजे, तलवारे चमके और रणभूमि रक्त-स्नान करे। उसी समय बाली युद्ध के मैदान मे आ पहुँचा। सबसे पहले उसके मन मे यह तर्क उत्पन्न हुआ कि 'आखिर इन दोनो जातियो के लड-मर जाने से क्या होगा ? लाखो इन्सान मौत के घाट उतर जाएँगे, पर नतीजा क्या निकलेगा ? जय-पराजय का प्रश्न तो मेरा और रावण का है। यहाँ तो व्यक्तिगत दावा है और व्यक्तिगत महत्त्वाकाक्षा है। मै और रावण विजेता के रूप मे रहना चाहते है। इसमे इन गरीबो को क्या मिल जाने वाला है ? क्यो इन्हे सिर कटवाने के लिए मैदान मे खडा कर दिया गया है ?'

आखिर, बाली ने रावण के पास सदेश भेजा—"तू बडा है और तेरी शक्ति की दुनिया पूजा भी करती है। फिर वह शक्ति वास्तव मे है कहाँ ? तेरे अन्दर है या प्रजा मे ? और इधर मेरे

मन मे भी महत्वाकांक्षा है। यदि मे तुझे सम्राट् नही मानता, तो मेरी प्रजा इसके लिए क्यो उत्तरदायी हो? अत आओ, तुम और हम दोनो ही क्यो न लड ले? प्रजा को अकारण क्यो लडाएँ?"

जैन रामायण कहती है कि आखिर वाली की वात स्वीकार कर ली गई। दोनो ओर की सेनाओ को तटस्थ भाव से खडा कर दिया गया। रावण और वाली मे ही युद्ध हुआ। इस युद्ध मे रावण को करारी हार मिली।

जैन-साहित्य की यह कथाएँ अर्थहीन नही हैं। इनका अर्थ भी साधारण नही है। इन कथाओ मे युद्ध के अहिंसात्मक दृष्टिकोण का कुशलता के साथ चित्रण किया गया है। एक बुराई जब अनिवार्य हो जाय तो उसकी व्यापकता को किस प्रकार कम किया जाए, हिंसा की उन्मुक्त प्रवृत्ति को किस तरह सीमित करना चाहिए, यही इन कथाओ का मर्म है। हम देखते है कि मनुष्य की हिंसा-प्रवृत्ति, यहाँ करवाने की अपेक्षा स्वय कर लेने के रूप मे किस प्रकार सीमित कर दी गई है? इस प्रकार लडवाना महान् आरम्भ की भूमिका है, जबकि लडना अल्पारम्भ की भूमिका है।

जो हिटलर विश्व-युद्ध की भयकर ज्वाला मे भस्म हो गया, कहा जाता है—उसने युद्ध मे अपने हाथ से एक भी गोली नही चलाई और एक भी सैनिक का अपने हाथ से खून नही बहाया। वह फौजो को ही लडाता रहा। तब क्या उसे पाप नही लगा या कम लगा? क्या पाप की गठरी केवल लडने वाले सैनिको के ही सिर लदेगी? वह भी कह सकता

था—"मै तो अहिसक हूँ। मैने लडाई नही लडी, मैने एक चाकू भी नही चलाया, खून की एक बूँद भी नही बहाई।" गॉव के गॉव नष्ट हो गये, शहर के शहर तबाह हो गये। फिर भी यदि हिटलर या स्टालिन यह कहे कि "हम तो लडवाने वाले थे, लडने वाले नही। पाप लडने वालो को लगता है, लडवाने वालो को नही"। क्या उनकी यह दलील आपके दिल पर असर करती है? क्या कोई भी समझदार इस तर्क को स्वीकार कर सकेगा? नही। वे खुद लडे होते तो वहाँ शक्ति सीमित होती। जब दूसरो को लडवाया, तभी लाखो-करोडो आदमी इकट्ठे किये गए, महीनो और वर्षों तक लडाई भी जारी रही। इस प्रकार स्वय न लडकर दूसरो को लडवाने के द्वारा युद्ध करने मे बहुत विराट हिसा सामने खडी हो जाती है।

इन सब बातो पर जब हम गम्भीरता से विचार करते है तो हमारे सामने स्पष्ट हो जाता है कि जैन-धर्म ने कही पर गृह-कार्य आदि दूसरो से करवाने की अपेक्षा स्वय कर लेने मे कम पाप माना है। कही करने की अपेक्षा करवाने मे कम, और कही करने-करवाने की अपेक्षा अनुमोदन मे कम पाप स्वीकार किया है। यह ऐसे दृष्टिकोण है, जिनकी सचाई चिन्तन की गहरी डुबकी लगाने पर ही स्पष्टी होत है, अन्यथा नही।

एक जज है। कत्ल का मुकदमा उसके सामने है। वह विचारो की गहराई मे डुबकियाँ लगाता है और निरन्तर सोचता है। अपने कर्त्तव्य मे किसी प्रकार की अवज्ञा भी नही करता है।

पुलिस अभियुक्त को पकडकर लाती है। वह चाहे वास्तविक अपराधी को लाई है, अथवा छान-बीन किये बिना ही किसी निरपराध को मौत के घाट उतारने के लिए पकड लाई है। किन्तु जज विचार करता है—"अपराधी भले ही छूट जाए, किन्तु किसी निरपराध को दण्ड नही मिलना चाहिए। जज का सिहासन न्याय के अनुसार केवल दण्ड देने के लिए ही नही है, अपितु निरपराध को दण्ड से बचाने के लिए भी है।" एक अच्छे वकील का भी यही आदर्श होना चाहिए। हाँ, तो वकीलो की सहायता से खूब अच्छी तरह सोच-विचार कर जज ने छान-बीन की। अभियुक्त अपराधी सिद्ध हुआ और उसे कानून के अनुसार दण्ड भी मिला।

यहाँ विचार करना है कि अपराधी को दण्ड तो मिला, किन्तु क्या उसके प्रति जज का कोई व्यक्तिगत द्वेप था ? नही ! वह समाज का कानून अपराधी के सामने रखता है कि "तुमने अपना जीवन विकृत बना लिया है, अत समाज नही चाहता कि तुम उसमे रहो। अब तुम्हे समाज से विदा हो जाना चाहिए।" इस प्रकार अपराधी के प्रति जज के हृदय मे घृणा या द्वेप न होने पर भी उसे मौत की सजा सुनानी पडती है। अपराधी जल्लाद के सिपुर्द कर दिया जाता है।

जल्लाद उसे लेकर चलता है। वह सोचता है—"इसने गुनाह किया है, फलत समाज की ओर से सजा देने का उत्तरदायित्व मेरे ऊपर आया है। इसके पाप का फल इसके सामने आ रहा है। मै तो केवल आज्ञा-पालन के लिए हूँ। मै फाँसी देने वाला कौन ? फाँसी तो इसके दुराचरण ही दे रहे है।"

यहाँ एक हिंसा कर रहा है, दूसरा करवा रहा है और हजारो दर्शक फाँसी पर झूलते अपराधी को देखने के लिए जमा है। उनमे से कुछ कहते है—"अच्छा हुआ जालिम पकडा गया! अब देर क्यो हो रही है? जल्दी ही तख्ता क्यो नही हटा दिया जाता?" और इस खुशी मे वे उछलते-कूदते है।

अब देखना यह है कि न्यायाधीश, जल्लाद और दर्शको मे से कौन अधिक पाप बाँध रहा है? जब मनोवृत्ति से ही पाप का गहरा सम्बन्ध है तो स्पष्ट है कि यद्यपि जल्लाद फाँसी दे रहा है और न्यायाधीश दिला रहा है। फिर भी उन दोनो की अपेक्षा दर्शक अपनी क्रूर मनोवृत्ति के कारण अधिक पाप का बन्धन करते है। न्यायाधीश और जल्लाद, यदि अन्दर मे पूर्ण तटस्थ रह सके, एकमात्र कर्त्तव्य-पालन की ही भूमिका पर खडे रहे, व्यक्तिगत घृणा का स्पर्श भी मन मे न होने दे, तो सभव है उनको पाप का स्पर्शमात्र भी न हो। परन्तु विवेकहीन दर्शक व्यक्तिगत घृणा की दल-दल मे फँसे हुए है, अत निश्चय ही वे पाप की तीव्रता से मलिन हो रहे है।

इस प्रकार जैन-धर्म की विचारधारा इकहरी नही है। वह अनेकान्त दृष्टि है। किन्तु कुछ लोगो ने परिस्थिति-विशेष का उचित विचार न कर, मनोभूमिका को ठीक तरह से न परख और विवेक-अविवेक का वास्तविक विवेक भुलाकर, एकान्त समझ लिया है कि करने या करवाने मे ही अधिक पाप है! किन्तु जो जैन-धर्म की अनेकान्त दृष्टि को समझ लेता है, वह कभी एकान्त का आग्रही नही बनता।

कृत, कारित और अनुमोदित पाप की न्यूनाधिकता को

समझने के लिए अनेकान्त-दृष्टि का प्रयोग करना आवश्यक है। साथ ही यह स्मरण रखना भी आवश्यक है कि पाप की अधिकता या हीनता का प्रधान केन्द्र-विन्दु यथाक्रम विवेक का न होना और होना ही है।

———

— ५ —

अहिंसा के दो रूप

(अनुग्रह और निग्रह)

अपने जीवन मे किसी को कष्ट न पहुँचाना, अपने व्यवहार के द्वारा किसी प्राणी को पीडा न देना, अपितु उसे सुख-शान्ति पहुँचाना ही अहिसा है। किसी जीव पर अनुकम्पा करना, दया करना—अहिसा है। कुछ लोगो को छोड़कर इस बात से कोई इन्कार करने वाला नही है।

इस प्रकार जब यह निश्चित है कि अनुग्रह करना अहिसा है तो अब यह प्रश्न उपस्थित होता है कि निग्रह करना क्या है? निग्रह मे हिसा ही है, अथवा अहिसा भी हो सकती है? यहाँ इसी गभीर प्रश्न पर विचार करना है।

जब कभी समाज के सामने यह गभीर प्रश्न उपस्थित हुआ है, तभी वह सोच मे पड गया है, और कभी-कभी इधर-उधर भटक भी गया। इस प्रश्न का जैसा चाहिए था वैसा सीधा स्पष्ट उत्तर नही दिया गया। और जिन्होने कभी साहस-पूर्वक उत्तर देने का प्रयास भी किया तो उन्हे ठीक-ठीक समझा नही गया। फलत. लोग अभी तक भ्रम मे पडे हुए है।

अब हमे देखना यह है कि इस विषय मे जैन-धर्म क्या कहता है ? जैन-धर्म अनुग्रह मे तो अहिंसा को स्वीकार करता ही है , पर निग्रह के विषय मे उसका क्या अभिमत है ? दण्ड मे अहिंसा है या नही ।

यदि दण्ड मे अहिंसा नही है, क्योकि जिसे दण्ड दिया जाता है, उसे स्वभावत कष्ट होता है, और जब कष्ट होता है तो निग्रह या दण्ड अहिंसा नही, हिंसा बन जाता है , और जब वह हिंसा बन गया तो फिर जैन-धर्म मे आचार्य का कोई महत्व नही होना चाहिए । परन्तु हम शासन-व्यवहार मे देखते है, वहाँ आचार्य का महत्वपूर्ण स्थान है ।

आचार्य एक साधु है और जो साधुता एक सामान्य साधु मे होती है, वही आचार्य मे भी होती है । ऐसा नही, कि साधु तो पाँच महाव्रती हो और आचार्य कोई छठा-सातवाँ महाव्रत भी पालता हो । इस प्रकार सामान्य साधु और आचार्य दोनो ही साधुता तथा महाव्रतो की दृष्टि से तो समान है । हाँ, व्यक्तिगत जीवन की आचार-विषयक न्यूनाधिकता हो सकती है और वह तो सामान्य साधुओ मे भी हो सकती है, और वह होती ही है। परन्तु उससे साधु और आचार्य का का भेद नही हो सकता । फिर आचार्य का महत्व किस रूप मे है ?

यदि जैन-धर्म के अनुसार अनुग्रह ही अहिंसा है और निग्रह अहिंसा नही है, बल्कि हिंसा ही है तो आचार्य के लिए कोई स्थान नही होना चाहिये । जैन-धर्म मे हिंसा को कोई स्थान नही है, और जब हिंसा के लिए स्थान नही है

तो हिंसा-स्वरूप दण्ड के लिए भी कोई स्थान नही है, और जब दण्ड के लिए स्थान नही है तो फिर आचार्य के लिए भी स्थान नही होना चाहिए। क्योकि आचार्य अपने औचित्य के अनुसार दोषी को दण्ड देता है।

आचार्य सघ का नेतृत्व करता है। वह देखता रहता है कि कौन क्या कर रहा है, और किस विधि से कर रहा है? कौन साधक किस पगडडी पर चल रहा है? सब ठीक-ठीक चल रहे है या कोई पथ विचलित हो गया है? यह निरीक्षण कार्य आचार्य का ही उत्तरदायित्व है। जब सब ठीक-ठीक चलते है तो सबको उनका अनुग्रह मिलता रहता है, छोटे-से छोटे साधुओ को भी। बहुधा महान् आचार्यो को देखा है कि छोटो के प्रति उनका अनुग्रह अपेक्षाकृत अधिक रहता है। जिस प्रकार पिता, पुत्र को प्रेम की दृष्टि से देखता है, उसी प्रकार आचार्य भी अपने छोटे से छोटे शिष्य पर अपार प्रेम बरसाते है। क्षुल्लको के समान ही वृद्धो के लिए भी सेवा का पूरा-पूरा ध्यान रखते है। वे निरन्तर इस बात का पूरा ध्यान रखते है कि सघ मे किसी को किसी प्रकार का कष्ट न होने पाए। यदि किसी पर कष्ट आ भी पडता है तो उसकी शान्तिमय निवृति के लिए सद्भावना प्रेरित करते है। शिक्षार्थी मुनियो का अध्ययन ठीक चल रहा है या नही, और स्थविरो की सेवा की सुव्यवस्था है या नही। छोटे बालक जो प्राय. सघ मे आते है उनका समुचित विकास तथा प्रगति हो रही है या नही। छोटो के प्रति समाज मे छोटे-बडे की ऐसी उपेक्षा भावना तो नही है कि--- अरे! छोटे

साधुओ मे क्या रखा है, इत्यादि। अपने उत्तरदायित्व के नाते आचार्य छोटी-बडी सभी बातो का ध्यान रखते है और सभी के प्रति यथोचित अनुग्रह रखते है।

परन्तु आचार्य का अनुग्रह तभी तक प्राप्त होता है, जब तक साधक मर्यादा मे चलते है और अनुशासन का पूर्णत पालन करते है। इसी कारण आचार्य को गोप की उपमा दी गई है। भगवान् महावीर को भी महागोप कहते है, अर्थात्—सबसे बडे ग्वाले। ग्वाला अपनी गायो, भैसो तथा अन्य पशुओ को वन-भूमि की ओर लेकर चलता है। जब तक पशु ठीक-ठीक चलता है तब तक वह अपने दण्ड का प्रयोग नही करता, अर्थात् डण्डा नही मारता। यदि भावावेश मे विना कारण ही डण्डा मार देता है तो समझना चाहिये कि वह पागल हो गया है। जब ग्वाला इस प्रकार का पागलपन प्रस्तुत करे तो उसे पशुओ को चराने का अधिकार नही देना चहिए। इसके विपरीत जब कोई पशु दौडकर आस-पास के खेत मे मुँह डाल देता है तो उसे विवेक के साथ डण्डे का प्रयोग करना चाहिए और पशु को खेत से बाहर कर देना चाहिए। वह पशुओ को इधर-उधर नही भटकने देगा और मर्यादा से बाहर पशुओ की हरकत देखकर उन पर डण्डे का उचित प्रयोग भी करेगा।

हाँ, तो ग्वाले का रूपक भगवान् महावीर के लिए भी प्रयुक्त किया गया है। क्योकि भगवान् महागोप थे। आचार्यो को भी सघ का गोप कहा गया है। अर्थात्, साधु और श्रावक जब तक अनुशासन की मर्यादा मे चलते है तब तक आचार्य

उन्हे दण्ड नही देते, बल्कि अपार अनुग्रह की रस-वर्षा करते है। परन्तु जब आचार्य यह देखते है कि कोई मर्यादा के बाहर गया है और उसी गति से चला जा रहा है तो उस समय वे उसे डाँटते है, और यदि कोई गलती करता है तो उसे दण्ड भी देते है। जब आचार्य दण्ड देते है तो आखिर दण्ड तो अपना तद्रूप प्रभाव करेगा ही।

आचार-सहिता के अनुसार साधु का यह कर्त्तव्य बतलाया गया है कि कदाचित् साधु मर्यादा से बाहर चला जाय या गलती कर बैठे तो उसे अपने को तत्काल सभाल लेना चाहिये और स्वय ही आचार्य को अपने दोषयुक्त कार्य की सूचना दे देनी चाहिए कि मुझसे अमुक गलती हो गई है। चाहे मनुष्य कितना ही सावधान क्यो न रहे, किन्तु जब तक वह साधक है और प्रारम्भिक साधना मे लगा हुआ है, तब तक उससे कही न कही, छोटी-मोटी भूल हो जानी स्वाभाविक है।

इस सम्बन्ध मे भगवान् महावीर ने कहा है कि प्रत्येक क्षण जीवन मे जागते रहो। क्या कारण है कि जागते हुए भी सो जाओ? और यदि बाहर मे सोए हुए हो, तब भी अन्दर मे पूर्णत जागृत रहो।

'असुत्ता मुणी'
'मुणिणो सया जागरति'
—आचाराग

जब साधु जागृत अवस्था मे है तब तो वह जागता है ही, किन्तु जब निद्रावस्था मे हो तब भी उसे जागता ही

समझो। वह जब अकेला है, तब भी जागता है। जब वह सब के बीच मे है, तब भी जागता है। नगर मे है, तब भी जागता है, और यदि वह वन मे वास कर रहा है तब भी जागता रहता है। साधु के सम्बन्ध मे जो पाठ आता है, उसमे कहा गया है —

"दिआ वा राओ वा, एगओ वा परिसागओ वा।
सुत्ते वा जागरमाणे वा॥"

— दशवैकालिक सूत्र, चतुर्थ अध्ययन।

इस प्रकार साधु को प्रत्येक परिस्थित मे एक ही निर्दिष्ट मार्ग पर चलना है। अकेले मे भी और हजारो के बीच मे भी, सोते हुए भी और जागते हुए भी, वन मे भी और नगर मे भी। साधना जीवन की समरसता है। वह अपने लिए है, अपने विकास के लिए है। अत वह हर हालत मे एक रूप रहनी चाहिए। सच्चा साधक दर्शको की उपस्थिति या अनुपस्थिति को सामने रखकर अपने जीवन-पथ का मानचित्र तैयार नही करता।

आपने राजस्थान की वीर नारियो के सम्बन्ध मे सुना होगा और उस मीरा के सम्बन्ध मे तो अवश्य ही, जिसने सोने के महलो मे जन्म लिया और सोने के महलो मे ही जिसका विवाह भी सम्पन्न हुआ। हाँ, तो एक दिन जिसे ससार की भौतिक ताकत ने कहा कि उसे महलो मे ही बन्द कर दो और वैभव की मोहक नीद मे सुला दो। फिर भी वह महलो मे बन्द नही हो सकी, वैभव की नीद नही सो सकी। भगवत् प्रेम का महान् आदर्श उसके हृदय के कण-कण मे

उमडता रहा। उसने सोने के सम्बन्ध मे कितना सुन्दर भाव प्रकट किया है —

हेरी मैं तो दर्द दिवानी, मेरा दर्द न जाने कोय।
सूली ऊपर सेज हमारी, किस विध सोना होय ।।

हॉ, तो जो साधक है वह सयम की शूली पर बैठा है। साधु या गृहस्थ कोई भी हो, उसके जो व्रत या नियम है, शूली की नौक के समान है। वहाँ पर दूसरी कोई फूलो की सुख-सेज नही मिलेगी। फूलो की सुख-सेज पर शयन करने वाले तो सम्राट् है, अत यदि वे खर्राटे लेना चाहे तो ले सकते है। परन्तु जो साधक साधना-रूपी शूली की सेज पर बैठा है, वह सुख-नीद के खर्राटे नही ले सकता। उसका तो एक-एक क्षण जागेगा। उसके लिए हर प्रतिज्ञा शूली की सेज है। साधु ने अहिसा और सत्य आदि की जो प्रतिज्ञाएँ ली है, उनमे से प्रत्येक प्रतिज्ञा शूली की सेज है।

एक भाई कहते है कि शूली पर जब सुदर्शन चढे, तो फूल बरसे और शूली सिहासन हो गई थी। बात ठीक है, किन्तु शूली पर चढे बिना फूल नही बरसते। जब हम जीवन के क्षेत्र मे चलते है तब यदि उस साधना-रूपी शूली की सेज पर नही जायँगे तो फूल नही बरसने वाले है। फूल तो तभी बरसेंगे जब साधक अपने आपको सयम और साधना की कसौटी पर सच्चा सिद्ध कर देगा।

इस दृष्टिकोण से हर साधक को हर समय जाग्रत रहना है। क्योकि छद्मस्थ आखिर छद्मस्थ है, वह सर्वज्ञ और वीतराग नही हो गया है। वह अपूर्ण है। यदि वह अपूर्ण एव

साधारण साधक अपने आपको पूर्ण एव विशिष्ट समझने लगता है तो यह उसकी भयकर भूल है। इस प्रकार छद्मस्थ होने के कारण कदाचित् वह लडखडा जाता है। वास्तव मे मोहनीय कर्म वडा ही वलवान है। इसके प्रभाव से कभी क्रोध की उछाल आ जाती है, तो कभी मान की लहर भी आ जाती है, और कभी कोई अन्य तरग भी उठ खडी होती है।

आपने पुरातन सतो के श्रीमुख से सुना होगा कि जव लवण-समुद्र मे तूफानी लहरे आती है तो हजारो देवता उन लहरो को दवाने का प्रयत्न करते है। वे लहरे दवती है या नही ? यह दूसरी वात है, किन्तु हमारे हृदय की लहरे तो ज्वार-भाटे की भाँति उछाल मार रही है और एक वडा तूफान पैदा कर रही हैं। जव इतना भयङ्कर तूफान आता है, तो क्या होता है ? तव हम उस त्याग और सयम की दिव्य-शक्ति से उस समुद्र को निरन्तर दवाते है। कम से कम मन के महासागर मे तो यह चीज चलती ही रहती है। फिर भी कभी मन कावू से वाहर हो जाय तो उसका क्या उपाय है ? यही कि आत्म-शुद्धि करने के लिए तैयार रहना चाहिए। ऐसा साधक गलती होने पर फौरन आचार्य के पास पहुँचे, तव तो ठीक है, अन्यथा स्वय आचार्य दण्ड की व्यवस्था करते है और इस तरह अनुग्रह करते-करते कभी निग्रह का प्रसग भी उपस्थित हो जाता है। अर्थात् यदि आचार्य मे अनुग्रह करने की शक्ति है तो निग्रह करने की भी शक्ति है। जव वे अनुग्रह करते है तो पूरा अनुग्रह, और जव दण्ड देते है तो वह भी पूरा और मर्यादा के अनुसार। उन्हे

सघ ने यह अधिकार दिया है और उनका यह उत्तरदायित्व भी है। यदि कोई आचार्य इस उत्तरदायित्व की किसी भी कारण से उपेक्षा करता है तो वह आचार्य पद पर नही रह सकता। ऐसी स्थिति मे उन्हे अपना यह पद स्वय त्यागना होगा या सघ उनको पद-त्याग के लिए वाध्य करेगा।

इस प्रकार उचित प्रसग पर दोषी को दण्ड देना आचार्य का अनिवार्य कर्त्तव्य है, परन्तु जब दण्ड दिया जाता है तो दण्ड पाने वाले को कष्ट होता है। जब कष्ट होता है तो वहाँ हिसा होगी या अहिसा ? यदि वह दण्ड हिसा का सूचक है और केवल तकलीफ पहुँचना ही हिसा है तो इस स्थिति मे दण्ड देने का अधिकार आचार्य को नही रह जाता है। क्योकि साधु-जीवन मे हिसा का कार्य नही किया जा सकता। किन्तु जव हम उस निग्रह एव दण्ड को अहिसा मानते है तो आचार्य के लिए दोषी को दण्ड देने का अधिकार सर्वथा न्याय-सगत हो जाता है। आचार्य की ओर से दिया जाने वाला दण्ड हिसा की बुद्धि से और द्वेष की भावना से नही दिया जाता है। जव आचार्य निग्रह करते है तो शास्त्रानुसार कडे से कडा दण्ड देते है, किन्तु उनके मन मे अहिसा रहती है। दया और कल्याण की भावना लहराती है, क्योकि उस साधक के प्रति उनकी आत्म-शुद्धि की भावना है।

वच्चा जब गन्दा हो जाता है तो माता उसे स्नान कराती है और उसके वस्त्र साफ करती है, तब वह चिल्लाता है, हल्ला मचाता है। स्नान से उसे तकलीफ होती है, किन्तु अबोधपन के कारण वह नही समझता कि मुझे क्यो परेशान

किया जा रहा है ? परन्तु जो कुछ भी किया जा रहा है, उसके सम्बन्ध मे माता के हृदय से पूछिए कि वह बालक की सफाई और स्वच्छता कष्ट देने के लिए कर रही है, अर्थात्—हिंसा के उद्देश्य से कर रही है या मन मे उठी वात्सल्य की हिलोर से प्रेरित होकर कर रही है ?

हमारे यहाँ धर्म-शास्त्रो मे वर्णन आया है कि आचार्य को माता और पिता का निर्मल एव स्नेह-सिक्त हृदय रख कर साधक को दण्ड देना चाहिए, शत्रु का क्रूर हृदय* रखकर नही। दण्ड-पात्र यदि समझदार है तो वह भी यही समझता है कि जो दण्ड उसे दिया जा रहा है—वह पिता के हृदय से दिया जा रहा है और उसमे कल्याण की भावना समाविष्ट है, शत्रु की भावना तो दण्ड से कोसो दूर है। जो कल तक अनुग्रह कर रहे थे, वही आज अकारण इतने कठोर क्यो बन सकते है ? अस्तु वह समझता है कि आचार्य उसे सुधारने के लिए ही इतने कठोर बने है, किन्तु उनकी इस कठोरता मे भी करुणा की विशुद्ध भावना विद्यमान है।

चने के पौधे को जब तक ऊपर-ऊपर से काटा नही जाता, तब तक वह ठीक तरह बढ नही पाता, और जब उसे ऊपर से काट-छाँट दिया जाता है तो झट उसका विकास शुरू हो जाता है। इसी प्रकार जब तक साधक को गलती पर प्रायश्चित नही दिया जाता, तब तक उसका विकास रुका रहता है। किन्तु प्रायश्चित ले लेने पर विकास मे वृद्धि

---

* देखिये—उत्तराध्ययन सूत्र १, २७-२८।

होती है और उसका मार्ग अवरुद्ध नही होता। निस्सन्देह ऐसे साधक ही अपने जीवन मे फलते-फूलते है और महान् बनते हैं।

वर्तमान मे क्या हो रहा है? कौन क्या करते है? किस दृष्टि से दण्ड दिए और लिए जाते है? इसकी इस अवसर पर चर्चा न करके हम तो केवल सिद्धान्तमात्र का सक्षिप्त विवेचन कर गए है।

आपके समक्ष निग्रह के औचित्य की चर्चा चल रही है और कहा जा रहा है कि निग्रह भी अहिसा का एक रूप है। वस्तुतः यह एक अपेक्षा है, जिसके बल पर जैन-धर्म कहता है कि निग्रह भी अहिसा है। अपेक्षा तो हर जगह और हर समय रहती है। निरपेक्ष वचन एकान्तमय होता है और वह जैन-धर्म को कभी मान्य नही है, कही भी स्वीकार नही है। जब हम इस विषय का चिन्तन की दृष्टि से सूक्ष्म विश्लेषण करते है, और गहराई से विचार करते है तो ज्ञात होता है कि यद्यपि 'अनुग्रह' और 'निग्रह', यह दो शब्द ऊपर से अलग अलग अर्थ के वाचक मालूम पडते है। परन्तु गहराई मे जाने पर अन्तत दोनो का उद्देश्य और प्रयोजन एक ही हो जाता है। अभी आचार्य के अनुग्रह और निग्रह के सम्बन्ध मे जो कुछ कहा गया है, उससे यही निष्कर्ष निकलता है कि वहाँ आचार्य के द्वारा साधक के हितार्थ किया हुआ निग्रह भी अनुग्रह का ही एक रूप है। इसके विपरीत कभी-कभी अनुग्रह भी हिसा का रूप धारण कर लेता है। इस सम्बन्ध मे एक उदाहरण देखिए।

मान लीजिए, एक बच्चा बीमार है। डाक्टर ने उसे मिठाई खाने के लिए मना कर दिया है। पर उसकी माता स्नेहवश कहती है——बेटा, मिठाई खा ले। इस दशा मे माता का यह अनुग्रह क्या होगा ? तात्पर्य यह है कि हर एक जगह एक-सी बात लागू नही होती है। अनुग्रह तथा निग्रह दोनो ही समयानुकुल अपेक्षाकृत है। अतएव कभी अनुग्रह का रूप निग्रह मे प्रकट हो सकता है, और कभी निग्रह का रूप अनुग्रह मे हो सकता है। इसके लिए भावना-जगत् को देखना नितान्त आवश्यक है।

यही पर एक प्रश्न और उपस्थित होता है। यदि यह माना जाय कि निग्रह दण्ड है, और दण्ड देना हिंसा है। ऐसी स्थिति मे यदि एक बारह व्रतधारी श्रावक है और वह अपने व्रत-विधान का पूरी तरह पालन कर रहा है। किन्तु साथ ही वह एक सम्राट भी है, राजा है या अधिकारी नेता है। एक दिन उसके सामने एक जटिल समस्या आ जाती है—यकायक आक्रमण का प्रश्न खडा हो जाता है। उसके देश पर कोई अत्याचारी विदेशी राजा आक्रमण कर देता है। अब कहिए वह श्रावक राजा क्या उपाय करे ? जो आक्रमण करने वाला शत्रु राजा है वह द्रुतगति से चढकर आने वाला है। आक्रामक के रूप मे वह देश को लूटता है और प्रजाजन को पीडित करता है। देश की लूट के साथ वहाँ की संस्कृति और सभ्यता को भी नष्ट करता है, माताओ और बहिनो की आबरू भी बिगाडता है। इधर वह श्रावक राजा देश का नायक बना है और प्रजा की रक्षा का महान् उत्तर-

दायित्व भी लिए हुए है। तब ऐसी स्थिति मे उसका क्या कर्त्तव्य होना चाहिए ? राष्ट्र की सुरक्षा और शान्ति के लिए वह क्या उपाय करेगा ? वह निग्रह का मार्ग अपनाकर देश की समुचित रक्षा करेगा, अथवा स्वदेश की लाखो निरीह जनता को अत्याचारी आक्रामक के चरणो मे अर्पण कर अन्याय के सामने मस्तक टेक देगा।

जैन-धर्म इस सम्बन्ध मे स्पष्ट रूप से कहता है कि इस प्रकार के प्रसगो पर हिसा मुख्य नही है, अपितु अन्याय का प्रतीकार करना मुख्य है और जनता की समुचित रक्षा ही मुख्य है। वह श्रावक राजा अपनी ओर से किसी पर व्यर्थ आक्रमण करने नही जायगा। जो पडौसी देश व्यवस्थापूर्वक शान्ति से रह रहे है, वहाँ पर अपनी साम्राज्यशाही विजय का झडा गाढने के लिए नही पहुँचेगा। किन्तु जब कोई शत्रु बनकर उसके देश मे खून बहाने आएगा, तब वह अपने कर्त्तव्य की की पूर्ति के लिए लडने की पूरी तैयारी करेगा और अवश्य लडेगा। स्थूल प्राणातिपात (हिसा) का यथास्थिति त्याग करते समय, श्रावक ऐसे रक्षात्मक सघर्ष के लिए पहले से ही छूट रखता है।

जैनाचार्यो ने हिसा के सम्बन्ध मे काफी सूक्ष्म चिन्तन किया है। उन्होने हिसा की व्याख्या करते हुए उसके चार भेद किए है—(१) सकल्पी, (२) आरम्भी, (३) उद्योगी, और (४) विरोधी ।

जान-बूझकर मारने का इरादा करके किसी प्राणी को मारना—'सकल्पी हिसा' है।

चौके-चूल्हे आदि के काम-धधो मे जो हिसा हो जाती है—वह 'आरम्भी हिसा' कहलाती है।

खेती-वाडी, व्यापार, उद्योग आदि करते हुए जो हिंसा होती है—वह 'उद्योगी हिसा' कहलाती है। और

शत्रु का आक्रमण होने पर देश को विनाश से वचाने के लिए तथा अन्याय अत्याचार का प्रतीकार करने के लिए सुरक्षा एव शान्ति की दृष्टि से जो युद्ध किया जाता है, और उसमे जो हिसा होती है—वह 'विरोधी हिसा' कहलाती है।

इन चार प्रकार की हिंसाओ मे से श्रावक कौन-सी हिसा का त्याग करता है, और कौन-सी हिसा की उसे छूट रहती है ? इसी महत्वपूर्ण प्रश्न पर हमे विचार करना चाहिए।

श्रावक इनमे से सिर्फ 'सकल्पी-हिसा' का परित्याग करता है। मारने की भावना से जो निरपराध की हिसा की जाती है, उसी का वह त्याग कर पाता है।

प्रवृत्तिपरायण श्रावक 'आरम्भी-हिसा' का सर्वथा त्याग नही कर सकता, क्योकि उसे उदर-पूर्ति आदि के लिए यथा-अवसर आरम्भ समारभ करना पडता है और उसमे हिंसा का होना स्वाभाविक है।

यही वात 'उद्योगी-हिसा' के सम्वन्ध मे भी है। आखिर-कार जीविकोपार्जन के लिए काम-धन्धे करने ही होते है, और जव उन्हे किया जायगा तो हिसा का होना स्वाभाविक है। इस कारण श्रावक उसका परित्याग भी सर्वतोभावेन नही कर सकता।

अव रही 'विरोधी-हिसा', सो श्रावक उसका भी परित्याग

नही करेगा। क्योकि उसे निर्दय शत्रुओ से अपनी, अपने परिवार की, अपने देश की, जिसकी समुचित रक्षा का महान् उत्तरदायित्व उसके ऊपर है, यथावसर रक्षा करनी ही होती है।

उपर्युक्त विवेचन से यही निष्कर्ष निकलता है कि स्थूल हिसा का त्याग करते समय श्रावक सकल्पी हिसा का त्याग करेगा। अर्थात् वह बिना प्रयोजन खून से हाथ नही भरेगा। मारने के लिए ही किसी को नही मारेगा, धर्म के नाम पर किसी निर्दोष की हिसा नही करेगा, और इसी प्रकार की अन्य हिसा भी नही करेगा। इस कथन की पुष्टि के लिए हम एक पाश्चात्य दार्शनिक का अभिमत प्रस्तुत करते है।

रस्किन ने, जो पश्चिम का एक बडा दार्शनिक था, उपदेशक एव वकील आदि हरेक धन्धे की आलोचना की है। उसकी एक पुस्तक का 'सर्वोदय' नाम से महात्मा गाँधी ने अनुवाद किया है। उसमे रस्किन कहता है—"सिपाही का आदर्श यह है कि वह स्वय किसी को मारने नही जाता, किन्तु देश की रक्षा के लिए जब वह खडा होता है तब उससे किसी का कत्ल हो जाता है और कभी खुद भी कत्ल हो जाता है।"

अभिप्राय यह है कि कत्ल करना उसकी मुख्य दृष्टि नही है, बल्कि उसका प्रधान लक्ष्य तो रक्षा करना है और रक्षा करते-करते सम्भव है वह दूसरे को मार दे या खुद भी मर जाय।

कुछ लोग कहते है कि जैन-धर्म की अहिसा पगु है,

उसने देश को गुलाम बनाया है और देश को बिगाड दिया है। इस प्रकार सारी बुराइयो का उत्तरदायित्व जैन-धर्म पर डाला जाता है। परन्तु जैन-धर्म मे प्रतिपादित 'अहिंसा' के वर्गीकरण का तथा उसकी विभिन्न श्रेणियो और भूमिकाओ का यदि गहराई के साथ अध्ययन किया जाए तो उन्हे ऐसा कहने का मौका नही मिलेगा। दुर्भाग्य से दूसरो ने तो क्या, स्वय जैनो ने भी जैन-धर्म की अहिंसा को समझने मे भयकर भूल की है और उसे समझने का पूरी तरह प्रयत्न नही किया है। क्योकि उन्होने जैन-धर्म को समझा नही है, तभी तो यह सब गडबड हुई है और नित्य प्रति हो रही है।

मर्यादा पुरुषोत्तम रामचन्द्रजी की पत्नी सीता को रावण चुरा ले गया। रावण उस पर अत्याचार करना चाहता था, उसके सतीत्व को भग करने के लिए प्रस्तुत हो रहा था। तब राम ने लका पर आक्रमण करने के लिए सेना तैयार की। भारतीय रणनीति के अनुसार युद्ध आरम्भ करने से पहले अगद आदि के द्वारा समझौते का सन्देश भी भेजा। रावण समझौता करने को बिल्कुल तैयार नही हुआ। सीता को लौटाना उसने कथमपि स्वीकार नही किया।

ऐसी परिस्थिति मे राम जैन-धर्म से पूछे कि—मै क्या करूँ? एक तरफ सीता की रक्षा का प्रश्न है! अत्याचारी के आक्रमण पर प्रत्याक्रमण का प्रश्न है! अन्याय, अत्याचार और बलात्कार के प्रतीकार का प्रश्न है! और दूसरी तरफ युद्ध का प्रश्न है!! आप भली-भाँति समझते है कि युद्ध तो युद्ध ही है और जब युद्ध होगा तो हजारो माताएँ पुत्रहीना हो

जायँगी, हजारो पत्नियाँ अपने पति गँवा बैठेगी, और हजारो पुत्र पिताओ से हाथ धो बैठेगे। हजारो घरो के दीपक बुझ जायँगे, देश के कोने-कोने मे हाहाकार मच जायगा। इस प्रकार कुछ के लिए तो सारी जिन्दगी के लिए रोना शुरू हो जाएगा। हाँ, तो ऐसी स्थिति मे राम को क्या करना चाहिए ? यही प्रश्न जैन-धर्म को हल करना है। इसी दुविधा का समाधान जैन-धर्म को तलाश करना है।

हमारे कुछ साथी कहते है कि ऐसे अवसर पर मौन रहना ठीक है। किन्तु राम कहते है—मै दुविधा मे हूँ और निर्णय करना चाहता हूँ कि क्या करूँ ? जिससे वे पूछते है, व्यवस्था माँगते है, वही मौन धारण कर लेता है। तब मै आपसे पूँछता हूँ कि मौन धारण कर लेने से क्या किसी समाज की उलझी हुई समस्याओ का हल निकाला जा सकता है ? फिर ऐसे विकट और नाजुक प्रसग पर, जो धर्म मौन धारण कर लेता हो, वह क्या जीवन-व्यापी धर्म कहला सकता है ? क्या वह मौन उसकी दुर्बलता का द्योतक नही होगा ? क्या उस मौन से उसकी कार्य-क्षमता मे बट्टा नही लगता ? क्या यह उस धर्म का लँगडापन सिद्ध नही करेगा ? ऐसे अवसर पर व्यक्ति को अपना कर्त्तव्य पहिचानने के लिए क्या किसी दूसरे धर्म की शरण मे जाना चाहिए ? यदि जैन-धर्म वास्तव मे जीवन-व्यापी धर्म है, यदि वह दुर्बल नही है, लँगडा-लूला भी नही है, अपितु पूर्णतया क्षमताशाली है, तो उसकी शरण मे आने पर किसी दूसरे धर्म से भीख माँगने की आवश्यकता नही रहती। कर्त्तव्य की पुकार पर

वह मौन नही रहेगा, उचित कर्त्तव्य की सूचना अवश्य देगा। जहाँ तक मैने जैन-धर्म को समझा है, वह सूचना अवश्य देता है।

हाँ, तो जैन-धर्म क्या सूचना देता है, और किस ढग से देता है ? एक तरफ घोर हिंसा है ! और दूसरी तरफ एकमात्र सीता की रक्षा का प्रश्न है !! इस अवसर पर रामचन्द्र सोचते हैं—मुझे क्या करना चाहिए ? जो लोग यह समझते है कि जहाँ ज्यादा जीव मरते है, वहाँ ज्यादा हिंसा होती है। उनके इस विचार से तो रामचन्द्र को चुप होकर निष्क्रिय रूप से किसी कौने मे वैठ जाना चाहिए ! क्योकि युद्ध मे वहुत से जीवो की हिंसा होती है और वे जीव भी एकेन्द्रिय नही, पचेन्द्रिय है ! और फिर उनमे भी अधिकाशत मनुष्य ! किन्तु जैन-धर्म ऐसा नही कहता। जैन-धर्म तो यह कहता हे कि यदि तुम सीता को बचाने के लिए जा रहे हो तो वहाँ केवल एक सीता का ही साधारण प्रश्न नही है, वल्कि हजारो सीताओ की रक्षा का गम्भीर सवाल है ! जिसे प्राण-पण से हल करना राम का कर्त्तव्य है। यदि आज एक गुण्डा किसी एक सती पर अत्याचार करता है तो वह वास्तव मे एक ही महिला की रक्षा का प्रश्न नही है, अपितु उसके पीछे हजारो-लाखो गुण्डो के सामूहिक अत्याचार का गम्भीर प्रश्न है। यदि आज एक गुण्डे के अत्याचार को सिर झुकाकर सहन कर लिया जायगा तो कल सैकडो, और परसो हजारो गुण्डे सिर उठाएँगे, और इस प्रकार ससार मे किसी सती का सतीत्व तथा मान-मर्यादा सुरक्षित नही रह सकेगी। दुनिया

मे अत्याचार, अनाचार और वलात्कार का ऐसा दौर शुरु हो जाएगा कि जिसकी कोई सीमा ही नही होगी। फिर वेचारे धर्म को स्थान कहाँ रह जायगा ?

अतएव राम के सामने केवल एक सीता का प्रश्न नही था, वल्कि हजारो सन्नारियो की रक्षा का प्रश्न था। राम को अपने भोग-विलास के लिये एक सुन्दर युवती की आवश्यकता थी, और उसके लिए वे हजारो के गले कटवाने पर प्रस्तुत हो रहे थे। ऐसी कल्पना स्वप्न मे भी नही करनी चाहिए। इस स्थिति के लिए तो जैन-धर्म किसी भी तरह की स्वीकृति नही दे सकता। उक्त दशा मे वह यही कहेगा—वासना-पूर्ति के लिये एक नारी की जीवित मूर्ति चाहिए, तो हजारो मिल सकती है। फिर क्यों व्यर्थ ही आग्रहवश संहार का पथ अपनाया जाए ?

राम के लिए तो यह प्रश्न उपस्थित ही नही होता। जैन रामायण मे एक वर्णन आता है कि रावण ने राम के पास सन्देश भेजा था कि एक सीता को रहने दो। मै उस एक के वदले मे कई हजार सुन्दर कुमारिकाएँ तुम्हारे लिए भेज दूँगा। तुम आनन्द के साथ जीवन व्यतीत करना। मै आनन्द की सव सामग्री भी तुम्हे दे दूँगा। राज्य चाहिए तो राज्य भी दे दूँगा, मात्र सीता को छोड दो। किन्तु उस समय राम के सामने भोग-विलास का प्रश्न नही था। वे इस दृष्टि से सीता को पाने का प्रयत्न नही कर रहे थे। वे तो अपने पुनीत कर्त्तव्य का पालन कर रहे थे। वे तो अत्याचार का प्रतीकार करने के लिए कटिवद्ध हुए थे। एक

पत्नी और एक नारी के अपमान की रक्षा के लिए उन्होंने प्रण किया था कि प्राण देकर भी उसकी रक्षा करना है। यदि राम इस कर्त्तव्य का पालन करने के लिए सन्नद्ध है तो यह गृहस्थ-जीवन की मर्यादा का पालन है और उस मर्यादा का पालन करते समय जैन-धर्म हिंसा या अहिंसा की दुहाई देकर किसी का हाथ नही पकडता है, न मौन ही साधता है।

राम ने रावण के साथ युद्ध किया, परन्तु युद्ध करना उनका उद्देश्य नही था। सीता को प्राप्त करना ही उनका मुख्य उद्देश्य था। उस अवसर पर वे अपने कर्त्तव्य की प्रेरणा की उपेक्षा नही कर सकते थे। ऐसी स्थिति मे युद्ध का उत्तरदायित्व राम पर पडता है या रावण पर ? रावण स्वय अत्याचार करने को तैयार होता है और उसके सामने माताओ तथा बहिनो के पवित्र सतीत्व का कोई मूल्य नही है। उधर राम कहते है—"मुझे कुछ नहीं चाहिए। न तो पृथ्वी, न सुन्दर ललनाएँ, और न तेरी सोने की लका का एक रत्ती-भर सोना ही चाहिये। मुझे तो मेरी सीता लौटा दे।" जब राम की यह बात पूरी नही हुई तो अन्त मे युद्ध होता है। इससे स्पष्ट है कि राम ने सती और सतीत्व की रक्षा के लिये ही अत्याचार से युद्ध किया था। तो जैन-धर्म कर्त्तव्य की दृष्टि से—रामचन्द्र को युद्ध से नही रोकता है। अहिसावादी जैन-धर्म अत्याचारी को न्यायोचित दण्ड देने का अधिकार, गृहस्थ को देता है।

इस कथन का मूल अभिप्राय यह है कि गृहस्थ श्रावक की भूमिकाएँ कितनी भी ऊँची क्यो न हो, किन्तु

जैन-धर्म का आदेश स्पष्ट है कि जो अन्यायी हो, अत्याचारी हो, विरोधी हो, केवल मानसिक विरोधी नही, वास्तविक विरोधी हो, समाज का द्रोही हो—उसे यथोचित दण्ड देने का अधिकार श्रावक हर समय रखता है। परन्तु उस अवसर पर श्रावक को राग-द्वेष की हीन भावना से कार्य नही करना है, अपितु कर्त्तव्य की उच्च भावना को सामने रखना है। यदि वह ऐसा सोचता है कि शत्रु का भी कल्याण हो, सघ और समाज का भी भला हो, तो वहाँ भी उस अश मे अहिसा की सुगन्ध आती है। शत्रु के प्रति हित-बुद्धि रखते हुए उसे होश मे लाने के लिये दण्ड दिया जा सकता है, यह कोई अटपटी और असगत बात नही है। यह तो अहिसक साधक की सुन्दर जीवन कला है।

मुझे उत्तर-प्रदेश और पजाब प्रान्तो मे अधिक घूमना पडा है। वहाँ राष्ट्रीय स्वय-सेवक सघ वालो की चर्चाएँ ज्यादा होती है। कृष्ण को युद्ध का देवता माना जाता है। "महाभारत युद्ध के मूल प्रेरक एव नेता कृष्ण है। उनकी प्रेरणा पर ही महाभारत का युद्ध हुआ, जिसमे नर-सहार की कोई सीमा न रही। उनकी शख ध्वनि मे प्रलय का अट्टहास गूँजता था। अत हमे जीवन के लिये कृष्ण के आचार को ही कर्त्तव्य बिन्दु मानना है।" कुछ लोगो को ऐसा कहते हुए सुना है। अनेक वार इस प्रसग को लेकर जैन-धर्म और उसकी अहिसा पर वहुत ही भद्दी छीटाकसी भी की जाती है।

सयोगवश जव मेरा उनसे वास्ता पड़ा तो मैने कहा—

आपने कृष्ण के मार्ग को ठीक-ठीक नही समझा है और उनके जीवन से कुछ नही सीखा है। कृष्ण का मार्ग तो जैन-धर्म का ही एक आंशिक रूप है। जब आप कृष्ण के जीवन पर चलते है तो वस्तुत जैन-धर्म पर ही चलते है, और जब जैन-धर्म पर चलते हैं तो कृष्ण के मार्ग पर चलते है। महाभारत का युद्ध होने से पहले जब पाँचो पाण्डव वनवास की अवधि समाप्त कर कृष्ण के पास द्वारिका मे आ जाते है तो दुर्योधन आदि को समझाने के लिये पहले पुरोहित भेजा जाता है। किन्तु जब उसे कामयाबी नही होती है तो उसके बाद कृष्ण स्वय शान्तिदूत का कार्य करने को तैयार होते है। कृष्ण, क्या साधारण व्यक्ति है ? वे उस युग के प्रवर्त्तक थे। तत्कालीन कर्म-क्षेत्र मे सबसे बडे कर्मयोगी थे और सबसे बडे सम्राट् थे। वे स्वय दूत बनकर दुर्योधन की सभा मे जाते है।

यदि कभी आपके ऊपर ऐसा काम पड जाय तो आप यही कहेगे—हमे क्या पडी है ? ऐसे छोटे काम के लिये भला क्यो नाहक अपनी नाक छोटी करवाएँ ? इस प्रकार दूसरो के लिए दूत-कर्त्तव्य का दायित्व आ जाने पर साधारण आदमी की नाक पर भी सिकुडन आ जाती है।

परन्तु कृष्ण ने अपनी मान-मर्यादा की कोई परवाह नही की, अपनी प्रतिष्ठा का कुछ भी विचार नही किया और दूत बनकर दुर्योधन के पास निस्सकोच चले गये। दुर्योधन की सभा मे पहुँचकर उन्होने जो भाषण दिया, वह ससार के भाषणो मे अपना विशेष महत्त्व रखता है। महाभारत

के अध्ययन मे जव मैने यह भापरण पढा तो मे गद्गद हो गया । उन्होने कहा– "मै रक्त की नदी नही वहाना चाहता । रक्त की नदी वहाते हुए जो वीभत्स रूप दिखाई देता है, उसे मै अपनी ऑखो से देखना नही चाहता । मै नही चाहता कि नौजवानो की शक्ति व्यर्थ ही खत्म हो जाय, वडे-वूढो की इज्जत खत्म हो जाय और हजारो-लाखो माताओ, वहिनो को जीवन भर रोना पडे । दुर्योधन , तुम अन्याय कर रहे हो ! अत्याचार पर उतारू हो रहे हो !! यह मार्ग ठीक नही है । वस्तुत राज्य पर तो पाण्डवो का ही अधिकार है । यदि तुम उनका पूरा राज्य उन्हे नही लौटाना चाहते हो, तो मात्र पॉच गॉव ही उन्हे दे दो । मै पाण्डवो को समझा दूँगा और उन्हे इतने मे ही सन्तुष्ट कर लूँगा ।"

जो कृष्ण दुर्योधन के सामने युद्ध को टालने के लिए इस प्रकार झोली फैलाकर खडे होते है, वे हिसा के देवता है या अहिसा के ? उन्होने युद्धजन्य हिसा को टालने का कितना अथक प्रयत्न किया ? और जो आगे आने वाली भयकर हिसा है, उसके विरोधस्वरूप उनके कोमल हृदय मे कितनी ऊँची अहिसा छिपी है ? पॉच गॉव का समझौता, कितना वलिदान पूर्वक किया जाता है—इसे तनिक गहराई मे उतर कर देखिए ।

तात्पर्य यह है कि कृष्ण हिंसा के राक्षस नही थे, वल्कि अहिसा के साक्षात् देवता थे । किन्तु जव उनकी नही चली और दुर्योधन की दुर्वुद्धि से कोई समझौता नही हो सका तो विवश होकर लडाई लडनी ही पडी । वह लडाई राज्य-सुख के

लिए नही लडी गई। अन्याय और अत्याचार को रोकने का जब कोई दूसरा मार्ग नही रह गया, तब युद्ध का मार्ग अपनाया गया। इस स्थिति मे हम कृष्ण को अहिंसा की दृष्टि से देवता के रूप मे, और दुर्योधन को हिंसा की दृष्टि से राक्षस के रूप मे देखते है।

जब इन सब बातो पर गम्भीरता-पूर्वक विचार करेगे तो प्रतीत होगा कि केवल अनुग्रह ही अहिंसा नही है और अहिंसा का दायरा भी इतना छोटा नही कि कष्ट न पहुँचाना और सात्वना देना ही अहिंसा हो, बल्कि अत्याचार को रोकने का प्रश्न उपस्थित होने पर एक अश मे, निग्रह भी अहिंसा का रूप धारण कर लेता है। जैन-धर्म अनेकान्तवादी है, जब हम उसे इसी दृष्टि से देखेगे, तभी उसका सही रूप दिखाई देगा और हमारी समस्त भ्रान्तिपूर्ण भावनाओ का समुचित समाधान हो जायगा।

———

—: ६ :—

अहिंसा का मान-दण्ड

आज हिसा-अहिसा के सम्वन्ध मे हमे एक नवीन और महत्त्वपूर्ण प्रश्न पर विचार करना है। आप भली-भाति जानते है कि जगत मे असख्य प्रकार के प्राणी है और यदि सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाय तो ज्ञात होगा कि प्राणियो के ये असख्य प्रकार भी अपने आप मे अनेक प्रकार के है। तात्पर्य यह है कि जव हम विश्व की अनन्त-असीम जीव-राशि पर विचार करना आरम्भ करते है तो एक नही, अपितु अनेक आधार ऐसे मिलते है, जिनसे समग्र जीव-राशि का वर्गीकरण होता है।

उदाहरणार्थ—कोई जीव एकेन्द्रिय है, कोई द्वीन्द्रिय है, कोई त्रीन्द्रिय है, कोई चतुरिन्द्रिय और कोई पचेन्द्रिय है। इनके अतिरिक्त कोई स्थूल गरीर वाला हाथी है, ऊँट है, या महाकाय मत्स्य है, तो कोई अतीव सूक्ष्म गरीर वाला है। आपने सुना होगा कि सुई की नौक के वरावर निगोद-काय के छोटे से खण्ड मे अनन्त-अनन्त जीवो का निवास होता है।

यहाँ एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय आदि के रूप मे जो वर्गीकरण किया गया है, वह उन जीवो के शरीर की वनावट के आधार

पर है और साथ ही उनकी चेतना के विकास की तरतमता के आधार पर भी। एकेन्द्रिय से द्वीन्द्रिय, और द्वीन्द्रिय से त्रीन्द्रिय आदि जीवो के शरीर की वनावट मे अन्तर होता है। परन्तु शरीर की वनावट का ही भेद उनमे हो, इसके अतिरिक्त अन्य कोई भेद न हो, ऐसी वात नही है। उनमे क्रमश. इन्द्रियो की सख्या वढती चली गई है और इसी वृद्धि के कारण उनकी चेतना का विकास भी अधिक से अधिकतर होता चला गया है।

यह तो उन जीवो की वात हुई—जिन्हे हिंस्य कहते है, अर्थात् जिनकी हिंसा होती है। परन्तु हिसा करते समय सव हिसक भी एक रूप के नही होते। किसी के अन्त करण मे हिसा की भावना वहुत उग्र होती है, क्रोध की ज्वाला वडी ही तीव्र होती है, द्वेष की वृत्ति अत्यन्त वलवती होती है, और किसी के हृदय मे हिसा की वृत्ति मध्यम होती है या मन्द होती है, या जैसा कि केवल द्रव्य-हिसा की विवेचना करते समय कहा जा चुका है, हिसा की वृत्ति होती ही नही है।

इस प्रकार हिंस्य और हिसक की अनेकानेक भूमिकाएँ है और इन दोनो के योग से ही हिसा की निष्पत्ति होती है। ऐसी स्थिति मे स्वभावत यह प्रश्न उपस्थित होता है कि सव हिसाएँ एक ही श्रेणी की होती है या उनमे भी कुछ अन्तर है? यदि जीवन मे होने वाली समस्त हिसाएँ एक ही श्रेणी की होती है तव तो शाक-सब्जी का और माम का खाना एक ही श्रेणी मे होना चाहिए था? परन्तु ऐसा नही है। यदि

ऐसा नही है और हिसा मे वस्तुत किसी प्रकार का तारतम्य है, अर्थात् कोई हिसा बडी है और कोई छोटी है--- तो इस वर्ग-भेद का आधार क्या है ? कौन-से गज से हिसा का बडापन और छोटापन नापना चाहिये ? क्या मरने वाले जीवो की सख्या की अल्पता पर ही हिसा की अल्पता , और अधिकता पर ही हिसा की अधिकता निर्भर है ? अथवा जीवो के शरीर की स्थूलता और सूक्ष्मता पर हिसा की विपुलता और न्यूनता अवलम्बित है ? अथवा हिसक की हिंसामयी मनोवृत्ति की तीव्रता और मन्दता पर हिसा की अधिकता और न्यूनता आश्रित है ? फिर आखिर वह कौन-सा मापक है, जिससे हम हिसा को सही तरीके से नाप सके ?

कुछ लोग कहते है—"पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु और वनस्पति के जीव भी तो जीव ही है। उनमे भी प्राण है और उनको भी जीने का हक है। यदि करुणा की भापा मे कहा जाए तो वे बेचारे भी जिन्दगी रखते है, किन्तु मूक है। शायद इसीलिए आपकी आँखो मे उनका मूल्य नही है ? और द्वीन्द्रिय से लगाकर पचेन्द्रिय तक जितने भी बडे-बडे प्राणी है, उन्ही की जिन्दगी का आप मोल समझते है। इसका अर्थ तो यह हुआ कि जो मूक शिशु के समान बेचारे गरीब है, जो अपने आप मे कुछ सामर्थ्य नही रखते है और जो अपनी रक्षा करने के लिए स्वय योग्य नही है, ऐसे एकेन्द्रिय प्राणियो की हिसा कम मानी जायगी। और जो पचेन्द्रिय है, समर्थ है, बोल सकते है, उनकी हिसा बडी मानी जायगी ? यह सिद्धान्त ठीक नही है। ससार मे सब जीव बराबर है, क्या एकेन्द्रिय

और क्या पचेन्द्रिय । हिसा का एकमात्र आधार जीव है, जीवो मे छोटे और वडेपन का वर्ग-भेद नही है ।"

प्राय हमारे वहुत-से साथी ऐसा कहते है कि—"यह जो आपका विचार करने का ढग है कि एकेन्द्रिय और पचेन्द्रिय जीव की हिसा मे तारतम्य है, और आप उनकी हिसा को कम और अधिक मानते है, तो यह शास्त्र-सम्मत नही है । एकेन्द्रिय की हिसा भी हिसा है । जव दोनो प्रकार की हिसाएँ वास्तव मे हिसा की दृष्टि से वरावर है तो कमती-वढती कैसे हो गई ? सभी हिसाएँ एक जैसी होनी चाहिएँ ।"

कदाचित् इन्ही विचारो के फलस्वरूप राजस्थान मे एक नए पथ का जन्म हुआ है । यो तो उस पथ के जन्म लेने के और भी अनेक कारण सुने जाते है, परन्तु यहाँ उन कारणो की व्याख्या मे नही जाना है । मनुष्य को विचारो का द्वन्द्व ही प्राय धोखा देता है । हाँ, तो मूल मे कोई भी कारण रहा हो, किन्तु हिसा और अहिसा को व्याख्याओ ने भी कुछ कम धोखा नही दिया है और उन्ही व्याख्याओ के कारण भ्रान्तियाँ पहले भी थी, आज भी मौजूद है, और शायद भविष्य मे भी रहेगी । कुछ भी हो, यह प्रश्न गभी-रता से विचारने योग्य है ।

हाँ, तो अव हमे मूल वात पर आ जाना चाहिए । अव तक के विवेचन से एक नई चीज प्रकाश मे आई कि—जव सभी जीव समान है तो उनकी हिसा भी समान होनी चाहिए । उनमे से किसी की हिसा कम, और किसी की

ज्यादा कैसे हो सकती है ? इस तर्क से यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि यदि सब जीवो की हिंसा समान है तो फिर कोई कम हिंसक और कोई अधिक हिंसक क्यो कहलाता है, यदि कहलाता है, तो आखिर उसका क्या कारण है ?

इस नये प्रश्न का एक नया हल निकाला गया है। वह यह है कि जहाँ जीव ज्यादा मरेगे वहाँ ज्यादा हिंसा होगी, और जहाँ कम जीव मरेगे वहाँ कम हिंसा होगी। जब इस मान्यता को आश्रय दिया गया तो जीवो की गिनती शुरु हो गई। जब जीवो की गिनती शुरु हो गई तो विभिन्न प्रकार के नए-नए तर्क भी पैदा होने लगे। यथा—एक आदमी भूखा-प्यासा आपके दरवाजे पर आया है, वह प्यास से छटपटा रहा है और मरने वाला है। यदि आप उसे एक गिलास पानी दे देते है तो उसके प्राण बच सकते है। किन्तु वहाँ हिंसा की तरतमता का प्रश्न उठ खडा होता है। एक तरफ पानी के पिलाने से केवल एक जीव बचता है, किन्तु दूसरी तरफ अनेक जीव मरते है ? क्योकि पानी की एक बूँद मे असख्यात जीव है। पानी के पी लेने पर वे सब मर जाते है। इस प्रकार केवल एक जीव बचाया जा सका, और उसके पीछे असख्यात जीव मारे गये। फिर यहाँ धर्म कैसे हुआ ? और पुण्य कैसे सम्भव होगा ? यह तो वही बात हुई कि एक समर्थ की तो रक्षा करली गई, किन्तु उसके पीछे असख्य असमर्थो को मार दिया गया। इस प्रकार जीवो ो गिन-गिनकर हिंसा की तरतमता कूती जाती है।

क्या सचमुच जैन-धर्म का यही दृष्टिकोण है कि जीवों

को गिन-गिनकर हिंसा का हिसाव लगाया जाय ? जीवो को गिन-गिनकर हिंसा और अहिंसा का मापक तैयार करना जैन-धर्म को इष्ट नही है। जब आगमो की पुरानी परम्परा का अध्ययन करेगे तो आपको विदित होगा कि जैन-धर्म जीवो की गिनती नही करता। वह तो केवल भावो को ही गिनता है। वह सख्या के वाहरी स्थूल गज से हिंसा को नही नापता। वह तो भावनाओ के सूक्ष्म गज से ही हिंसा की न्यूनता और अधिकता को नापता है।

भाव-हिंसा और द्रव्य-हिंसा के प्रकरण मे तदुल-मत्स्य का शास्त्रीय उदाहरण दिया जा चुका है। वेचारा तदुल-मत्स्य एक भी मछली को नही मार सकता, किन्तु फिर भी वह घोर से घोर हिंसा का भागी वन जाता है। यदि अधिक जीवो की हिंसा ही वडी हिंसा का कारण होती तो शास्त्र हमारे सामने तदुल-मत्स्य का उदाहरण प्रस्तुत न करते। परन्तु वास्तव मे ऐसा है नही। यह सिद्धान्त जैन-धर्म का नही है। यह तो हस्तीतापसो* की मनगढन्त मान्यता है।

प्राचीन काल मे अनेकविध तपस्वी होते थे। उनमे से हस्तीतापस घोर तपस्या तथा कठिन व्रतो का पालन करते थे। जब पारणे का दिन आता, तो वे विचार करते थे कि यदि हम वन-फल खाएँगे तो असख्य और अनन्त जीव मरेगे। यदि अनाज आदि खाएँगे, तो उसमे भी जीव होते है, फलत सेर-दो सेर अन्न खाने पर अनेक जीव मारे

* हस्तीतापसो के लिए देखिए, सूत्रकृताङ्ग सूत्र और उसकी टीका —२, ६, ५२

जायँगे। इसमे हिंसा ज्यादा होगी। तो फिर क्यो न किसी एक ही स्थूलकाय जीव को मार लिया जाय, जिसे हम भी खाएँ, दूसरो को भी खिलाएँ, और साथ ही हिंसा की मात्रा भी कम हो। यह सोचकर वे जङ्गल मे एक हाथी को मार लेते थे और कई दिन तक उसे सुविधा-पूर्वक खाते रहते थे। निस्सन्देह उनका यही विचार था कि हम ऐसा करते हैं तो हिंसा कम होती है।

परन्तु भगवान् महावीर ने कहा है कि ऐसा समझना बिल्कुल गलत है। तुम्हे तो जीवो के गिनने की आदत हो गई है कि वनस्पति मे जीवो की सख्या अधिक है तो हिंसा भी अधिक होगी, किन्तु एक हाथी को मार लिया तो सख्या के अनुसार हिंसा कम हो गई। परन्तु ऐसा कदापि न समझो। जब वनस्पति-स्वरूप एकेन्द्रिय की हिंसा होती है तब भावो मे अधिक तीव्रता नही होती। उस समय मन मे उग्र घृणा और द्वेष के भाव पैदा नहीं होते। क्रूरता और निर्दयता की आग नही जलती। परन्तु जब पचेन्द्रिय जीव मारा जाता है तो अन्त करण की स्थिति दूसरे ही प्रकार की हो जाती है। वह हलचल करने वाला विशाल प्राणी है। जब उसे मारते है तो घेरते है, और जब घेरते है तो वह अपनी रक्षा करने का प्रयत्न करता है। इस प्रकार जब भीतर के भावो मे तीव्रता होगी, क्रूरता एव निर्दयता की अधिकता होगी और तदनुसार भाव की प्रबलता होगी, तभी उसकी हिंसा की जायगी। एकेन्द्रिय जीव की हिंसा के परिणामो मे ऐसी तीव्रता नही होती।

भगवान् ने यही बतलाने का प्रयत्न किया है कि एकेन्द्रिय से लेकर पचेन्द्रिय जीव की हिंसा मे भाव एक जैसे नही होते है। अतएव उनकी हिंसा भी एक जैसी नही हो सकती। ज्यो-ज्यो भावो की तीव्रता बढती जाती है, त्यो-त्यो हिंसा की तीव्रता मे भी वृद्धि होती जाती है। एकेन्द्रिय की अपेक्षा द्वीन्द्रिय जीव की हिंसा मे परिणाम अधिक उग्र होगे, इसलिए हिंसा का परिमाण भी ज्यादा होगा। इस क्रम के अनुसार द्वीन्द्रिय से त्रीन्द्रिय मे ज्यादा, त्रीन्द्रिय से चतुरिन्द्रिय मे ज्यादा और चतुरिन्द्रिय से पचेन्द्रिय मे ज्यादा हिंसा मानी जाती है। पचेन्द्रियो मे भी औरो की अपेक्षा मनुष्य को मारने मे सबसे ज्यादा हिंसा होती है।

हिंसा करने वाले के भाव किस गति से तीव्र, तीव्रतर तथा तीव्रतम होते है, यह समझ लेना भी आवश्यक है। आप इस बात पर अवश्य ध्यान दे कि ज्यो-ज्यो विकसित प्राणी मिलते है, जिनकी चेतना का जितना अधिक विकास होता है, उन्हे उतना ही अधिक दुख होता है। इस प्रकार एकेन्द्रिय से पचेन्द्रिय तक उत्तरोत्तर दुख ज्यादा होता है। दुख एक प्रकार की सवेदना है। सवेदना का सबध चेतना के साथ है। जिसकी चेतना का जितना अधिक विकास होगा, उसे दुख की सवेदना उतनी ही अधिक होगी। जबकि एकेन्द्रिय की अपेक्षा द्वीन्द्रिय की चेतना अधिक विकसित है तो यह भी स्पष्ट है कि उसे दुख की सवेदना—अनुभूति भी अधिक तीव्र होगी, और जब दुख की सवेदना तीव्र होगी तो अपनी रक्षा का उपक्रम करते समय आर्त्तध्यान और

रौद्रभाव भी बढेगा। इधर मारने वाले मे भी उतनी ही अधिक क्रूरता और रुद्रता का भाव जागेगा। जो जीव अपने बचाव के लिए जितना ही तीव्र प्रयत्न करेगा, मारने वाले को भी उतना ही तीव्र प्रयत्न मारने के लिए करना पडेगा। इस प्रकार पचेन्द्रिय जीव की हिसा तीव्र भाव के बिना, अत्यधिक क्रूर परिणाम के बिना नही हो सकती। यही कारण है कि उसकी हिसा एक बडी हिसा कहलाती है और अधिक पाप का कारण होती है। यही कारण है कि भगवती और औपपातिक सूत्र आदि मे नरक गमन के कारणो का उल्लेख करते हुए पचेन्द्रिय व ा तो कहा है, किन्तु एकेन्द्रिय वध नही।

तो मै जैन-धर्म की ओर से उद्घोषणा करता हूँ कि सब जीवो को एक ही मापक से और इस दृष्टिकोण से नही नापना है कि सब प्राणी बराबर है, फलत सब को मारने मे एक जैसी ही हिसा होती है। कभी यह भी मत समझो कि एक जीव को मारने से कम हिसा होती है और अनेक जीवो को मारने से अधिक हिसा होती है। जैन-धर्म मे ऐसा कोई एकान्त नही है। यह तो हस्तितापसो का मनगढन्त मत है, जिसका स्वय भगवान् महावीर ने निषेध किया है। परन्तु दुर्भाग्य है, आज वही निषेध भगवान् के गले मढा जा रहा है। किन्तु निष्पक्ष विश्लेषण के द्वारा जब वास्तविकता सामने आती है तो सारा भेद खुलकर ही रहता है।

मान लीजिए, इस प्रकार की मान्यता रखने वाला और उसे दूसरो को समझाने वाला साधु किसी गृहस्थ के घर आहार लेने जाता है। गृहस्थ के घर मे एक तरफ उबली

हुई ककडी का शाक है और दूसरी तरफ उबली हुई मछली है। दोनो ही चीजे, आहार-सम्बन्धी अनुद्दिष्ट आदि नियमो के प्रतिकूल नही है। अब बतलाइए, वहाँ वह साधु क्या निर्णय करेगा ? जो सब जीवो को बराबर मानकर चलता है, उसके लिए उबली हुई ककडी और मछली मे कोई अन्तर नही होना चाहिए। उसके मतानुसार तो जैसी पीडा एकेन्द्रिय को हुई थी, वैसी ही पीडा पचेन्द्रिय को भी होनी चाहिए। परन्तु ऐसी बात जब प्रत्यक्ष रूप से सामने आती है और वास्तविकता की कसौटी पर कसी जाती है, तभी असलियत का पता लगता है।

जब सब जीव एक समान है और सबका शरीर भी समान है तो जिस प्रकार पानी का एक गिलास पी सकते है, क्या वैसे ही मनुष्य का रक्त भी पिया जा सकता है ? जब दोनो ही समान रूप से प्रासुक उपलब्ध हो तो फिर भेद करने का क्या कारण है ?

जो मुनि ऐसा मानता है कि कम जीवो के मरने से कम हिंसा होती है और अनेक जीवो के मरने से अधिक हिंसा होती है, उसके सामने एक दिन ऐसा आदमी आता है, जो माँस खाने वाला है और जिसके यहाँ एक बकरा रोजाना हलाल हो जाता है। उसने उस मुनि से निवेदन किया—मै अहिंसा-व्रत धारण करना चाहता हूँ। किन्तु पूर्ण रूप से हिंसा को त्याग देना मेरे लिए शक्य नही है, क्योकि मेरे यहाँ रोजाना एक बकरा मार कर खाया जाता है और गाजर मूली आदि कदमूल भी खाये जाते है। इन दोनो मे से मै

केवल एक वस्तु का त्याग करना चाहता हूँ। जिस प्रयोग मे अधिक हिसा होती हो, उसी का त्याग करा दीजिए। जिसमे कम हिसा होगी, वही पदार्थ मै खाद्यरूप मे ग्रहण करूँगा।

हो सकता है कि वह मुनि दोनो चीजो का त्याग कराना चाहे, परन्तु त्याग तो त्याग करने वाले की इच्छा पर ही निर्भर है। कल्पना कीजिए—वह दोनो का त्याग नही करना चाहता, वह तो दोनो मे से केवल एक का ही त्याग करना चाहता है।

अब विचार कीजिए, जब यह गम्भीर प्रश्न उस मुनि के सामने आता है तो उसका सही फैसला क्या होगा ? जो इस सिद्धान्त को लेकर चला है कि यदि अधिक जीव मरे तो अधिक हिसा होती है। तो क्या वह कन्दमूल मे अनन्त जीव होने के कारण, उसमे अधिक हिसा मानकर कन्दमूल का उस से त्याग कराएगा ? इधर कन्दमूल मे अनन्त जीव है, किन्तु दूसरी ओर केवल एक बकरा मरता है और उससे सारे परिवार की उदर-पूर्ति हो जाती है। अब बताइए, वे किस सिद्धान्त पर चलेगे ? यहाँ मै यह जानना चाहता हूँ कि जीवो की गिनती का हिसाब लगा-लगाकर हिसा की न्यूनता और अधिकता को तोलने वाले ऐसे प्रसग पर क्या करेगे ? त्यागने वाला तो दो मे से केवल एक का ही त्याग करना चाहता है। यदि वह मुनि कदमूल के खाने मे अधिक हिसा समझते है तो कदमूल का त्याग करा दे, यदि बकरे को मारने मे अधिक हिसा समझते है तो बकरे का त्याग करा दे। यदि मुनिराज बकरे का त्याग करवाते है तो उनकी यह

मान्यता समाप्त हो जाती है कि—जहाँ अधिक जीव मरते है, वहाँ अधिक हिंसा होती है। चारो तरफ बगले झाँकने के बाद अन्त मे वे बकरा मारने का ही त्याग कराएँगे। दुनिया भर मे चक्कर काटने के बाद आखिर उन्हे सही सिद्धात पर ही आना पडेगा।

जैन-धर्म मे एकेन्द्रिय* से लेकर पचेन्द्रिय जीव तक की द्रव्य-हिंसा और भाव-हिंसा मानी गई है, और साथ ही उसमे क्रमश तरतमता भी होती है। तरतमता का मूल कारण हिंसा का सक्लेश परिणाम है। जहाँ क्रोध आदि कषाय की तीव्रता जितनी ही कम होती है, वहाँ हिंसा भी उतनी ही कम होती है। इसी कसौटी पर हिंसा की तीव्रता और मदता को परखना जैन-धर्म को इष्ट है। जब इस कसौटी पर हिंसा और अहिंसा को कसेंगे तो यह स्पष्ट हो जायगा कि एकेन्द्रिय की अपेक्षा पचेन्द्रिय को मारने मे हिंसक के मन मे रौद्र ध्यान अधिक तीव्र होता है और मारने वाले मे भी चेतना अधिक विकसित होने के कारण दु ख की अनुभूति अधिक ही होती है, फलत उसके आर्त्त ध्यान और रौद्र ध्यान भी अधिक

---

* जिन जीवो को एक त्वचारूप स्पर्शन इन्द्रिय होती हैं, वे पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति एकेन्द्रिय कहलाते हैं। स्पर्शक और रसक = जिह्वा वाले शख आदि द्वीन्द्रिय हैं। स्पर्शक, रसक और घ्राण = नाक वाले चीटी आदि त्रीन्द्रिय है। स्पर्शक, रसक, घ्राण और चक्षु = आँख वाले मक्खी, मच्छर आदि चतुरिन्द्रिय हैं। और स्पर्शक, रसक, घ्राण, चक्षु एव श्रोत्र = कान वाले मनुष्य, पशु, पक्षी आदि पचेन्द्रिय प्राणी हैं।

तीव्र ही होते है। इस प्रकार जब वहाँ भाव-हिसा तीव्र है, तो द्रव्य-हिसा भी स्वभावत बडी ही होगी।

यदि ऐसा न माना जाय तो भगवान् नेमिनाथ का पशुमोचन सम्बन्धी जटिल प्रश्न कैसे हल होगा ? वे तो वैराग्य के सागर थे, विवाह नही करना चाहते थे, किन्तु उन्हे विवाह के लिए किसी न किसी तरह मना लिया गया और बरात की तैयारी होने लगी। तब उन्हे स्नान कराया गया। कहते है, १०८ घडो के पानी से स्नान कराया गया। विभिन्न प्रकार के फूलो की अनगिनती मालाएँ पहनाई गई। यह सब कुछ होता रहा, किन्तु फिर भी उन्होने यह नही कहा कि "मेरे विवाह के लिए इतनी अधिक हिसा हो रही है ! एक बूँद मे असख्यात जीव है और एक फूल की एक पाँखुडी मे असख्य अनन्त जीव है। अत मे विवाह नही करना चाहता।" इस प्रकार वहाँ पर उन्होने कोई विरोध प्रकट नही किया।

हाँ, तो बरात द्वारिका से चलकर राजा उग्रसेन के यहाँ पहुँची और जब रथारूढ होकर नेमिनाथ तोरण पर आए तो एक बाडे मे कुछ पशु-पक्षियो को घिरा देखा। यहाँ उन पशु-पक्षियो की करुण पुकार उनके कानो मे पडी। जब इसका कारण पूछा, तो भेद मालूम हुआ—

> अह सारही तओ भणइ, एए भद्दा उ पाणिणो।
> तुज्झ विवाहकज्जमि, भोयावेउ बहुजण ।।
>
> —उत्तर ध्ययन सूत्र २२, २७

अर्थात्, सारथी ने कहा—महाराज ! ये भद्र प्राणी

आपके विवाह प्रसग पर भोजनार्थ मारने के लिए एकत्र किए गये है।

सारथी की वात सुनते ही भगवान् के अण्तकरण मे दया का सागर उमड पडता है।* वे करुणार्द्र होकर कहते है—एक तरफ तो आनन्द-मगल हो रहा है, माँगलिक वाजे वज रहे है और दूसरी तरफ इन मूक पशुओ की गर्दनो पर छुरिया चलाने की तैयारी हो रही है।

वस यह विचार उत्पन्न होते ही उन्होने सारथी से कहा इन पशुओ को वाडे से वाहर निकाल दो। जव सारथी ने पशुओ को निकाल दिया, तो भगवान् प्रसन्न होकर सारथी को अपने अमूल्य आभूषण इनाम मे दे देते है और साथ ही विवाह न करने का दृढ सकल्प कर साधना के महापथ पर चल पडते है।

यादव जाति, मानो जाग उठी। कदाचित् इससे पूर्व उसकी अहिसा के विपय मै कोई विशेप स्पष्ट धारणा नही थी। इस उदाहरण से उसे एक नया सवक मिल गया उसे ध्यान आया कि विवाह के समय हम जो वडी-वडी हिसाएँ करते है और मूक पशुओ की गर्दनो पर छुरी चलाते है, यह कितना वडा अनर्थ है। कितनी वडी अमानुषिकता है।

भगवान् नेमिनाथ ने विवाह का परित्याग करके जो ऊँचा आदर्श समाज के सामने उपस्थित किया, उसका वर्णन भगवान् महावीर ने भी किया है। अव आप विचार कीजिए कि वह आदर्श क्या है? भगवान् नेमिनाथ ने स्नान करने

* देखिए, उत्तराध्ययन सूत्र २२, १८-१९।

समय, जलकाय के असख्य एकेन्द्रिय जीवो की हिसा जानते हुए भी विवाह का त्याग नही किया। किन्तु वाडे मे बन्द किए हुए कुछ गिनती वाले पचेन्द्रिय प्राणियो को देख कर और दया से द्रवित होकर उन्होने विवाह करना अस्वीकार कर दिया। इससे क्या निष्कर्ष निकलता है ? यदि भगवान् एकेन्द्रिय और पचेन्द्रिय जीवो की हिसा को समान समझते होते, तो स्नान करते समय ही उसका विरोध करते और उसी समय विवाह करना अस्वीकार कर देते, क्योकि वहाँ असख्य जल-जीवो की हिसा हो रही थी। यदि उस समय विवाह का त्याग नही किया तो फिर जल के जीवो की अपेक्षा बहुत थोडे पचेन्द्रिय पशु-पक्षियो की हिसा से द्रवित होकर भी विवाह का त्याग न करते। परन्तु सख्या मे थोडे इन पचेन्द्रिय जीवो को मारने के लिए नियत देखकर उनके हृदय मे करुणा का स्रोत बह उठा। इससे यही निष्कर्ष निकलता है कि एकेन्द्रिय और पचेन्द्रिय जीव की हिसा समान नही है।

एक गृहस्थ वनस्पति पर चाकू चलाता है, और दूसरा किसी मनुष्य या पशु की गर्दन पर छुरी चलाता है। अन्त अत करण को ही साक्षी बनाकर पूछो कि क्या दोनो समान पाप के भागी है ? क्या दोनो की हिसा समान कोटि की है ? जो लोग एकेन्द्रिय और पचेन्द्रिय जीव की हिसा को समान ही मानते है, क्या वे गृहस्थ एकेन्द्रिय के समान पचेन्द्रिय का भी वध करते है ? यदि वे स्वय ऐसा नही करते तो दुनिया को चक्कर मे डालने के लिये क्यो एकान्त रूप से सर्व-विध हिसा की समानता का प्रतिपादन करते हैं ?

अहिंसा और हिंसा का प्रधान केन्द्र तो व्यक्ति की भावना ही है। अतएव उसे ही आत्मा की कसौटी पर कस कर देखना होगा। जो इस प्रकार देखेंगे तो मैं समझता हूँ कि हस्तीतापसो के युग में विचरण करने नहीं जायँगे। जीव-गणना के द्वारा हिंसा एवं अहिंसा को आंकना, यह जैन-धर्म की अपनी कसौटी नहीं है, प्रत्युत भगवान् महावीर ने तो इसका प्रबल विरोध किया है। परन्तु दुर्भाग्य से यह भ्रान्ति हमारे अन्दर समाविष्ट हो गई है, अतः आज के विचार-शील जैनों को उक्त भ्रान्ति के सम्बन्ध में अपना मत संसार में स्पष्ट कर देना आवश्यक है। यह एक महत्वपूर्ण चर्चा है, और दया-दान संबंधी समस्त नए-पुराने वाद-विवाद इसी में निहित है।

जो इस सत्यमार्ग पर चलेंगे उनकी आत्मा का कल्याण अवश्य होगा।

—: ७ :—
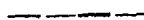
हिंसा की रीढ़ : प्रमाद

धर्म के दो रूप होते है—बाह्य, अर्थात् बहिरंग रूप, और अभ्यन्तर, अर्थात्—अन्तरंग रूप। बहिरंग रूप का अर्थ है—क्रिया-काण्ड, बाहर के आचार-विचार, रहन-सहन, और जीवन मे जो कुछ भी बाह्य रूप से करते है, वे सब काम। अन्तरंग रूप का अर्थ है—वह भावना या विचार, जिससे बाह्य आचार-विचार प्रेरित होता है। कोई भी साधक अपने आप मे किस प्रकार की पवित्र भावनाएँ रखता है, किन उच्च विचारो से प्रेरित और प्रभावित होता है, उसमे जीवन की पवित्रता कितनी है, उसके अन्तरतर मे धर्म का कितना उल्लास है, वहाँ दया और करुणा की लहरे कितनी उठ रही है? यह सब भीतर का रूप ही धर्म का अन्तरंग रूप कहलाता है।

जब यह अन्तरंग दृष्टिकोण विशुद्ध एवं वास्तविकतावादी बन जाता है, अर्थात् दूसरो के संसर्ग या सम्पर्क से उत्पन्न होने वाली विकृति या विभाव से परे होकर आत्मा की सर्वथा शुद्ध एवं स्वाभाविक परिणति की पवित्र भूमिका मे पहुँच जाता है, तब वह धर्म कहलाता है।

बाह्य-धर्म को व्यावहारिक धर्म भी कहते हैं। इसके सम्बन्ध में जैन-धर्म की यह धारणा है कि वह प्राय बदलता रहता है, स्थायी नहीं रहता। प्रत्येक तीर्थंकर अपने-अपने युग में द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव के अनुसार जीवन के बाह्य नियमों में परिवर्तन करते रहते हैं। प्रथम तीर्थंकर भगवान् ऋषभदेव के युग में जैन साधुओं का रहन-सहन कुछ और रूप में था, और बाईस तीर्थंकरों के समय में क्रमिक परिवर्तन के फलस्वरूप दूसरे रूपों में प्रकट हुआ। फिर भगवान् महावीर आये। उन्होंने देश, काल तथा साधकों की बदली हुई वास्तविक स्थिति को सामने रखकर अपने पूर्ववर्ती भगवान् पार्श्वनाथ आदि द्वारा प्रचलित नियमों में अनेक परिवर्तन किये, जिनमें से कुछ हमें आज भी शास्त्रों में पढ़ने को मिलते हैं। जैसे—भगवान् ने वस्त्रों के सम्बन्ध में यह प्रतिबन्ध लगाया कि साधुओं को सफेद रंग के ही वस्त्र पहनने चाहिएँ और वे भी अल्प मूल्य वाले ही हों, बहुमूल्य नहीं। जबकि उनसे पहले यह सैद्धान्तिक प्रतिबन्ध नहीं था। भगवान् पार्श्वनाथ के युग में जैन-साधु किसी भी रंग के एवं बहुमूल्य वस्त्र पहन सकते थे। भगवान् महावीर ने इस दिशा में न केवल वेष-भूषा के विषय में, बल्कि आहार और विहार के सम्बन्ध में भी अनेक प्रगतिशील एवं उपयोगी परिवर्तन किये, जैसे—राजपिण्ड न लेना और एक ही स्थान पर निर्धारित अवधि से अधिक न रहना, आदि।

भगवान् महावीर के युग में साधुओं के लिए पहले, दूसरे, तीसरे और चौथे प्रहर का कार्य-क्रम अलग-अलग बतलाया

गया है। जैसे —

> पढम पोरिसि सज्झाय, बीय झाण झियायई।
> तइयाए भिक्खायरियं, पुणो चउत्थीइ सज्झाय॥
>
> —उत्तराध्ययन, २६, १२

साधु की दिन-चर्य्या चार प्रहरो मे बॉट दी गई थी। पहले प्रहर मे स्वाध्याय करना, अर्थात्—पहला प्रहर सूत्र-स्वाध्याय मे व्यतीत करना। दूसरा प्रहर उसके अर्थ का चिन्तन करने मे, ध्यान मे, तर्क-वितर्क मे एव जीवन के सूक्ष्म रहस्यो को स्पष्ट रूप से सुलझाने मे गुजारना। इसी कारण पहला प्रहर 'सूत्र-पौरुषी' और दूसरा प्रहर 'अर्थ-पौरुषी' कहलाता था। यह दोनो साकेतिक शब्द है, जिन्हे दुर्भाग्य से आज बिल्कुल ही भुला दिया है और निष्कासित-सा कर दिया है। अत इस शब्दावली का एक दिन जो बहुमूल्य महत्व था, वह हमारे ध्यान से निकल गया है।

तीसरे प्रहर मे साधु को भिक्षा के लिए जाने का विधान था। इस विधान के अनुसार यह सैद्धान्तिक भाव था कि जब साधु गृहस्थ के घर जाए, तो ऐसी स्थिति मे जाए कि घर के सब लोग भोजन करके निवृत्त हो चुके हो। स्त्री, बच्चे और बूढे सभी खा-पी चुके हो, बचा हुआ भोजन अलग रख दिया गया हो जिसकी आवश्यकता न रह गई हो। ऐसे समय पर साधु भिक्षा के लिए जाए और उस बचे हुए भोजन मे से अपनी आवश्यकता की पूर्ति के लिए थोडा-सा ले आए।

जिस समय गृहस्थी के यहाँ भोजन बन रहा हो या घर के लोग खा-पी रहे हो, उस समय साधु भिक्षा के लिए नही

जाया करते थे। क्योंकि उस समय जाकर यदि साधु भिक्षा ले आता है तो सम्भव है कि घर वालो के लिए भोजन कम पड जाय और फिर दुबारा बनाने की अनावश्यक परेशानी उठानी पड़े।

भगवान् महावीर के पश्चात् कुछ काल तक यह विधान चला। उसके बाद आचार्य शय्यम्भव के युग मे नया परिवर्तन हुआ। तीसरे प्रहर की भिक्षा का नियम सिमटने लगा, लोगो का रहन-सहन भी बदला। प्रत्येक गृहस्थ के यहाँ तीसरे प्रहर तक भोजन की स्थिति प्राय नही रही थी, अत उस समय साधु के जाने पर भिक्षा देने वाले और लेने वाले दोनो को ही असुविधा होना स्वाभाविक था। साधुओ से प्राय गृहस्थ यही कहते थे—भोजन के समय पर तो आप आते नही, और समय बीत जाने पर आकर व्यर्थ ही हमे लज्जित करते है। यह भी कोई गोचरी है? जब इस प्रकार की परिस्थिति उत्पन्न हो गई तो आवश्यकता ने आचार्यों को नया विधान बनाने की प्रगतिशील प्रेरणा दी —

अकाल च विवज्जित्ता, काले काल समायरे।

—दशवैकालिक सूत्र ५, २ ४।

अर्थात्—साधुओ को गाँव की प्रथा के अनुसार भोजन के ठीक समय पर ही भिक्षा के लिए निकलना चाहिए और गृहस्थो की स्थिति का ध्यान रखना चाहिए। असमय मे भिक्षा के लिए जाने से गृहस्थो को अप्रीति होगी, उनके चित्त मे क्षोभ और तिरस्कार जागृत होगा और स्वय को भोजन न मिलने पर साधु के मन मे भी गाँव वालो के प्रति तिरस्कार

का भाव उत्पन्न होगा। इस प्रकार दोनो ओर के सकल्पो मे गडवडी हो जायगी। इसी विचारधारा से यह नया विधान प्रसारित किया गया कि जिस गॉव मे भोजन का जो निश्चित-सा समय हो, वही भिक्षा का समय नियत कर लिया जाय।

यह एक युगान्तरकारी परिवर्तन था। उक्त उदाहरणो की परछाई मे हम देखते है कि धर्म के बाह्य रूपो मे तीर्थकरो के युग से लेकर आचार्यो के युग तक लगातार परिवर्तन होते रहे है।

परन्तु धर्म का अन्तरग रूप ऐसा नही होता। उसमे कभी कुछ भी बदलने वाला नही है। वह अनन्त-अनन्त काल तक ज्यो का त्यो स्थायी रहने वाला है। वह जैसा वर्त्तमान मे है, वैसा ही भूतकाल मे भी था और भविष्य मे भी ऐसा ही रहेगा। चाहे कितने ही तीर्थकर आएँ और परिवर्तनकारी प्रेरणा प्रसारित भी क्यो न करे, किन्तु अन्तरग मे अणमात्र भी परिवर्तन होने वाला नही है।

प्रतिवर्ष पतझड की ऋतु मे वृक्षो के फल, फूल तथा पत्ते सब चले जाते है, किन्तु पतझड के बाद वह फिर नवीन कोपलो से सुहावना दिखाई देने लगता है। फिर उसमे फूल-फल लगते है, वह हरा-भरा और मनोरम हो जाता है। कुछ समय बाद फिर पतझड की ऋतु आती है और वह वृक्ष फिर ठूँठ-सा दिखाई देने लगता है। इससे स्पष्ट है कि वृक्ष बाहर मे अपना रूप अवश्य बदलता रहता है, परन्तु अपने मूल रूप को नही बदलता। यदि वृक्ष का मूल रूप ही बदल जाए तो फिर फलो,फलो और पत्तो के लिए वहाँ गुंजाइश

कहाँ रहे ?

उपर्युक्त कथन से यह सिद्धान्त निकला कि प्रत्येक सत्य का एक स्थायी रूप होता है और शेष बदलता हुआ रूप। यदि सदा सर्वदा स्थायी रहने वाला कुछ भी रूप न हो तो परिवर्तन होने वाला——बदलने वाला रूप किसके सहारे टिकेगा ? क्या वह आधार-शून्य न हो जाएगा ?

इस प्रकार व्यावहारिक रूप मे धर्म बदलता रहता है—उसे देश, काल और परिस्थिति के अनुरूप तीर्थंकर भी बदल देते है और आगे होने वाले आचार्य भी द्रव्य, क्षेत्र, काल तथा भाव के अनुसार यथासमय बदल डालते है। किन्तु अन्तरग धर्म कभी नही बदलता। वह सदैव एक-सा रहता है।

अहिसा-धर्म अन्तरग धर्म है। वह निश्चय धर्म है। अहिसा अपने आप मे बदलने वाली सासारिक वस्तु नही है। वह तो एक त्रिकाल स्थायी, सत्य एव शाश्वत धर्म है। वह तो अनादि काल से चला आ रहा है, आज भी चल रहा है और अपनी सुनिश्चित गति से आगे भी चलता रहेगा।

जैन-धर्म मे आत्मा कभी नही बदलती*। शरीर अवश्य बदलता है, किन्तु आत्मा उसी रूप मे स्थिर रहती है। वह किसी भी परिस्थिति मे बदल नही सकती। हमने अनन्त-अनन्त काल ससार मे रहकर बिताए, तब भी आत्मा नही बदली। यहाँ तक कि जब मोक्ष मे जाना होता है, तब भी

---

* आत्मा का परिवर्तन आत्म-रूप में ही होता है, जड रूप में नही। यहाँ आत्मा के न बदलने का अर्थ है—आत्मा का आत्मस्वरूप से कभी नाश नही होता। वह सदा अखण्ड एव अभेद्य रहती है।

आत्मा नही बदलती है। आत्मा तो सदा आत्मा ही रहेगी, वह कदापि अनात्मा नही हो सकती। हाँ, इस पचभौतिक शरीर को किसी दिन ग्रहण किया जाता है, तो किसी दिन छोड भी दिया जाता है। इस प्रकार यह परम्परा सदैव जारी रहती है।

अहिंसा जैन-धर्म की आत्मा है। उसके मूल रूप मे किसी भी समय और किसी भी परिस्थितिवश किसी भी प्रकार का परिवर्त्तन सम्भव नही हो सकता। अत जैन-धर्म को समझने के लिए पहले अहिंसा को भली-भाँति समझना चाहिए और अहिंसा को भली-भाँति समझने के लिए जैन-धर्म को सही दृष्टिकोण मे देखना चाहिए। यह दोनो, मानो एक रूप हो गए है। इन्हे एक-दूसरे मे अलग नही किया जा सकता।

जब जैन-धर्म का प्रसग आता है तो अहिंसा तुरन्त याद आ जाती है। इसी प्रकार जब अहिंसा का प्रसग छिडता है तो तुरन्त जैन-धर्म की याद आ जाती है। अस्तु हम जैन-धर्म के साथ ही अहिंसा का भी स्मरण किया करते है। इस प्रयोजन मे अकेले हम ही नही, अपितु हमारे अजैन साथी भी जब किसी प्रसगवश अहिंसा को याद करते है, तो साथ-साथ जैन-धर्म को भी याद कर लेते है।

परन्तु अहिंसा-तत्व वास्तव मे इतना सूक्ष्म है कि उसको ठीक-ठीक समझने मे भूल और भ्रातियाँ भी हो सकती है, क्योकि सामान्य बुद्धि के लोग तो उसके स्थूल रूप को ही पकड लेते है। उसका सूक्ष्म रूप उनकी बुद्धि की पकड मे नही आता। अतएव अहिंसा के सम्बन्ध मे तीर्थकरो ने या

आचार्यों ने क्या स्पष्टीकरण किया है ? अहिंसा के कितने विभाग किये गए है ? इत्यादि विषयो पर गहराई से विचार करने से ही अहिंसा का ठीक विचार हो सकेगा ।

अहिंसा के भेदो को समझने के लिए, पहले हिंसा के भेदो को समझना पडेगा । आखिर अहिंसा का निषेधरूप अर्थ है—हिंसा का न होना । अत अब यह मालूम करे कि हिंसा कितने प्रकार की है ? यदि आप जैन-धर्म से जानना चाहते है तब तो आपको अहिंसा के अनन्त-अनन्त भेद ज्ञात होंगे । संख्यात नही, असंख्यात भी नही, बल्कि अनन्त-अनन्त ! और वस्तुत यह परिमाण ठीक भी है । कोई आदमी समुद्र के किनारे खडा है और उस समय ज्वार-भाटे के कारण समुद्र मे जो लहरे उठती है और गिरती है, क्या उनकी गिनती की जानी सम्भव है ? यह घटना-चक्र तो दिन-रात निरन्तर चलता ही रहता है और इस प्रकार सारा समुद्र प्रतिपल लहरो मे नाचता रहता है ।

आप अपने मन को भी समुद्ररूप मे कल्पित कर सकते है । इस मन के समुद्र मे भी प्रतिपल विचारो का ज्वार-भाटा उठता रहता है और उसकी लहरे हिलोरे मारा करती है । इस मन मे भी दिन-रात, प्रतिपल, प्रति सैकिड, भावना-रूपी लहरे उठती है और बठ जाती है और फिर नए वेग से उठती है । उस समय ऐसा मालूम होता है कि हमारा मन मानो नाच रहा है । एक क्षण के लिए भी शान्त नही होता है । इसी बात को ध्यान मे रखकर जैन-जगत् के महान् एव मर्मज्ञ विचारक श्री बनारसीदास ने कहा है —

एक जीव की एक दिन, दसा होइ जेतीक,
सो कहि न सकै केवली, यद्यपि जानै ठीक।

और मन की हो क्या बात है ? जहाँ मन नही है, वहाँ भी अध्यवसाय तो होते ही है और उनके द्वारा अमनस्क प्राणी के जीवन भी हर समय नाचते ही रहते है। एकेन्द्रिय जीव को मन नही होता, फिर भी वह कितने कर्म समय-समय पर बाँधता है, अर्थात् सात या आठ ! सात कर्म तो नियम से बँधने अनिवार्य ही है। समय बडा ही सूक्ष्म है। इस सूक्ष्म-सूक्ष्मतम समय मे सात कर्मों के अनन्त-अनन्त परमाणु-स्कन्धो का आत्मा के साथ बँध जाना अध्यवसाय के बिना किसी भी रूप मे संभव नही है। आप यह तो भली-भाति जानते है कि वन्ध कब होता है ? जब आत्मा मे कम्पन उत्पन्न होगा, हलचल होगी और उसके साथ क्रोध, मान, माया तथा लोभ के संस्कार जाग्रत होगे—तभी कर्म-बन्ध होना सम्भव है। जब यह संस्कार नही रहते, योगो की हलचल से आत्मा मे कम्पन नही होता, तब कर्म-बन्ध भी नही होता।

जब मन, वाणी और शरीर मे कम्पन नही होता तो उस अवस्था मे आत्मा पूरी तरह शान्त और स्थिर हो जाती है। आत्मा की वह दशा 'शैलेशी अवस्था' कहलाती है और वहाँ पूर्ण निश्चल अवस्था आ जाती है। दसवे गुण-स्थान तक कषायो से तथा योगो से बंध होता है, और ग्यारहवे, बारहवे तथा तेरहवे गुण-स्थान मे कषाय न रहने पर केवल योगो के द्वारा ही बंध होता है। चौदहवे गुण-स्थान मे

कपाय और योग-दोनो ही नही रहते, अतएव वहां अवन्धक-दशा प्राप्त होती है। मिद्धो को भी कर्मबंध नही होता, क्योंकि वहां भी कपाय और योगो का अस्तित्व नही रहता है।

ऊपरकथित विवेचन मे क्या आशय फलित हुआ ? हमारा मन, वाणी, और शरीर भी समुद्र की भांति हिलोरे मारता है और उसमे निरन्तर हलचल मची रहती है। चाहे कोई जीव एकेन्द्रिय हो, द्वीन्द्रिय हो, त्रीन्द्रिय हो, चतुरिन्द्रिय हो अथवा पचेन्द्रिय हो, परन्तु जब तक उसमे ससारी दशा का यौगिक अस्तित्व है, तब तक कम्पन होना अनिवार्य है।

हां, तो नीचे की भूमिकाओ मे मन का प्रत्येक कम्पन हिमा है। और जब कम्पन की कोई गिनती नही की जा सकती, तो हिसा के भेदो की गणना भी कैसे की जा सकती है ? फिर भी स्थूल रूप से उनकी गणना की गई है। इस विषय की पूरी छान-बीन करके आचार्यों ने बतलाया है कि सामान्य बुद्धि तथा सामान्य दृष्टि वाला प्राणी हिमा के अनन्त रूपो को स्पष्ट रूप से नही समझ सकता, फिर भी जो स्थूल रूप, जितने अशो मे आपकी समझ मे आ सके, उनको ध्यान मे अवश्य रखना चाहिए।

सबसे पहले हिसा के तीन रूप है—(१) सरम्भ, (२) समारम्भ, और (३) आरम्भ।

> मनोपुब्बंगमा धम्मा, मनोसेट्ठा मनोमया।
> मनसा चे पदुट्ठेन, भामति वा करोति वा ॥
>
> —धम्मपद

जितनी भी बातें हैं, क्रियाएँ हैं या हरकतें हैं, वे सबसे पहले मन में जन्म लेती हैं और अध्यवसायों में अंकुरित होती है। हमारा सारा जीवन मानसिक अध्यवसायों द्वारा ही प्रेरित और संचालित होता है। अतएव वे अध्यवसाय ही मुख्य रूप में हिंसा की जन्म-भूमि हैं। इस प्रकार सबसे पहले हिंसा के विचार उत्पन्न होते हैं और फिर हिंसा करने के लिए सामग्री जुटाई जाती है।

इस स्थिति में हिंसा के विचारों का उत्पन्न होना 'संरम्भ' कहलाता है और हिंसा के लिए सामग्री जुटाना 'समारम्भ' कहलाता है। इन दोनों क्रियाओं के बाद 'आरम्भ' का नम्बर आता है। 'आरम्भ' का क्रम हिंसा के प्रारम्भ से लेकर अन्तिम मार देने तक चलता है।

इस प्रकार हिंसा के तीन भेद हुए। अब देखना चाहिए कि हिंसा का जो संकल्प या प्रयत्न किया जाता है, वह क्यों किया जाता है? उत्तर में कहना है कि—अन्तर्हृदय की दूषित भावनाओं की प्रेरणा से हिंसा का संकल्प होता है, हिंसा की सामग्री जुटाई जाती है और अन्त में उन्हीं भावनाओं से बल पाकर हिंसा करने का सक्रिय प्रयत्न किया जाता है।

हाँ तो वे भावनाएँ क्या हैं? उन्हें खोजने का प्रयत्न करना चाहिए। वे भावनाएँ चार प्रकार की हैं और वस्तुतः वे दुर्भावनाएँ हैं—क्रोध, मान, माया और लोभ। जब कभी हिंसारूप दुष्ट प्रवृत्ति की जाती है तो उसके भाव—क्रोध से, मान से, माया से, अथवा लोभ से उत्पन्न होते हैं। इन्हीं को चार प्रकार के कषाय कहते हैं। इन चारों कषायों के कारण

ही सरम्भ-रूप हिंसा होती है, इन्ही से समारम्भ-रूप हिंसा होती है और इन्ही से अन्तिम आरम्भ-रूप हिंसा हुआ करती है। अतएव इन चारो के साथ सरम्भ आदि तीन का गुणन करने से हिंसा के बारह भेद बन जाते है। कषायो का रग जितना अधिक गहरा होगा, उतनी ही अधिक हिंसा होगी और जितना रग कम होगा, हिंसा भी उतनी ही कम होगी। अत स्पष्ट है कि हिंसा की पृष्ठ-भूमि 'कषाय' है, जिसे सदैव ध्यान मे रखना चाहिए।

जीव प्राय कषाय से प्रेरित होकर ही हिंसा करता है। परन्तु हिंसा के मुख्य औजार है—तीन योग अर्थात्—मन, वचन और काय। यही तीन शक्तियाँ मनुष्य के पास है। जब मन पर, वचन पर और काय पर हरकत आती है तभी हिंसा होती है। अतएव ऊपर कहे बारह भेदो का तीन से गुणन कर देने पर हिंसा के छत्तीस भेद हो जाते है।

मन, वचन और काय के भी तीन भेद है—स्वय करना, दूसरो से करवाना और अनुमोदना करना। इन तीनो योगो के द्वारा हिंसा करने के तीन तरीके है, जिन्हे 'करण' कहते है। इनके साथ पूर्वोक्त छत्तीस भेदो को गुणित कर देने पर हिंसा के १०८ भेद निष्पन्न हो जाते है।

हिंसा की इन १०८ प्रकार की निवृत्तियो के उद्देश्य से ही आप १०८ दानो वाली माला जपते है।

यह पहले बतलाया जा चुका है कि सामान्यत हिंसा से निवृत्ति पा लेना ही अहिंसा है। इसका तात्पर्य यह है कि मनुष्य ज्यो-ज्यो हिंसा के इन भेदो से निवृत्त होता जाता है,

त्यो-त्यो वह अहिंसा के भेदो की साधना करता जाता है। इससे यह बात भी स्पष्ट हो जाती है कि जितने भेद हिंसा के हैं उतने ही अहिंसा के भी है, और जितने भेद अहिंसा के हो सकते हैं उतने ही हिंसा के भी समझने चाहिएँ।

इस प्रकार जब आप हिंसा और अहिंसा के निरूपण पर ध्यान देंगे तो ज्ञात होगा कि जैन-धर्म बडी सूक्ष्मता तक पहुँचता है, अन्तरतम की गहराई मे चला जाता है। और उस गहराई को समझने के लिए साधक को अपनी बुद्धि तथा अपने विवेक को सतत् साथ रखने की जरूरत है। अन्यथा वास्तविकता समझ मे नही आएगी।

उपर्युक्त प्रस्तावना से आप भली-भाँति समझ सकते है कि हिंसा का अर्थ केवल मारना ही नही है, किन्तु हिंसा का सकल्प मात्र भी हिंसा है। किसी जीव को लेकर इधर से उधर कर देना, उसे ठुकरा देना या एक जीव के ऊपर दूसरे जीव को रख देना भी हिंसा है, और क्षणिक मनोरजन के लिए किसी जीव को धूल से ढँक देना भी हिंसा है। यदि जीव आ जा रहे है और स्वतन्त्र रूप से विचरण कर रहे है तो उनकी स्वतन्त्रता मे रुकावट डालना भी हिंसा है। यहाँ तक कि किसी जीव को अकारण छू लेना भी हिंसा है। यह सब मर्यादाएँ सुप्रसिद्ध 'इरियावहिया' के पाठ मे आ जाती है।

हाँ, तो जैन-धर्म यही कहता है कि किसी भी प्राणी की स्वतन्त्रता मे तुम बाधक मत बनो। उसके जीवन की जो भी भूमिका है, उसी के अनुसार वह गति कर रहा है। यदि तुमने उसका रास्ता रोक दिया अथवा उसे छू दिया

तो तुम हिंसा के भागी हो गए। इस रूप मे आपको अहिंसा-धर्म की सूक्ष्म व्याख्या सुनने को अन्यत्र न मिलेगी।

अहिंसा-धर्म की इन बारीकियो का देखकर साधारण जनता सहसा आश्चर्यचकित हो जाती है। क्योकि आखिर मनुष्य अपनी जिन्दगी मे हरकत तो करता ही है, वह आता भी है और जाता भी है। इस तरह कहीं न कहीं, और किसी न किसी जीव के गन्तव्य मार्ग मे रुकावट आ ही जाती है। किसी न किसी को पीडा पहुँचे विना नही रहती फलत वह जीव भयभीत हो ही जाता है। ऐसी स्थिति मे स्वभावत यह प्रश्न उपस्थित हो जाता है कि आखिर हम किस प्रकार अहिंसक रह सकते है ? यह प्रश्न हमारे और आपके समक्ष समान रूप से उपस्थित होता है। आखिर साधु से भी किसी प्राणी को पीडा पहुँच सकती है। कल्पना कीजिए—साधु के जल से भरे पात्र मे मक्खी गिर जाती है। उसे निकालने के लिए पहले तो छूना ही पडता है और तब वह निकाली जाती है।

मान लीजिए, एक प्राणी है और वह धूप मे पडा है। अपग होने के कारण वह इधर-उधर नही जा सकता। वह धूप का मारा तिलमिला रहा है और मौत के मुँह मे जाने की तैयारी कर रहा है। आप अपनी उदारतावश उसे उठाकर एक जगह से दूसरी जगह रख देते है। निस्सन्देह आपने तो सोच-समझकर और दया से प्रेरित होकर ऐसा किया है, किन्तु कोई आपसे कहता है—"ठाणाओ ठाण सकामिआ", अर्थात्—जीव को एक जगह से दूसरी जगह रख देना भी

हिंसा है। इस प्रकार जब किसी जीव की गति मे बाधा पहुँचाना, और यहाँ तक कि उसे छूना भी हिंसा है, तो आप प्रमार्जन क्रिया कैसे कर सकते है ? प्राणी स्वतन्त्रता पूर्वक घूम रहे है और जब आप प्रमार्जन करते है, तो उन्हे एक जगह से घसीटकर दूसरी जगह ले जाते है।

यदि इसी दृष्टि से विचार किया जाएगा, तो कही पैर रखने को भी जगह न मिलेगी। जीवन-व्यापार का सचालन करना भी हिंसा के बिना सम्भव नही है। आखिर श्वास की हवा से भी तो सूक्ष्म जन्तुओ की स्वतन्त्र गति मे बाधा पडती है। इस सम्बन्ध मे किसी ने एक आचार्य से प्रश्न किया—

> जले जन्तु स्थले जन्तुराकाशे जन्तुरेव च।
> जन्तुमालाकुले लोके, कथ भिक्षुरहिंसक ?॥
>
> —तत्त्वार्थ राजवार्तिक ७, १३

अर्थात्—जल मे भी जीव है और स्थल पर भी जीव है। और आकाश मे भी सर्वत्र अनगिनत जीव-जन्तुओ की भरमार है। इस तरह जब सारा ससार जीवो से व्याप्त है, कही एक इ च भी जगह खाली नही है तो भिक्षु अहिंसक कैसे रह सकता है ?

अस्तु, जो प्रश्न आज पैदा होता है, वह पहले भी पैदा हुआ था। अभिप्राय यह है कि जब आप किसी कीडे-मकोडे को जाता हुआ देखते है और रजोहरण से प्रमार्जन करते है तो तनिक विचार कीजिए कि चीटियो का शरीर क्या है ! उनकी शारीराकृति बहुत छोटी-सी है। ज्यो ही आपका रजोहरण

उन पर पडता है, वे भयभीत हो जाती है। अपने दुःख की कल्पना वे स्वय ही कर सकती हैं। कदाचित् आप तो यही कह सकते है—कौन बडा बोझा उनके ऊपर पड गया। परन्तु जब उनके ऊपर रजोहरण पडता है तो उन्हे ऐसा मालूम होता है जैसे उन पर कोई पहाड टूट पडा हो। निस्सन्देह वे त्रस्त हो जाती है और जब घसीटते-घसीटते आप उन्हे दूर तक ले जाते है, तो उन कोमल शरीर वाली बेचारी चीटियो को ऐसा लगता है, मानो अब जिन्दगी का अन्तिम क्षण आ पहुँचा हो। इस सम्बन्ध मे शास्त्रकार भी कहते है—"सघाइया सघट्टिया", अर्थात्—पृथ्वी पर रगडा हो या छूआ हो, अथवा एक-दूसरे पर डाला गया हो, तो यह सब हिंसा के ही विभिन्न रूप है।

अब प्रश्न उपस्थित होता है कि यह सब क्या है? अहिंसा की भूमिका को हम किस प्रकार अपने जीवन मे तय कर सकते है? शुद्ध अहिंसक बनने के लिए कही यह तो अनिवार्य नही है कि इधर 'करेमि भते' और 'वोसिरामि' बोले और उधर जहर की पुडिया खाकर ससार से ही विदा हो जायँ? आखिर सर्वथा निश्चल कैसे रहा जा सकता है? जब आत्मा ससार मे रहता है और जीवन-व्यापार चलाना भी अनिवार्य है तो फिर पूरी तरह निष्क्रिय होकर किस प्रकार मुर्दो की तरह पडा रहा जा सकता है?

भगवान् महावीर छह मास तक हिमालय की चट्टान की तरह अचल खडे रहे, किन्तु उसके बाद वे भी पारणा के लिए गए और हरकत शुरू हो गई। महीना, दो महीना

और अधिक से अधिक छह महीना कायोत्सर्ग मे बिताये जा सकते है, किन्तु फिर भी जीवन तो जीवन ही है। उसमे गमन-आगमन किये बिना जीवन का व्यापार चल नही सकता । फिर साधुओ पर तो एक जगह अनिश्चित समय तक ठहरने के लिए प्रतिबन्ध भी कडा है । साधुओ को निर्धारित समय से अधिक एक जगह ठहरना नही चाहिए । उन्हे तो ग्रामानुग्राम विहार करना ही चाहिये । जब यह स्थिति हमारे समक्ष है, तो हम विचार करना चाहते है कि अहिसा और हिसा की मूल भूमि कहाँ है ?

जब आप जैन-धर्म के मर्मस्थल को स्पर्श करेगे तो एक बात ध्यान मे अवश्य आएगी कि जितनी भी हरकते होती है, जो भी काम किये जाते है या जो भी चेष्टाएँ उत्पन्न होती है, उन सबके मूल मे हिसा नही उठती है और न उनके मूल मे कही पाप ही होता है । वे अपने आप मे दोषयुक्त भी नही है । किन्तु उनके पीछे जो सकल्प है, भावनाएँ है, या कषाय है , उन्ही मे हिसा है और वही पाप भी है । अभिप्राय यही है कि जैन-धर्म के सामने जब यह प्रश्न उपस्थित होता है कि—क्या खाने-पीने मे भी पाप है ? तब वह उत्तर देता है कि—खाने-पीने मे तो पाप नही है, किन्तु यह बतला दो कि उसके पीछे वृत्ति क्या है ? यदि खाने के पीछे अविवेक की भावना तो है, किन्तु कर्त्तव्य की भावना नही है , यदि तू खाना केवल खाने के लिये और स्वाद के लिए ही खाता है, और ऐसे खाने के बाद शरीर का क्या उपयोग करेगा—यह निर्णय नही किया है तो तेरा

खाना हिंसा है। खाने के पीछे यदि विवेक है, यतना है और खाने के लिए ही नहीं खाना है, अपितु जीने के लिए खाना है और उसके पीछे खाकर सत्कर्म करने की भावना है तो ऐसा खाना धर्म है।

अब बतलाइए कि—'तप' धर्म है या 'पारणा'? किसी ने छह मास की तपस्या की और फिर एक दिन पारणा भी किया तो पारणे के दिन धर्म होता है या पाप? औरों को जाने दीजिए, भगवान् महावीर को ही लीजिए। उन्होंने छह मास तक तप किया और फिर पारणा भी किया, तो पारणा के द्वारा उनकी आत्मा ऊपर उठी या नीचे गिरी? तप धर्म तो उन्होंने छोड दिया। फिर उसके पीछे क्या अभिप्राय है? कौन-सी वृत्ति काम कर रही है? उत्तर में यही कहना होगा कि—वह आत्मा, जो तप के द्वारा ऊपर चढ चुकी थी, पारणे के दिन उसे तप में भी आगे बढना ही चाहिए था। पारणे के बाद फिर उन्होंने तप साधना और फिर पारणा किया। तब भी वे आत्म-विकास की मंजिल में आगे ही बढे। सारांश में यही कहना पडेगा कि चाहे व्रत हो या पारणा, आत्मा की ऊर्ध्वगति ही होनी चाहिए।

हाँ, तो भगवान् महावीर ने जब तप किया, तब भी उनकी आत्मा ऊपर उठी और पारणा किया तब भी ऊपर ही उठी। उनकी चारित्र-आत्मा वर्द्धमान थी, हीयमान नहीं। यदि किसी भूल अथवा भ्रान्ति-वश इस सिद्धान्त को स्वीकार नहीं किया जायगा तो भगवान् महावीर के चारित्र को भी हीयमान मानना पडेगा।

एक वार मालवा के एक बडे शास्त्री जी ने मेरे पास यह प्रश्न भेजा था कि—"भोजन करना प्रमाद की ही एक भूमिका है। प्रमाद के विना भोजन नही किया जा सकता, वोला भी नही जा सकता और गमनागमन भी नही किया जा सकता। अत जव कभी भोजनादि क्रियाएँ की जाती है तो आत्मा ऊँचे गुण-स्थानो से नीचे उतर आता है, अप्रमाद से प्रमाद की भूमिका पर आ जाता है।"

मैने उत्तर दिया कि—फिर तेरहवे गुण-स्थान वाला केवली क्या करेगा? वह क्षायिक चारित्र का गुण-स्थान है और देशोन कोटि पूर्व तक उत्कृष्ट स्थिति मे एक-रस रहता है और न्यूनाधिक नही होता है। उस गुण-स्थान वाले भूख लगने पर भोजन भी करते है, प्यास लगने पर पानी भी पीते है और आवश्यकता पडने पर गमनागमन भी करते है। वे उठने और बैठने की क्रियाएँ भी करते है। ये समस्त क्रियाएँ वहाँ होती है। यदि यह मान लेते है कि इन क्रियाओ मे प्रमाद अवश्य आ जाता है, और प्रमाद की प्रतिक्रिया नीचे दर्जे की भूमिका है—तो फिर यह भी मानना पडेगा कि भगवान् महावीर की तेरहवे गुण-स्थान की भूमिका भी ऊँची और नीची होती रहती थी। अब वतलाइए कि साधारण साधु की तुलना मे, उनमे क्या विशेषता रह जायगी?

हाँ, तो फिर जैन-धर्म का क्या दृष्टिकोण है? वह क्रिया करने मे कोई पुण्य-पाप नही मानता है, वोलने आदि मे पाप-पुण्य स्वीकार नही करता है। जैन-धर्म के मूल सिद्धान्त के

अनुसार बोलने आदि के पीछे जो संकल्प है, उसी मे पुण्य और पाप है। यदि उन क्रियाओ के पीछे कषाय है, तो वह पाप है, और यदि सद्बुद्धि है, तो धर्म है। यदि कोई साधक गमनागमन मे विवेक रखता है और किसी प्रकार की असावधानी भी नही रखता है, किन्तु फिर भी हिंसा हो जाती है, तो वह हिंसा पाप-प्रकृति का बंध नही करती। इसी तरह यदि कोई श्रावक किसी क्रिया मे यतना रखता है, गड़बड़ाता भी नही है, किन्तु फिर भी कदाचित् हिंसा हो जाती है, तो वह भी पाप-प्रकृति का बंध नही करता। इस सम्बन्ध मे भगवान् महावीर ने 'सूत्रकृताङ्ग-सूत्र' मे कहा है —

पमायं कम्ममाहंसु,
अप्पमायं तहाऽवरं।"

जहाँ प्रमाद है, भूल है और अयतना है—वही पाप-कर्म है। इसके विपरीत जहाँ प्रमाद नही है, अविवेक नही है— अपितु अप्रमत्तता है, विवेक है, जागरूकता है, और यतना है—वहाँ कोई भी क्रिया क्यो न हो, वह अहिंसा है, कर्म बन्ध का हेतु नही है, अपितु वहाँ कर्मो की निर्जरा है।

यह जैन-धर्म का सही दृष्टिकोण है। जब हम इसे ध्यान मे रखते है तो जैन-धर्म की जो आत्मा है, प्राण है— वह स्पष्ट रूप से हमारे सामने झलकने लगता है।

मैने पहले प्रश्न करते हुए कहा था कि—जब प्रमार्जन करते है तब अहिंसा के स्थान पर हिंसा ही होनी चाहिए, क्योकि प्रमार्जन मे जीव भयभीत होते है, त्रस्त होते है। किन्तु तनिक गहराई से विचार कीजिए कि आप वहाँ

जो प्रवृत्ति करते है, वह उन जीवो की दया के लिए करते हैं या हिसा के लिए ? यद्यपि आप दया के लिये ही करते है, किन्तु उन जीवो को यह पता नही होता कि वास्तव मे आप उनकी दया के लिए ही ऐसा कर रहे है। मान लीजिए, माता अपने बच्चे को ऑपरेशन करवाने के लिए डाक्टर के पास ले जाती है और ऑपरेशन होता है। तब बच्चा माता को कितनी गालियाँ देता है और रोता है। किन्तु वहाँ माता की और डाक्टर की भावना क्या है ? यद्यपि प्रत्यक्ष मे बच्चा भयभीत हो रहा है और न मालूम कितने प्रकार के दु सकल्प अपने मन मे ला रहा है, फिर भी सिद्धान्तत तो माता और डाक्टर को पुण्य-प्रकृति का ही बध हो रहा है। क्योंकि उस क्रिया के पीछे डाक्टर और माता की दया एव विवेक की पवित्र भावना काम कर रही है।

यदि चीटियो को खेल या मनोरजन की दृष्टि से हटाया जाता है तब तो पाप-कर्म का बध अवश्य होता है, किन्तु किसी हिसक दुर्घटना के अवसर पर रक्षा की दृष्टि से उन्हे हटाने मे पाप नही है। यदि इन बातो पर गम्भीरता पूर्वक विचार करेगे तो स्पष्ट हो जायगा कि—जो हिसा होती है, उसके मूल मे यदि अविवेक का अधकार है, अयतना है तो वह हिसा है और पाप है। इसके विपरीत यदि विवेक का पूर्ण प्रकाश है और यतना की भी पूर्णता है—तो वही सच्चा धर्म है और पुण्य है।

'आरम्भिया क्रिया' छठे गुण-स्थान तक रहती है, सातवे गुण-स्थान मे नही रहती, क्योंकि प्रमाद छठे गुण-

स्थान तक ही मर्य्यादित है और सातवाँ गुण-स्थान अप्रमत्त अवस्था का है। किन्तु हिंसा (द्रव्य-हिंसा) तो तेरहवे गुण-स्थान तक रहती है। फिर भी जहाँ अप्रमत्त अवस्था है वहाँ हिंसा का पाप नही लगता। सक्षेप मे इसका अर्थ इतना ही है कि अप्रमत्त अवस्था मे और विवेक भाव मे होने वाली हिंसा—पाप स्वरूप नही होती।

इसके विपरीत ससार के सकषाय तथा प्रमादी जीव चाहे हिंसा करे या न करे, किन्तु यदि उनके अन्दर यतना की वृत्ति और विवेक की ज्योति नही जगी, और साथ ही दूसरो की जिन्दगी को बचाने का उच्च सकल्प नही उठा तो वे चाहे हिंसा करे तब भी हिंसा है, और चाहे हिंसा न करे तब भी हिंसा है।* एक उदाहरण देखिए —

एक धीवर सोया हुआ है और उस समय मछलियाँ नही पकड रहा है। क्या तब भी उसे 'आरभिया क्रिया' लग रही है या नही ? हाँ, उसे अवश्य लग रही है, क्योकि उसका हिंसा का सकल्प अभी समाप्त नही हुआ है। वह अभी कषाय भावो में ग्रसित है। फिर वह चाहे हिंसा कर रहा हो या न कर रहा हो, हिंसक ही कहलाएगा। प० आशाधरजी ने इसी बात को स्पष्ट शब्दो मे कहा है—

> घ्नतोऽपि कर्षकादुच्चैः पापोऽघ्नन्नपि धीवरः।
>
> —सागारधर्मामृत, ८२

अर्थात्—"जहाँ प्रमाद है वही हिंसा है, और जहाँ प्रमाद नही है वहाँ हिंसा भी नही है।"

---

* देखिए—ओघनिर्युक्ति, ७५२-५३ गाथा।

इसी दृष्टि से मैं भी कहता हूँ कि—यदि हम हिंसा और अहिंसा के तत्व को समझ ले तो जैन सम्प्रदायो मे आज जो दया, दान आदि विषयो पर अशोभनीय सघर्ष चल रहे है, वे बहुत कुछ अशो मे समाप्त हो सकते हैं।

किसी जीव की रक्षा करना, किसी के मरने-जीने की इच्छा भी न करना ! ऐसी अस्पष्ट बातो को लेकर और इन्हे तूल देते हुए हमारे कुछ साथी जो ऊपर ही ऊपर भटक से रहे है, इसका प्रमुख कारण यही है कि उन्होने हिंसा और अहिंसा का मर्म समझने का प्रयत्न ही नही किया। उनकी मान्यता के अनुसार यदि धूप मे पड़े हुए जीव को छाया मे रख दिया तो हिंसा हो गई ! किन्तु इस क्रिया के पीछे कौन-सी मनोवृत्ति काम कर रही है ? इसका उन्होने कोई विचार ही नही किया। यदि मनोवृत्ति-विशेष का विचार न किया जाय तो साधु अपने पात्र मे पडी हुई मक्खी को भी कैसे निकाल सकते हैं ? कैसे उसकी चिकनाई को राख से सुखा सकते है ? शास्त्र तो किसी जीव को ढँकना भी पाप कहते हैं, फिर साधु उसे राख से क्यो ढँकते हे ?

वास्तविकता तो यह है कि जब मनोवृत्ति को भुला दिया जाता है और केवल शब्दो की ही पकड-धकड से काम लिया जाता है, तभी हिंसा और अहिंसा का द्वन्द्व सामने आता है और सघर्ष पैदा होते है। इनसे बचने का एकमात्र उपाय यही है कि हम शास्त्रो की शब्दावली को ही पकड कर न रह जाएँ, बल्कि शब्दावली के सहारे उस तथ्य की आत्मा को शोधने का प्रयास भी करे। इसी प्रकार किसी व्यक्ति के

बाहरी कार्य को देखकर ही जल्दी मे अपना कोई अभिमत न बना ले, अपितु उसके कार्य के पीछे जो भावना छिपी हुई है, उसे परखने का भरसक प्रयत्न भी करे। ऐसा करने वाला कभी भी भ्रम मे नहीं पडेगा। यदि कोई भ्रम होगा भी, तो वह शीघ्र ही उससे मुक्त हो सकेगा।

२०—९—५०

—: ८ :—

प्रवृत्ति और निवृत्ति

'अहिंसा' शब्द के साथ जो निषेध जुडा हुआ है, उसे देखकर साधारण लोग और कभी-कभी कुछ विशिष्ट विचारक भी भ्रम मे पड जाते है। वे समझ बैठते है कि 'अहिंसा' शब्द निषेध-वाचक है, और इसी कारण अहिंसा का अर्थ भी केवल 'निवृत्तिपरक' ही मान लेते है। इस भ्रम ने अतीतकाल मे भी अनेक अनर्थ उत्पन्न किये है और आज भी वह अनेक लोगो को चक्कर मे डाल रहा है। अतएव अहिंसा की विवेचना करते समय यह देख लेना नितान्त आवश्यक है कि क्या वास्तव मे अहिंसा कोरा निषेध ही है, और अहिंसा के साधक का कर्त्तव्य 'कुछ न करने मे' ही समाप्त हो जाता है ? अथवा अहिंसा का कोई विधि-रूप भी है ? और उसके अनुसार अहिंसा के साधक के लिए कुछ करना भी आवश्यक है ? आज इसी विषय मे कुछ विचार करना है।

जैन-धर्म की वास्तविक अहिंसा क्या है ? क्या वह अकेली निवृत्ति ही है ? अर्थात्—क्या वह अलग खडे रहने के रूप मे ही है ? इधर से भागे तो उधर खडे हो गए, और उधर से भागे तो इधर आकर खडे हो गए ? तब क्या साधक सर्वथा

अलग-अलग कोने मे खडा रहकर जीवन गुजार दे ? यदि अहिसा को कही से अलग हटना है तो अलग हटने के साथ-साथ कही खडा भी तो रहना है या नही ? कही प्रवृत्ति भी करना है या नही ? अहिमा का माधक जीवन के मैदान मे कुछ अच्छे काम कर मकता है या नही ? आज का भ्रान्त ममार इन प्रश्नो का स्पष्ट उत्तर चाहता है। अहिमा के साधको को उक्त प्रश्नो का स्पष्ट उत्तर देना होगा, और निष्पक्ष शब्दो मे देना होगा। मौन साधने मे काम नही चलेगा। मानव को मानवता के उद्धार एव कल्याण के लिए कोई ठोस कदम उठाना ही पडेगा।

जो अहिमा जीवन के कार्य-क्षेत्र से अलग हो जाती है और निष्क्रिय होकर हर जगह मे भागना ही चाहती है, जिस अहिसा का साधक भागकर कोने मे दुबक जाता है और यह कहता है—मै तो तटस्थ हूँ और अहिमा का अच्छी तरह पालन कर रहा हूँ ! तव क्या ऐसी अहिसा किसी भी रूप मे उपयोगी हो मकती है ? यह अहिमा की निष्क्रिय वृत्ति है और इससे साधक के जीवन मे केवल निष्क्रियता ही आ सकती है।

यदि आपने कोरी निवृत्ति के चक्र मे आकर शरीर को काबू मे कर भी लिया तो क्या हुआ ? मन तो अपनी स्वभावगत चचलता के अनुसार कुछ-न-कुछ हरकत, करता ही रहेगा। फिर मन को कहाँ ले जाओगे ? इसका अर्थ हुआ कि—सर्वप्रथम मन को साधना पडेगा। शास्त्रकार भी यही कहते है कि पहले मन को ही एकाग्र करो, मन को ही

साधो । केवल मन को ही सासारिक विषयो से अलग करो । चाहे जीवन भले ही ससार मे उचित प्रवृत्ति क्यो न करे । किन्तु जीवन की उचित प्रवृत्ति कुछ और है, और मन की उच्छृङ्खल प्रवृत्ति दूसरी वस्तु है । अकुश तो मन पर लगा रहना चाहिए । यदि मन पर काबू पा लिया, तो फिर कही भी भागने की जरूरत नही है ।

हमारे कुछ साथी कहते है कि प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनो एक साथ नही रह सकती । ऐसी दशा मे हम ठहरे या आगे चले ? यदि आप कहे कि चलो भी और ठहरो भी, तो दोनो काम एक साथ नही हो सकते । दिन और रात, एक साथ नही रह सकते है । गर्मी और सर्दी एक जगह कैसे रह सकती है ? अर्थात् दो परस्पर विरोधी चीजो को एक साथ कैसे रखा जा सकता है ? किन्तु नहीं, जैन-दर्शन के पास एक विशिष्ट प्रकार का चिन्तन है और उस अनुपम चिन्तन से विरोधी मालूम होने वाली चीजे भी अविरोधी हो जाती है । जैसे दूसरी वस्तुओ के अनेक अग होते है, उसी प्रकार अहिसा के भी अनेक अग है । अहिसा का एक अग प्रवृत्ति है, और दूसरा अग है निवृत्ति । ये दोनो अग सदा एक साथ ही रहते है । एक-दूसरे को छोडकर अलग-अलग नही रह सकते । जब आप प्रवृत्ति कर रहे है तो उस समय निवृत्ति उसके साथ अवश्य होती है । यदि प्रवृत्ति के साथ निवृत्ति नही है तो उसका कोई मूल्य नही है । ऐसी प्रवृत्ति बधन मे डाल देगी । प्रवृत्ति के साथ निवृत्ति का सग होने पर ही प्रवृत्ति का वास्तविक मूल्य है । इसी प्रकार यदि

प्रवृत्ति नही है तो अकेली निवृत्ति का न तो कोई मूल्य है और न कोई अस्तित्व ही। इसीलिए साधक के चारित्र की जो व्याख्या की गई है, उसमे प्रवृत्ति और निवृत्ति—दोनो को समान स्थान दिया गया है। चारित्र न तो एकान्त निवृत्ति रूप है, और न एकान्त प्रवृत्ति रूप। इस सम्बन्ध मे कहा भी गया है —

> एगओ विरइ कुज्जा, एगओ य पवत्तणं,
> असजमे नियत्तिं च, सजमे य पवत्तणं।
>
> —उत्तराध्ययन ३१, २

> असुहादो विणिवित्ती सुहे पवित्ती य जाण चारित्तं
>
> —आचार्य नेमिचन्द्र,

अर्थात्—'अशुभ कार्यो मे, बुरे सकल्पो से तथा कुत्सित आचरणो से निवृत्ति करना, और शुभ मे प्रवृत्ति करना तथा सत्कर्मो का आचरण करना ही चारित्र है।"

हाँ, तो जहाँ चारित्र की बात आती है, वहाँ पाँच समितियाँ तथा तीन गुप्तियाँ बतलाई जाती है। गुप्ति का अर्थ है—निवृत्ति, और समिति का अर्थ है—प्रवृत्ति। ईर्यासमिति का अर्थ है—चलना। यहाँ चलने मे इन्कार नही किया गया, किन्तु अनुचित रूप मे चलना या अविवेक से चलना ठीक नही है। जहाँ हजारो 'ना' है, वहाँ एक 'हाँ' भी है। चलने के साथ यदि हजारो 'ना' है, तो वहाँ एक 'हाँ' भी निश्चित रूप से लगा हुआ है। चलो अवश्य, किन्तु असावधानी या प्रमाद से मत चलो, यतना से चलो। ऐसा करना ही शुभ मे प्रवृत्ति है, और अशुभ से निवृत्ति है। बस,

अशुभ अश को निकाल दो और शुभ अश को जीवन-व्यापार का लक्ष्य-विन्दु बनाए रहो। फिर देखिए कि जीवन की अभीष्ट सफलता किस प्रकार आपका अभिनन्दन करती दिखलाई देती है।

भाषा-समिति मे बोलना वद नही किया गया। वहाँ भी बहुत-से 'नकारो' के साथ 'हकार' मौजूद है। क्रोध, मान, माया, लोभ और आवेश आदि से मिश्रित वचन कभी मत बोलो, कर्कश शब्द मत बोलो, कठोर और मर्मवेधी शब्द भी मत बोलो। किन्तु बोलो अवश्य, बोलने पर कोई प्रतिबन्ध नही है। परन्तु आपका बोलना विवेकपूर्ण होना चाहिए, दूसरो का हितसाधक होना चाहिए। भाषा-समिति का अर्थ है—'साधक का भाषण हर हालत मे हित, मित एव सत्य हो।'

अब एषणा-समिति का नम्बर है। यदि जीवन है तो उसके साथ आहार का भी सम्बन्ध है। शास्त्र मे यह नही कहा गया कि आहार के लिए प्रवृत्ति ही न करो। यद्यपि उसके साथ हजारो 'ना' लग रहे है कि—ऐसा मत लो, वैसा मत लो। किन्तु फिर भी लेने के लिये तो कहा ही गया है। जीवन-यात्रा के लिए आवश्यक सामग्री जनता से ग्रहण की जा सकती है, किन्तु ध्यान रहे—वह ग्रहण शोषणहीन हो, सद्भावना पूर्ण हो। 'स्व' की सुविधा के साथ 'पर' की सुविधा का सुविचार भी सतत जागृत रहना चाहिए।

इसी प्रकार आवश्यकता-पूर्ति के लिए काम आने वाली चीजो का रखना और उठाना बन्द नही किया गया है। साधु भी अपने पात्र को उठाते है और रखते है। कदाचित् दूसरी

आवश्यक चीजों को उठाना-रखना बंद भी कर दें, तब भी शरीर को तो उठाए और रखे बिना काम नहीं चल सकता। इसलिए न तो उठाने की मनाई है, और न रखने की ही मनाई है। पाबन्दी केवल असावधानी से उठाने पर, और असावधानी से रखने पर है। यदि किसी वस्तु को सावधानी के साथ उठाया या रखा जाय तो उसके लिये कोई निषेध नहीं है। इस प्रकार यदि बहुत-से 'ना' लगे है तो विवेक के साथ उठाने-धरने का एक 'हाँ' भी अवश्य लगा हुआ है। यह 'आदान-निक्षेपण समिति' हुई।

अब 'परिष्ठापन समिति' को लीजिए। जब आहार किया जायगा तो शौच भी अवश्य लगेगी। इसी प्रकार जब पानी पिया जायगा तो पेशाब भी अवश्य लगेगी। यह तो कदापि सम्भव नहीं है कि कोई नियमित रूप से खाता भी चला जाय और पीता भी चला जाय, किन्तु मलमूत्र न बने और यथा अवसर उसका त्याग न करना पडे। जब मल-मूत्र आदि का त्याग आवश्यक है तो वह करना ही चाहिए। किन्तु अविवेक या असावधानी से नहीं, अपितु विवेक के साथ। मल-मूत्र आदि विसर्जन-योग्य पदार्थों का परिष्ठापन करते समय यह ध्यान रखना आवश्यक है कि सर्व साधारण जनता के स्वास्थ्य को हानि न पहुँचे, इधर-उधर गन्दगी न फैले, किसी को भी कुरुचि एवं घृणा का भाव न हो।

देखिए, जैनाचार्य इस समिति की क्या व्याख्या करते है —

पविचाराऽपविचाराओ समिइओ।

इसका अर्थ यही है कि समितियाँ प्रवृत्ति-रूप भी है और निवृत्ति-रूप भी है। जहाँ समिति है, वहाँ गुप्ति भी होती है।

उपर्युक्त कथन का अभिप्राय यही है कि जीवन के क्षेत्र मे चाहे साधु हो या श्रावक, दोनो के लिए प्रवृत्ति और निवृत्ति यथावसर समान रूप मे आवश्यक है। अशुभ आचरण एव अशुभ सकल्प से अलग रहकर शुभ मे प्रवृत्ति करना ही होगा। यदि हम शुभ सोचेगे, शुभ बोलेगे और आचरण भी शुभ करेगे तो इस रूप मे हमारी प्रवृत्ति और निवृत्ति साथ-साथ चलेगी। हमे यह भूल नही जाना चाहिए कि हमारे अशुभ कार्यक्रम से निवृत्ति का लक्ष्य शुभ मे प्रवृत्ति करना है, और शुभ कार्य मे प्रवृत्ति का ध्येय अशुभ मे निवृत्त होना है। जहाँ हजारो 'ना' है वहाँ एक 'हाँ' भी लगा हुआ है। अतएव प्रवृत्ति और निवृत्ति परस्पर निरपेक्ष होकर नही रह सकती, और वस्तुत रहना भी नही चाहिए। एक उदाहरण देखिए—

जब कोई आदमी घोडे पर चढता है, तो वह चलने के लिए ही चढता है। इसलिए नही कि घोडे की पीठ पर ही जम जाय। वह घोडे पर चढता है और उसे गति भी देता है, किन्तु साथ ही घोडे की लगाम भी पकड लेता है। उसे जहाँ तक चलना है, वही तक चलता है और जहाँ खडे होने की आवश्यकता अनुभव होती है, वहाँ खडा भी हो जाता है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि घोडे पर चढकर चलना प्रवृत्ति है, और जरूरत होने पर खडा हो जाना निवृत्ति भी है। इसी सम्बन्ध मे दूसरा उदाहरण भी देखिए—

किसी सेठ ने यदि ऐसी मोटर ले ली है कि एक वार स्टार्ट कर देने पर वह स्वच्छन्द गति से ऐसी चलती है कि कही पर कभी रुकती ही नही है, तव क्या ऐसी विचित्र मोटर मे कोई वैठेगा ? निश्चित है, कोई नही। सामान्यत मोटर ऐसी होनी चाहिए कि वह चले तो अवश्य, किन्तु जरूरत के समय उसे खडा भी किया जा सके और मार्ग की स्थिति के अनुसार धीमी भी की जा सके। निस्सन्देह उसी मे आप वैठना पसन्द करेगे। हमारा जीवन भी एक प्रकार की गाडी है, अत उसे समय पर ही चलाइए और समय पर ही रोकिए। जीवन की गति न तो उन्मुक्त, मर्यादाहीन एव उच्छृँखल ही होनी चाहिए, और न सर्वथा निष्क्रिय ही।

हाँ, तो जैन-धर्म ने हमारे सामने यह एक महत्वपूर्ण दृष्टिकोण प्रस्तुत किया है। उससे हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते है कि—जहाँ तक शुभ मे प्रवृत्ति का अश है वहाँ प्रवृत्ति है, और जहाँ अशुभ से निवृत्ति का अश है वहाँ निवृत्ति है। प्रवृत्ति और निवृत्ति, दोनो ही जगह अहिसा की सुगन्ध महकती है।

एक आदमी किसी को मार रहा है या कोई स्वय अपनी आत्म-हत्या कर रहा है। इसी समय दो आदमी आ पहुँचते है। उनमे से एक आदमी तो उस दीन-हीन की रक्षा के लिए तत्पर होता है और दूसरा तटस्थ होकर अलग खडा रह जाता है। वतलाइए, तटस्थ खडे रहने वाले को कहाँ पाप लग रहा है ? वह स्वय तो किसी को मार ही नही रहा है जिससे कि उसे पाप लगे, वह तो केवल तटस्थ भाव से खडा है। तव

यदि दूसरा आदमी तटस्थ न रहकर बचाने की प्रवृत्ति करता है तो अब आप बतलाइए कि--तटस्थ रहने वाले निवृत्तिपरायण व्यक्ति को अधिक लाभ है या प्रवृत्ति करने वाले को ?

हमारे वे साथी, जो जीवन के हर क्षेत्र मे तटस्थ ही रहना चाहते है, वे कदाचित् यही कहेगे कि जो तटस्थ रहा है, उसने पाप नही किया और उसे हिसा भी नही लगी। स्पष्ट है कि उनकी दृष्टि मे तटस्थ रहना—क्रियाहीन जीवन व्यतीत करना ही जीवन का शुभ लक्ष्य है और प्रवृत्ति करना अशुभ लक्ष्य। हाँ, तो मै आपसे पूछता हूँ कि जैन-धर्म मे जो दया या करुणा की बात कही गई है, क्या वह केवल तटस्थ रहने की बात है ? एक उदाहरण लीजिए—

एक साधु नदी के किनारे चल रहा है, जाते हुए फिसल गया, और नदी के प्रवाह मे गिर कर डूबने लगा। उसके साथी दो साधु किनारे पर खडे है। उनमे से एक साधु जो किनारे पर खडा है, वह तटस्थ भाव की मुद्रा मे खडा है। इस प्रसग पर वह यह कहता है—मैने धक्का नही दिया, मैने सकल्प भी नही किया कि वह गिरे। वह गिरने वाला तो अपने आप गिर गया है और डूबने लगा है--इसमे मेरा क्या दोष ? अस्तु, मै तो अन्त तक तटस्थ ही रहूँगा। यदि पानी मे जाऊँगा तो जल के जीवो की हिसा होगी, और जल मे रहने वाले छोटे-बडे अनेक त्रस* जीवो की हिसा भी

*पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति के जीव स्थावर हैं। द्वीन्द्रिय से लेकर पचेन्द्रिय तक के जीव त्रस हैं।

होगा । ऐसा सोचकर वह तटस्थ खडा रहता है ।

परन्तु दूसरा साधु उसे बचाने के लिए नदी मे उतर पडता है । डूबने वाला साधु अस्त-व्यस्त दशा मे है । उसे बचाने की कोशिश करते समय पानी मे तो हलचल अवश्य होगी और कितनी ही मछलियाँ तथा दूसरे अनेक जीव भयभीत एव परेशान भी होगे और कुछ तो मर भी जाएँगे। फिर भी वह उस डूबने वाले साधु को नदी से बाहर निकाल कर किनारे पर ले आता है । अब प्रश्न यह उठता है कि कौन-से साधु को लाभ हुआ ? अर्थात्—जो साधु अन्त तक तटस्थ रहा था वह लाभ मे रहा है, या जो तटस्थ न रह कर साथी साधु को बचाने के लिए नदी मे उतरा था, वह लाभ मे रहा है ?

तटस्थ रहने वाला साधु कहता है—"नदी मे गिरने वाले साथी साधु के पतन मे मेरा कोई निमित्त नही था, अत मै गिराने के पाप का भागी नही हूँ । साथ ही मै उसे नदी से निकालने के लिए भी नही गया, अत बचाने मे जल-जीवो की तथा अन्य मत्स्य आदि त्रस जीवो की जो हिसा हुई है, उससे भी मै पूर्णतया मुक्त रहा हूँ । अतएव मै अपनी तटस्थता के कारण बचाने वाले से कही अधिक अहिसक हूँ ।"

"जो साधु तटस्थ नही रहा और साथी साधु को बचाने के लिए नदी मे उतरा, वह एक प्राणी को तो अवश्य बचा लाया, किन्तु एक की रक्षा के लिए कितने प्राणियो की हिसा का भागी हुआ ?"

इस प्रकार आपके सामने यह जटिल प्रश्न उपस्थित है कि उक्त प्रसग पर क्या तटस्थ रहना आवश्यक है या प्रवृत्ति करना ? इस विपय मे भगवान् महावीर का क्या आदेश है ?

भगवान् महावीर का आदेश तो यह कहता है कि जब इस प्रकार की विषम परिस्थिति आ जाए तो साधु दूसरे दुर्घटनाग्रस्त साधु को निकाले* और यदि साध्वी डूब रही है तो उसको भी निकाले, किन्तु तटस्थ होकर न खडा रहे। इस प्रकार जैनागम का मूल उल्लेख है। इसका मुख्य कारण यह है कि हिंसा और अहिंसा का जो स्थूल रूप वर्णित है, कर्त्तव्य उससे भी कही ऊँचा है।

कल्पना कीजिए---कोई प्राणी हमारे सामने मर रहा है। सम्भव है, उस समय बाह्य रूप मे हठात् निवृत्ति कर भी ली जाए, परन्तु ऐसे अवसर पर बचाने के सकल्प स्वभावत. आया ही करते है। यदि फिर भी हम उनकी बलात् उपेक्षा ही करते है, रक्षात्मक प्रवृत्ति का प्रयोग नहीं करते है तो हमारे मन की दया कुचली जाती है और इस प्रकार अपने द्वारा अपने आत्मा की एक बहुत बडी हिंसा हो जाती है। इस आत्म-हिंसा को रोकना और उससे बचना अत्यधिक आवश्यक है। इसके अतिरिक्त यह तो स्पष्ट ही है कि बचाने के लिए पानी मे प्रवेश करने वाले का सकल्प जल के जीवो को मारने का बिल्कुल नही था, उसका एकमात्र इरादा तो डूबते हुए साधु को बचाने का ही था।

जैन-धर्म ने तटस्थता को महत्त्व अवश्य दिया है, किन्तु

---

*देखिए बृहत्कल्प सूत्र ६, ८।

वह हर जगह और हर परिस्थिति मे तटस्थ रहने का आदेश कदापि नही देता है।

साधु को बचाने के लिए जल मे प्रवेश करने वाले सहधर्मी साधु को पुण्य-प्रकृति का बध हुआ या पाप-प्रकृति का ? अथवा उसे अन्तत निर्जरा ही हुई ? यह प्रश्न हमारे सामने है, जिसका हमे निर्णय करना है। यह बात तो ध्यान मे रहनी ही चाहिए कि जब अन्त करण मे अनुकम्पा जगती है और करुणा की लहर उत्पन्न होती है, तब मनुष्य दया भाव मे गद्गद हो जाता है और जब वह पूर्णतया गद्गद हो जाता है, तब असख्य-असख्य गुणी निर्जरा* कर लेता है। जब ऐसी स्थिति आती है तब हमारी भूमिका शुभ सकल्प मे केन्द्रित होती है और जब हम तन्मयता के साथ किसी शुभ सकल्प मे लीन होते है, तब निर्जरा के साथ-साथ पुण्य-प्रकृति का भी बध हो जाता है। जल मे प्रवेश करने से जो हिंसा हुई है, उससे इन्कार नही किया जा सकता। किन्तु मुख्य प्रश्न तो यह है कि उससे हुआ क्या ? क्या वह पाप का मार्ग है अथवा पुण्य का या निर्जरा का है ? इस स्थिति मे जैन-धर्म तो यह कहता है कि जो साधु पानी मे गया है वह पानी के जीवो को मारने के लिए नही गया और न वह मछलियो को ही पीडा पहुँचाने की भावना लेकर गया है, अपितु एक सयमी को बचाने की पवित्र भावना लेकर गया है। ऐसी स्थिति मे यदि कोई हिंसा हो गई है तो वह किसी अनर्थ की सिद्धि के लिए नही हुई है। किसी जीव की स्वत हिंसा हो

---

* पूर्वबद्ध कर्मों को नष्ट करना, निर्जरा है।

जाना एक बात है, और किसी की हिंसा करना दूसरी बात है। अनेक बार प्राय हम गलती से कह देते है कि अमुक की हिंसा की गई है, किन्तु होने और करने के भेद को समझने का प्रयत्न नही करते और इसी कारण किसी की स्वत हिंसा हो जाने पर उसे हिंसा का पापाचार समझ लेते है। देखिए, स्वत होने मे और स्वय करने मे बहुत बडा अन्तर है और वह अन्तर भी बाहर मे परिलक्षित होने वाले कार्य का नही, अपितु भावनाओ का ही विभेद है।

जैसा कि पहले कह चुके है कि साधु मकान को या जमीन को पूँजता है और पूँजते समय प्राय जीव इधर से उधर होते है, घसीटे भी जाते है, और उन्हे परिताप भी होता है। किन्तु कोई भी उससे पाप का बध होना नही कह सकता, क्योकि वह परिताप स्वत पहुँच गया है, दिया नही गया है। यदि ऐसा न माना जाय तो पूँजना भी पाप हो जायगा। हमारे पुराने आचार्यो की कुछ ऐसी धारणाएँ है कि उपाश्रय को प्रमार्जित करने वाले साधु को वेले* का लाभ होता है। एक बार उपाश्रय पूँजने से असख्य जीव मरते होगे। ऐसा मत समझिए कि जो आँखो से दीखते है, वे ही जीव है। यहाँ पर हमारी स्थूलदर्शी आँखो का कोई मूल्य नही है, क्योकि वे तो सिर्फ स्थूल जीवो को ही देखती है। भले ही आपका आँगन रत्न-जटित क्यो न हो, आपको एक भी जीव वहाँ दिखाई न देता हो, फिर भी यदि आप सूक्ष्मदर्शक यत्र से देखेगे तो वहाँ हजारो चलते-फिरते प्राणी दिखलाई देगे।

---

* लगातार दो उपवास करना, बेला कहलाता है।

ऐसी दशा मे प्रतिदिन सुवह और शाम के समय प्रतिलेखन करने की आज्ञा क्यो दी गई है ? और उपाश्रय-भूमि का प्रमार्जन करना अनिवार्य क्यो वतलाया गया है ?

प्रतिदिन का प्रमार्जन हिंसा-रूप है—ऐसा सोचकर यदि प्रमार्जन करना वद कर दिया जाय तो क्या परिणाम होगा ? फिर कल और परसो क्या होगा ? जीव वढते जाएँगे या घटते जाएँगे ? जितनी-जितनी गदगी वढेगी, उसी अनुपात से जीवो की उत्पत्ति भी वढती जाएगी। ऐसी स्थिति मे आपको दो वातो मे से किसी एक के लिए तैयार रहना चाहिए। या तो आप उस मकान मे से अपने आपको हटाले और मकान छोडकर अन्यत्र चले जाएँ या चलने-फिरने और घूमने मे जो हिंसा हो, उसके भागी वनने को तैयार रहे।

इस दृष्टिकोण का अर्थ यह है कि हमे केवल वर्त्तमान की ही हिंसा-अहिंसा को नही देखना है, अपितु भविष्य की हिंसा-अहिंसा का भी व्यापक दृष्टि से विचार करना चाहिए। वहुधा हमारी निगाह वर्त्तमान से ही चिपटकर रह जाती है और हम यह सोच लेते है कि यदि अभी प्रमार्जन करेगे तो हिंसा होगी ! किन्तु यदि आप प्रमार्जन नही करेगे और मकान को यो ही गदा रहने देगे तो दिनो-दिन गदगी वढती ही जायगी। उस गदगी से असख्य जीव उत्पन्न हो जाएँगे और सम्पूर्ण मकान जीवो से कुलवुलाता दिखलाई देगा। फिर इसका क्या परिणाम होगा ? जव आप चलेंगे, फिरेगे तो आपकी इस प्रवृत्ति से कितने जीव मारे जाएँगे ? तो अव आप विचार कीजिए कि प्रतिलेखन और प्रमार्जन

केवल वर्त्तमान की ही हिंसा को नही रोकता है, अपितु भविष्य की हिंसा से भी बचाता है। भविष्य मे जो भी हिंसा जिस रूप मे होने वाली है, उसे सर्वप्रथम रोकना और जीवो की उत्पत्ति न होने देना, एकमात्र विवेक का तकाजा है। इसीलिए तो जैन-धर्म कहता है कि पहले विवेक रखो, स्वच्छता एव सफाई रखो, और जीवो की उत्पत्ति न होने दो, तभी ठीक तरह हिंसा से बचाव हो सकता है। परन्तु खेद है कि आज का जैन-समाज केवल 'आज' होने वाली हिंसा का ही खयाल करता है और उससे बचना भी चाहताहै, किन्तु वर्त्तमान के फलस्वरूप भविष्य मे होने वाली महान् हिंसा के सम्बन्ध मे कुछ भी विचार नही करना चाहता ! बस, यही गडबडी का मुख्य कारण है। यही मूल मे भूल है।

प्राय कुछ लोग कहा करते है—प्रतिलेखन करेगे तो हिंसा होगी और प्रमार्जन करेगे तो पाप होगा। हम उनसे पूछते है—हिंसा और पाप क्यो होगे ? तब वे कहते है—जब,पाप होता है, तभी तो आलोचना-स्वरूप ध्यान करते है ! यदि पाप न होता, तो प्रतिलेखन करने के पश्चात् 'इरियावहिया' के रूप मे आलोचना की क्या आवश्यकता थी ?

जो ऐसा कहते है वास्तव मे उन्होने जैन-धर्म के हृदय को स्पर्श नही किया। तभी वे भ्रम मे पड गए है। अब मै पूछता हूँ कि आलोचना प्रतिलेखन की है या दुष्प्रतिलेखन की ? वस्तुत सिद्धान्त तो यह है कि इस सम्बन्ध मे जो आलोचना की जाती है, वह प्रतिलेखन या प्रमार्जन की नही है, अपितु प्रतिलेखन या प्रमार्जन करते समय जो अयतना हुई हो,

उसकी ही आलोचना है। प्रमार्जन तो किया, किन्तु उसे सावधानी के साथ नही किया हो। इसी प्रकार प्रति-लेखन तो किया हो किन्तु वह भी ठीक तरह से न किया गया हो, अर्थात्—इन क्रियाओ के करने मे जो अशुभाश आ गया है उसी की आलोचना की जाती है। यदि ऐसा न माना जाय तो क्या शास्त्र-स्वाध्याय करने से भी पाप लगता है? नही, ऐसा तो नही है। वह आलोचना स्वाध्याय की आलोचना नही है, किन्तु स्वाध्याय करने मे यदि कोई असावधानी हुई हो, अशुद्ध उच्चारण किया गया हो, या और कोई त्रुटि रह गई हो तो उसकी ही आलोचना है। इसी प्रकार प्रतिलेखन के पश्चात् की जाने वाली आलोचना भी, प्रतिलेखन की नही, अपितु ठीक तरह प्रतिलेखन न करने की ही समझनी चाहिए।

जब आप इन बारीकियो पर ध्यानपूर्वक विचार करेगे तो स्वत स्पष्ट हो जायगा कि जैन-धर्म ने जो कुछ भी कहा है उसे हमने विवेक-बुद्धि से नही समझा और न उसे व्यवहारमे लाने की आवश्यकता ही अनुभव की। हमारे पास कभी कुछ ऐसे भोले भाई बहिन आते है जो यह कहते है—'आज बुहारी न देने का नियम दिला दीजिए।' यदि ऐसा नियम उन्होने कर लिया तो उसका परिणाम क्या होगा? सुबह से शाम तक घर और द्वार मे गन्दगी फैली रहेगी। उस गन्दगी से कितने ही प्राणी उत्पन्न होगे और कितने ही इधर-उधर से आकर जमा भी हो जाएँगे! और यदि आप अगले दिन भी धर्म के नाम पर फिर यही नियम करते है तो, या तो आप कीडो-मकोडो के लिए ही अपने निवास-गृह को छोड दीजिए या दो-

चार दिन बाद बुहारी लगाकर बहुसख्यक जीवो की हिसा के भाजन बनिए !

इस सम्बन्ध मै जैन-धर्म की स्पष्ट घोषणा है कि साधु अपने निवास स्थान एव उपकरणो का प्रतिदिन प्रतिलेखन तथा प्रमार्जन करे, और यह निर्देशन केवल साधुओ तक ही सीमित नही, गृहस्थो के लिए भी है। यदि नियमित प्रतिलेखन और प्रमार्जन नही किया जायगा तो उससे होने वाले दो उपवास स्वरूप तप का लाभ भी नही होगा और घर की स्वच्छता भी नही रहेगी। यह नही समझना चाहिए कि धर्मस्थान के प्रमार्जन से तो बेला के तप का लाभ होता है और अपने खुद के मकान का प्रमार्जन करने से बेला का लाभ प्राप्त न होकर उल्टा पाप ही होता है ? जैन-धर्म किसी स्थान-विशेष मे धर्म नही मानता है, उसका धर्म तो कर्त्ता की भावना पर ही आश्रित है।

हाँ, तो जैन-धर्म दृष्टि-परिवर्तन की बात कहता है। वह कहता है कि यदि आप मकान की सफाई कर रहे है तो दृष्टि बदलकर कीजिए। सफाई करने मे एक दृष्टि तो यही हो सकती है कि मकान साफ-सुन्दर दिखाई देगा, साफ-सुथरा मकान देखकर लोग आपकी प्रशसा करेगे। इस दृष्टि मे शृङ्गार की भावना है। दूसरी दृष्टि यह है कि सफाई रखने से जीवो की उत्पत्ति नही होने पाएगी, फलत जीवो की व्यर्थ की हिसा से स्वत बचाव हो जाएगा। साथ ही प्रमार्जन करते समय विवेक रखा जाय, अधा-धुन्धी न मचाई जाय, प्रमार्जन और सफाई के साधन भी कोमल रखे जाएँ-इतने कठोर न

हो जिससे उनकी चपेट मे आकर जीव मारे जाएँ। यदि कोई जीव झाडन मे आ जाय तो उसे सावधानी के साथ अलग रख दिया जाय। इस प्रकार घर की सफाई करते समय यदि वर्तमान मे भी विवेक-बुद्धि का प्रयोग किया जाय और भविष्य की अहिंसा का भी विचार किया जाय तो वहाँ धर्म होगा, पाप-कर्म की निर्जरा होगी।

एक बहिन भोजन-पान आदि की समस्त सामग्री को खुला रख छोडती है। कही घी ढुल रहा है, तो कही तेल फैल रहा है, कही पानी मे मक्खियाँ गिर रही है, तो कही दाल मे चीटियाँ घूम रही है। दूसरी बहिन विवेक के साथ सब चीजो को व्यवस्थित रूप मे रखती है। सबको भली-भाँति ढँककर सही तरीके के साथ रखती है। ऐसी व्यवस्था करने मे भी एक वृत्ति तो यह हो सकती है कि मेरी चीजे खराब न हो जाएँ और दूसरी वृत्ति यह हो सकती है कि जीवो की हिंसा न हो जाय, किसी प्रकार की अयतना न होने पाए। देखिए, सावधानी दोनो जगह रखी जाती है, किन्तु दोनो मे आकाश और पाताल जैसा बहुत बडा अन्तर है। पहली व्यवस्था-वृत्ति मे मोह है, ममत्व है और स्वार्थ है। दूसरी व्यवस्था-वृत्ति मे जीवो पर दया है, अनुकम्पा है। बस, इसी भावना के भेद से ही तो फल मे भी भिन्नता आती है। जहाँ मोह, ममता और स्वार्थ है वहाँ कर्म-बन्ध है, और जहाँ अनुकम्पा है वहाँ धर्म है, निर्जरा है। अस्तु जैन-धर्म कहता है कि अनुकम्पा की भावना से यतना करने पर भी चीज तो सुरक्षित रहेगी ही, फिर व्यर्थ ही मोह-ममता रखकर साधना के उच्च शिखर से

नीचे क्यो उतरते हो ? काम करते समय, निर्जरा-भाव की जो पवित्र गगा बह रही है, उससे वचित क्यो होते हो ?

चीजे यदि अव्यवस्थित रहेगी तो खराब होगी, उनमे मक्खियाँ गिरेगी और कष्ट पाएँगी, चीजे सडेगी और असख्य जीवो की हिंसा होगी। इस प्रकार तनिक-सी असावधानी महान् हिंसा की परम्परा को जन्म देती है। इस प्रकार जैन-धर्म दृष्टि-परिवर्तन की सिपारिश करता है। फिर चाहे कोई साधु हो या गृहस्थ हो, वह चाहे धर्मस्थान मे हो या अपने घर मे हो, दृष्टि के बदलते ही सृष्टि भी बदल जाती है। काम करते हुए भी यदि धर्म-बुद्धि रखी गई तो आपके पग मोक्ष के मार्ग पर है। इस प्रकार जहाँ कही भी विवेकमय जीवन होगा, वहाँ प्रत्येक क्षण निर्जरा की जा सकती है।

जब आपको बोलना आवश्यक हो तो अवश्य बोलिए। जीभ पर ताला लगाए फिरने की आवश्यकता नही है, किन्तु बोलिए सदैव सयमपूर्वक। बोलते समय यह ध्यान रहना चाहिए कि आपके बोलने से किसी को चोट तो नही पहुँच रही है ? किसी का अनिष्ट तो नही हो रहा है ? कुछ भलाई भी हो रही है ? यदि इस प्रकार 'भाषा-समिति' का ख्याल रख-कर बोला जा रहा है तो समझ लीजिए, निर्जरा हो रही है।

यदि चलने की जरूरत आ पडी है तो आप चल सकते है। जैन-धर्म आपके पैरो को बेडियो से नही जकडता। वह सबके लिए पादपोपगमन * सथारे का विधान नही करता।

---

* जीवन के अन्तिम काल मे समाधिमरण के लिए वृक्ष से टूटकर नीचे गिरी हुई शाखा के समान निष्क्रिय रूप से एक स्थिति मे रहकर आमरण अनशन करना, पादपोप गमन सथारा कहलाता है।

वह तो यही कहता है चलते समय देखकर चलना चाहिए। वस्तुत विवेकयुक्त चलना ही गति-क्रिया को पवित्रता है। और हाँ, ऐसी भिन्नता भी नही है कि साधु देखकर चल रहा है तो उसे तो धर्म होगा और आपको नही होगा ? साधु की भाँति आपको भी धर्म होगा, निर्जरा होगी।

आवश्यकतानुसार आपभी घर को चीजे इधर मे उधर रखते है और साधु भी अपनी वस्तुएँ यथास्थान रखता है, तो क्या पात्र आदि के इधर से उधर रखने मे साधु को ही धर्म होगा और आपको नही होगा ? ऐसा कदापि नही है। यदि विवेक रखा जाय और जीव-दया की सद्‌भावना स्थिर की जाय तो साधु के समान आपको भी निर्जरा अवश्य होगी।

जैन-धर्म का विधान है कि यदि अहिसा की भावना रखी जाय, प्रतिक्षण मन के अन्दर दया की झकार उठती रहे और इस प्रकार जीवन समितिमय होकर चलता रहे तो वाहर मे कार्य की मात्रा 'एक' होने पर भी फल 'दो' मिल जायँगे, अर्थात्—आपके दैनिक व्यवहार की सामग्री भी सुरक्षित रहेगी और साथ-साथ आप अहिसा का अमृत भी पीते जायँगे। इस सम्वन्ध मे कहा भी गया है—

'एका क्रिया द्व्यर्थ-करी प्रसिद्धा।'

कथन का अभिप्राय यही है कि जीवन के प्रत्येक क्षेत्र मे यदि आप अहिसा को लूली-लगडी और एक कोने की दर्शनीय वस्तु वनाकर रखेगे तो वह नही जीएगी। निश्चय ही वह सडेगी और गलेगी। उसे क्रियात्मक रूप मे जीवन के हर क्षेत्र मे ले जाइए। यदि चलना है तो अहिसा को उसमे

जोड दीजिए । आप जीवन के जिस किसी भी क्षेत्र मे जो प्रवृत्ति कर रहे है, उस प्रवृत्ति के साथ अहिसा के सकल्प को सयुक्त रखिए। फिर देखिए आपकी प्रवृत्ति मे एक नया जीवन और नया प्राण आजाएगा । अपनी अन्तरग-वृत्ति को पवित्र बना डालिए, निर्जरा अवश्य होगी ।

यदि आपने अपनी प्रवृत्ति मे अहिसा की दृष्टि नही जोडी है, फिर चाहे हिसा हो रही है या नही भी हो रही है , तब भी वह हिसा ही कहलाएगी । क्योकि प्रमाद-भाव स्वय एक प्रकार की हिसा है, और अप्रमाद-भाव अहिसा है ।

इसी सम्बन्ध मे एक सुन्दर प्रकरण भी है--वर्त्तमान की अहिसा के सतुलन मे भविष्य की जो बडी हिसा आने वाली है, उसे निमत्रण दिया जाय या नही ? आचारागसूत्र मे एक प्रसग आया है *—एक पच-महाव्रतधारी साधू है, जो विहार कर रहा है। पहाडो के बीच से पगडडी का सँकडा रास्ता है। वह देख-देखकर चल रहा है, किन्तु अचानक ठोकर लग गई, पैर लडखडा गया और वह गिरने लगा। गिरते समय साधु क्या उपाय करे ? यदि वहाँ कोई वृक्ष है तो उसे पकड ले, बेल है तो उसे पकड ले और यदि कोई यात्री आ-जा रहे हो तो उनके हाथ के सहारे भी ऊपर आ जाय , अर्थात्—ऐसी स्थिति मे साधु वृक्ष का या लता का सहारा लेकर भी आत्मरक्षा कर सकता है ।

शास्त्र का उपर्युक्त आत्मरक्षा सम्बन्धी विधान सक्षेप मे अपनी बात कहकर विराम पा लेता है। किन्तु हमारी

---

*देखिये आचारागसूत्र २, ३, २।

चिन्तन-धारा मे अनेक प्रश्न खडे हो जाते है—जैन-साधु तीन करण तीन योग से हिंसा का त्यागी है। अत उसे, बेल या वृक्ष को छूने की आज्ञा नही है, क्योकि इनको छूने मे असंख्य जीवो की हिंसा हो जाती है। अस्तु, वह आत्मरक्षा के लिए दूसरे प्राणियो की हिंसा कैसे कर सकता है ? साधु की प्राण-रक्षा बडी है या अहिंसा बडी है ? साधु के लिए जो ऊपर कहा गया है कि ऐसे अवसर पर वह वृक्ष आदि को पकडकर प्राण बचा ले, यह बात कहाँ तक ठीक है ? इत्यादि।

साधु को वृक्ष आदि पकडकर प्राण बचा लेने का विधान करने वाला यह पाठ आचारांग का है। उससे आप इन्कार नही कर सकते। यदि और कोई इस बात को कहता तो आप कह सकते थे कि ऐसा नही है। अब तो आपको विचार करना ही होगा। हाँ, तो आचार्यों ने विचार किया है कि गिरते समय साधु जो वृक्ष आदि का सहारा लेकर ऊपर आता है, उसमे हिंसा नही, अपितु अहिंसा है। वह अहिंसा किधर से आ गई ? निम्सन्देह साधु हिंसा के माध्यम से ऊपर आता है, किन्तु वह जीवन की लालसा से या मोह से प्रेरित होकर नही आता है। जीवन-रक्षा के सम्बन्ध मे तो बात यह है कि मस्तक पर नगी तलवार भी क्यो न चमक रही हो, किन्तु साधु अपना धर्म नही छोडता। साधु के लिए हँसते-हँसते प्राणो को विसर्जन कर देना सहज है, किन्तु अहिंसा धर्म को छोड देना सहज नही। जब यह स्थिति है तो प्रश्न है कि फिर वृक्ष या बेल पकडने के लिए क्यो छुट्टी दे दी गई है ? इसका मुख्य कारण यह है कि असावधानी से

जब साधु गिर पडता है तो उसका शरीर बे-काबू हो जाता है। बे-काबू शरीर लुढकते-लुढकते कितनी दूर जायगा, यह कौन कह सकता है ? जितनी दूर भी वह लुढकता जायगा, उतनी ही दूर तक उसके शरीर-पिण्ड के द्वारा न जाने कितने एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पचेन्द्रिय जीवो की हिसा होगी। इसके अलावा गिरने और लुढकने पर यदि अग-भग हो गया तो जब तक वह साधु जीवित रहेगा तब तक सडा ही करेगा। उष्ण और शीत के प्रकोप से तथा हिसक जानवरो द्वारा पीडित होने पर उसे आर्त्त-ध्यान और रौद्र-ध्यान भी पैदा होगे। यदि इसी दशा मे उसकी मृत्यु होती है तो उसके निर्मल भावो की आत्म-हिसा होने से वह दुर्गति मे ही जाएगा।

हाँ, तो जिस वृक्ष का सहारा लिया गया है, वह जीवन के मोह और ममत्व से नही लिया गया है, वृक्ष या वृक्ष के आश्रित जीवो की हिसा करने के लिए भी नही पकडा गया है। उसके एक भी फल, फूल या पत्ते से साधु को कोई प्रयोजन नही है, किन्तु आगे होने वाली भयकर हिसा को बचाने के लिए ही उसने वृक्ष को पकडा है। इस सम्बन्ध मे एक दृष्टान्त देखिए—

"जब साधु बीमार पडता है तो दवा खाता है। क्यो खाता है ? क्या शरीर की रक्षा के लिए ? सम्भव है किसी मे आज यह वृत्ति भी हो, किन्तु शास्त्रकार तो यही कहते है कि यह वृत्ति मत रखो। वे दवा लेने की आज्ञा अवश्य देते है, किन्तु इसलिए नही कि तुम्हे शरीर-रक्षा के लिए औषधि

सेवन करना है। उनकी आज्ञा का अभिप्राय तो यह है कि यदि दवा नही लोगे तो शरीर मे बीमारी फैलेगी और एक दिन वह तुम्हे बुरी तरह जकड लेगी। इतना ही नही, आखिर तुम अपना सन्तुलन भी खो बैठोगे। फलत तुम्हे आर्त्त-ध्यान होगा, रौद्र-ध्यान भी होगा और अनेकानेक दुस्सकल्प भी होगे। इस दुराशापूर्ण विषम स्थिति से बचने के लिए ही दवा ली जाती है।

इस प्रकार यदि हम सूक्ष्म दृष्टि से देखे तो ज्ञात होगा कि भविष्य की हिसा को रोकने के लिए प्रतिलेखन किया जाता है, प्रमार्जन भी किया जाता है। किन्तु यह सब क्षण-भगुर जीवन की लोलुपता से नही, अपितु आगे आने वाली विराट हिसा को रोकने के लिए किया जाता है।

जैन-धर्म अहिसा के विषय मे जो इस प्रकार विवेचन करता है और अहिसा की दृष्टि को सामने रखकर प्रवृत्ति का विधान प्रस्तुत करता है, उसका मन्तव्य प्रवृत्ति का पूरी तरह परित्याग करना नही है, अपितु जीवन की प्रत्येक प्रवृत्ति मे अहिसक दृष्टिकोण पैदा करना है। जीवन-व्यापार मे प्रवृत्ति करते हुए और अहिसक भावना रखते हुए भी यदि प्रवृत्ति मे कोई अविवेक या भूल होती है तो उसी के लिए 'मिच्छा-मि-दुक्कड' दिया जाता है। अब यह पूर्णतया स्पष्ट हो जाना चाहिए कि 'अहिसा' निवृत्ति मे ही नही है, अपितु प्रवृत्ति मे भी विद्यमान है।

———

२१-९-५०

—: ९ :—
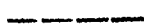
अहिंसा अव्यवहार्य है ?
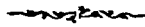
अहिसा के सम्बन्ध मे आज ससार के सामने एक विकट प्रश्न उपस्थित है। जब तक उस प्रश्न को अच्छी तरह से हल न करले, तब तक जनता की शकाओ का पूरी तरह समाधान नही हो सकता। कुछ लोग कहते है कि अहिसा अपने आप मे तो एक अच्छी चीज है। अहिसा के सिद्धान्त भी बहुत अच्छे है। समय-समय पर अहिसा का जो विश्लेषण किया गया है, उसकी जो व्याख्याएँ की गई है, वे महत्वपूर्ण है और इतनी ऊँची है कि वास्तव मे हमे उनका आदर करना ही चाहिए। किन्तु जहॉ अहिसा की लम्बी-चौडी व्याख्याएँ की गई है वही वह अव्यवहार्य भी भी बन गई, अर्थात्—व्यवहार मे आने लायक नही रही। जीवन मे उतारने योग्य भी नही रही। यदि उसके सहारे जीवन-यात्रा पूरी करना चाहे तो नही कर सकते।

कोई अच्छी बात तो हो, किन्तु काम आने लायक नही हो तो फिर उसका क्या मूल्य है ? चीज तो अच्छी है,

पर लेने योग्य नही है—इसका अर्थ क्या हुआ ? यदि अहिंसा जीवन मे उतारने लायक नही है, उसके सहारे हम जीवन-यात्रा तय नही कर सकते है तो इसका मतलब यह हुआ कि वह निरर्थक वस्तु है, अयोग्य है और जीवन मे उसका कोई मूल्य ही नही है।

इस प्रकार के प्रश्न प्राय साधारण लोगो के और कभी-कभी विचारको के सामने भी उठा करते है। अब हमे देखना यह है कि क्या वस्तुत बात ऐसी ही है ? क्या अहिसा सचमुच ही व्यवहार मे आने योग्य नही है। यदि हृदय की सचाई से विचार किया जाय और भारत के सुनहरे इतिहास पर दृष्टिपात किया जाय तो पता चलेगा कि यह विचार सही नही है। जो वस्तु कई शताब्दियो से लगातार व्यवहार मे आती रही है, और जिसके भगवान् महावीर जैसे महापुरुषो ने, गौतम जैसे सन्तो ने और आनन्द जैसे सभ्रान्त गृहस्थो ने तथा वर्तमान मे राष्ट्रपिता गॉधीजी तक ने भी व्यावहारिक जीवन मे सफल प्रयोग करके दिखलाए है, फिर उसकी व्यावहारिकता मे आज किसी प्रकार की शका करना कैसे उचित कहा जा सकता है ? एक नही, हजारो साधको ने, जो अहिसा की सतापशमिनी छाया मे आये, कहा कि यह अहिसा आकाश की नही, धरती की चीज है शत-प्रतिशत व्यवहार की चीज है। जिन्होने अहिंसा का आचरण अपने जीवन व्यापार मे किया है उन्हे तो वह स्वप्न मे भी अव्यवहार्य नही लगी, किन्तु जिन्होने एक दिन भी अपना जीवन अहिसामय नही बिताया, वे अपने मनगढन्त

तर्क के आधार पर उसे अव्यवहार्य मानते है। क्या यह आश्चर्य की वात नही है ?

अहिंसा के विना हमारा जीवन एक कदम भी आगे नही वढ सकता। मानव यदि मानव के रूप मे जीवन-पथ पर अग्रसर होना चाहता है, और मनुष्य यदि मनुष्य के रूप मे अभीष्ट लक्ष्य को प्राप्त करना चाहता है तो अहिसा के विना वह एक क्षण भी जोवित नही रह सकता। निहित स्वार्थो की पूर्ति के लिए यदि मनुष्य अपने जीवन के एक-एक कदम पर दूसरो का खून वहाता हुआ और सहारक सघर्ष करता हुआ चलता है तो वह मनुष्य की वास्तविक गति नही है। वह तो सचमुच हैवान, राक्षस और दैत्य की गति है। मानव के चलन मे और दानव के चलन मे दिन रात जैसा विपरीत अन्तर है। इस अन्तर को भूतल पर के प्रत्येक मनुष्य को अच्छी तरह समझ लेना चाहिए।

वस्तुत जव आदमी चलता है, तो वह जीवन-पथ मे किसी दूसरे के लिए कॉटे नही विछाता है। वह तो सुखदायी जीवन का महत्वपूर्ण सन्देश देता हुआ ही चलता है और आनन्द के फूल वरसाता हुआ चलता है। जिधर भी उसका पदार्पण होता है, प्रेम की फुहारे छुटती दिखलाई पडती है। यदि वह अपने कर्त्तव्य कदमो से घृणा की फुहारे छोडता है नो समझलो कि वह इन्सान नही, वल्कि हैवान है। मोटर-ड्राइवर के विषय मे पहले कहा जा चुका है। वही ड्राइवर सावधान और चतुर समझा जाता है, जो सामने आते हुए वच्चो और वूढो को वचाकर मोटर चलाता है, कॉटो और

झाडियो को भी बचाता हुआ चलता है। इसके विपरीत, जो ड्राइवर सामने आये हुए बालक या बूढे को कुचल देता है और मोटर को कभी इस किनारे से तो कभी उस किनारे से टकरा देता है और लडखडाती गाडी चलाता है तो लोग कह देगे—यह ड्राइवर नही, कोई पागल है और इसे मोटर चलाने का अधिकार नही है।

अभिप्राय यही है कि जीवन भी एक प्रकार की गाडी है, मोटर है या रथ है, और आत्मा इसका ड्राइवर है। वह जब जीवन की गाडी को ठीक ढग से चलाता है, जहाँ कही टक्कर लगने वाली हो तो उसे बचा लेता है और जब सघर्ष होना है तब भी बचाकर चलता है तो वह जीवन की राह पर ठीक-ठीक अपनी गाडी चलाता है। वह रुकता भी नही है, किन्तु निरन्तर चलता ही रहता है, तब हम समझते है कि यह ड्राइवर-आत्मा सावधान है और कुशल है। वह क्रोध, मान, माया, लोभ, घृणा, और द्वेष के नशे मे नही है। फलत खुद भी सावधानी के साथ चलता है और दूसरो को भी बचाता हुआ चलता है।

अन्धा-धुन्ध चलाने का क्या मतलब है ? मान लो, कोई व्यक्ति परिचय-पथ पर आ गया और उसे हिंसा से कुचल दिया, असत्य से कुचल दिया। फिर कोई साथी मिल गया तो उसे चोरी से, दगा से, या घृणा से कुचल दिया। और इस प्रकार कुचलता हुआ मदमत्त स्थिति मे गुजरता हो गया, कही रुका ही नही, तो आप समझ लीजिए कि इस जीवन का ड्राइवर-आत्मा होश मे नही है। वह इन्सान के रूप मे

अपने जीवन की गाडी को नही चला रहा है। उसे हैवानियत का नशा चढा हुआ है और वह भूल गया है कि जीवन का पथ कैसे तय किया जाय।

कल्पना कीजिए—आपका कोई साथी गहन वन मे से गुजर रहा है अथवा दुर्गम पहाडो पर चढ रहा है। मार्ग मे इधर भी काँटेदार झाडियाँ है और उधर भी। इधर भी नुकीले पत्थर है और उधर भी है। वे सभी उसे घायल करते है, काँटे भी चुभते है और कठोर पत्थरो की ठोकरे भी लगती है। किन्तु वह यात्रा करता ही रहता है। जब कि उसे चलने के लिए एक जरा-सी पगडडी मिली है। जरा-सी असावधानी होते ही इधर या उधर उसके कपडे झाडी मे उलझ जाएँ। इसलिए इधर-उधर से कपडा बचाता हुआ ठीक बीच से उस पगडडी मे से अपनी राह बनाता है। फिर भी यदि वह उलझ गया है तो रुककर शीघ्र ही कपडा काँटो से निकाल लेता है। फिर आगे बढ चलता है और यदि फिर कभी उलझता है तो फिर निकालता है। चलते हुए यदि कही पैर मे काँटा लग जाता है तो तत्क्षण खडा हो जाता है और काँटे को निकाल लेता है। यदि बीच मे पत्थर या चट्टान आ जाती है तो भी बचता है और यदि कभी असावधानी से ठोकर लग भी जाती है तो तत्काल सहलाता है और आगे बढ जाता है। राह की रुकावटो मे वह उलझता नही है, अपितु चलता ही जाता है—सावधानी के साथ। 'चल चल रे नौजवान, चलना तेरा काम, इसी मूलमत्र को उसने अपनी जीवन यात्रा का आलम्बन माना है।

इस तरह एक आदमी चल रहा है और निरन्तर चला ही जा रहा है। वह बीच मे कही रुकता नही है, किन्तु सीधा अपनी मजिल की ओर बराबर बढता ही चला जा रहा है।

एक दूसरा आदमी भी उसी रास्ते पर चलता है, किन्तु सावधानी नही रखता है। जब वह कॉटेदार झाडी के पास से गुजरा तो झाडी मे उलझ गया। बस, अब सोचता है कि इसने मेरा पल्ला उलझा दिया, अत जब तक मै इस झाडी को ही जड से न काट दूँ, तब तक आगे नही बढ सकता। अब वह उसे काटने मे जुट जाता है और काट कर ही आगे कदम रखता है, कि अगले कदम पर फिर दूसरी झाडी मे उलझ जाता है और फिर उसे भी काटने लगता है। पैर मे यदि कोई कॉंटा चुभ गया तो उसको निकाल कर टुकडे-टुकडे करने लगा। फिर आगे बढा और यदि पत्थर की ठोकर लग गई तो कुदाल लेकर चट्टान को तोडने लगता है। इस प्रकार चलने वाला क्या अपनी मजिल पर पहुँच सकेगा ?

जो बचकर सावधानी से चलता है और उलझता नही है, वह तो चलेगा और अपनी मजिल भी पूरी कर लेगा। परन्तु जो इस प्रकार उलझता हुआ चलता है और जहाँ उलझता है, वहाँ सहार करने लग जाता है और सारे पहाड को चकनाचूर करके ही आगे बढने का सकल्प करता है, वह चाहे सौ वर्ष की उम्र पाए, तो भी अपने अभीष्ट लक्ष्य पर नही पहुँच सकेगा। वह हजार वर्ष की उम्र मे भी मजिल पूरी नही कर सकेगा।

हाँ, तो निष्कर्ष रूप सिद्धान्त यह निकला कि यदि जीवन यात्रा करना है तो सर्वप्रथम व्यर्थ के सघर्पो से अपने जीवन को बचाते हुए सावधानी से चलना चाहिए। सावधानी रखते हुए भी यदि कही उलझन आ ही जाय तो उसको शान्त चित्त से सुलझाते हुए आगे बढो। मनुष्य यदि इधर-उधर से पल्ला सभाल कर अपने जीवन के पथ पर चलता जायगा तब तो अपनी मजिल पर पहुँच जायगा। इसके विपरीत यदि किसी से जरा-सी भी अनबन हो गई तो जब तक उसकी जबान नही खीच ले, या परिवार मे जरा-सी कोई बात हो जाय तो बस जब तक कानून की तीरकमान लेकर अदालत के द्वार को न खटखटा दे तब तक आराम की साँस न ले, तो उसकी जीवन-गाडी अपनी यात्रा कभी भी सफलतापूर्वक तय नही कर सकती।

इस प्रकार जीवन का पहला मार्ग है---अहिसा का, अर्थात्---प्रथम तो कभी किसी से उलझे नही, सदैव सावधानी से ही चले और यदि कभी परिस्थिति-वश उलझ भी जायँ तो उलझन को ठीक कर ले। यह अहिसा का प्रेरणामय जीवन है। इसके बाद दूसरा मार्ग है—हिसा का, जिसमे प्रथम तो असावधानी से चलना, पैर किधर पड रहे है—इस बात का कभी विचार ही न करना। और यदि कभी किसी से उलझ जायँ या टकरा जायँ तो उसके सर्वनाश का सकल्प कर लेना। ऐसी बुद्धि, हिसा की बुद्धि है।

इन दो मार्गो मे से आपको एक चुनना है। कई विचारक मित्र कहते है कि अहिसा उत्तम चीज है, किन्तु यह

जीवन-व्यवहार की उपादेय वस्तु नही है। तब मै पूछता हूँ कि—साहब, व्यवहार का मार्ग कौन–सा है ? वस्तुत बचना और बचाना ही व्यवहार का मार्ग है, और यही वास्तविक अहिंसा है। जो हिंसा है, वह तो उलझने का और टकराने का मार्ग है। स्वय बर्बाद हो जाना और दूसरो को भी बर्बाद कर देना 'हिंसा' है। आप ही कहिए , यदि यह गलत विचार नही, तो क्या है ?

हमे हिंसा और अहिंसा की स्पष्ट व्याख्या को समझने के लिए तैयार होना चाहिए। यदि हम इसका निर्णय नही करेगे तो जीवन के सही रास्ते पर नही चल सकेगे। आप अपने जीवन के प्रति सजग रहिए। सदैव सावधान रहिए और देखते रहिए कि दूसरो को आपकी हिंसा और अहिंसा से क्या फल मिलता है ? यदि आप स्वस्थ मन और स्थिर बुद्धि से विचार करेगे तो आपको पता चलेगा कि जीवन-व्यवहार मे आप हिंसा के बजाय अहिंसा मे ही अधिक रहते है। यदि घर मे कोई छोटी-सी घटना हो जाती है तो क्या आप उसके लिए न्यायालय की शरण लेते है ? जब परिवार की गुत्थियाँ उलझ जाती है तो वे डडे से नही सुलझाई जाती है, प्रत्येक घटना पर अदालत मे नही भागा जाता है। हाँ, तो अहिंसा एव प्रेम का जैसा सद्व्यवहार परिवार मे किया जाता है, वही समाज मे और वही राष्ट्र मे भी क्यो न किया जाय ?

जो हिंसा के पथ पर चलते है, आखिरकार वे एक दिन ऊबते हैं और उससे विरत होते है। जो खूनी लडाइयाँ लडते

रहे और जिन्होने जीवन-क्षेत्र को रक्त-रंजित कर दिया, वे भी अन्त मे सन्धि करने बैठते है। आखिर यह क्या कौतुहल है? जो वस्तु अन्त मे आने वाली ही है, लाखो-करोडो का सहार करके अन्तत जिस मार्ग को अपनाना ही है, उसका पहले ही क्यो न अनुकरण किया जाय। यदि वही मार्ग सूझ-बूझ के साथ पहले ही पकड लिया जाय तो क्या अच्छा न होगा? साराश मे यह स्पष्ट है कि 'अहिसा' व्यवहार की उपादेय वस्तु है, वह किसी भी रूप मे अव्यवहार्य नही है। हजारो साधक इसी मार्ग पर चले है और उन्होने इसी पथ पर चलकर अपनी हजारो वर्ष की जिन्दगी गुजारी है। उन्हे अहिसा 'अव्यवहार' की वस्तु कभी नही दिखलाई दी।

कल्पना कीजिए—कोई अहिसा को 'अव्यवहार्य' और हिसा को ही 'व्यवहार्य' समझने वाला यदि यह प्रतिज्ञा कर ले कि मै हिसा ही करूँगा—जो मिलेगा उसकी हिसा किये बिना नही रहूँगा, तो क्या वह एक दिन भी अपनी प्रतिज्ञा पर अटल रह सकेगा? हाँ, अहिसा की प्रतिज्ञा लेकर तो लम्बी जिन्दगी गुजारी जा सकती है और गुजारी भी गई है, किन्तु हिसा की प्रतिज्ञा करके भला कितने मिनट बिताये जा सकते है? हिसा की प्रतिज्ञा लेने वाला अधिक से अधिक उतनी ही देर जिन्दा रह सकेगा जितनी देर उसे अपना गला घोटकर आत्म-हत्या मे लग सकती है।

हाँ, तो मूल सिद्धान्त क्या है? हम अपने जीवन मे निन्न्यानवे फीसदी तो प्रेम से काम लेते है और एक फी-सदी हिसा, घृणा या द्वेष से काम लिया जाता है। तब फिर

यह समझना कठिन नही है कि अहिंसा 'अव्यवहार्य' नही है। इतना ही नही, बल्कि वास्तविकता यह है कि अहिंसा के द्वारा ही जीवन-व्यवहार चलाया जा सकता है और वस्तुत अहिंसा ही जीवन है, रक्षा है, और हिंसा मृत्यु है, सहार है।

कि सुर-गिरिणो गरुय,
जल-निहिणो कि व हुज्ज गभीर ?
कि गयणाओ विसाल,
को य अहिसा-समो धम्मो ?

—आचार्य हेमचन्द्र,

सुमेरु के समान बडा कौन है ?
समुद्र के समान गम्भीर कौन है ?
आकाश के समान विशाल कौन है ?
अहिसा के समान धर्म कौन है ?
कोई नही,
कोई नही ।

द्वितीय खण्ड

सामाजिक-हिंसा

का

शोषण-चक्र

न्याय शान्ति का प्रथम न्यास है,
जब तक न्याय न आएगा।
फिर कैसा भी हो शान्ति-सिहासन,
सुस्थिर नही रह पाएगा।

—"दिनकर"

—: १ :—

वर्ण-व्यवस्था का मूल रूप

प्रथम खण्ड मे हिसा और अहिसा की जो व्याख्या की गई है, वह जीवो की प्रत्यक्ष अहिसा को लेकर हे। आज मै दूसरे प्रकार की परोक्ष हिसा और अहिसा पर प्रकाश डालने का विचार प्रस्तुत करता हूँ।

हिसा के दो प्रकार है—(१) प्रत्यक्ष हिसा, और (२) परोक्ष हिसा। प्रत्यक्ष हिसा मनुष्य की समझ मे जल्दी आ जाती है। जब वह सोचता है तो शीघ्र ही उसे ख्याल आ जाता है कि आज एकेन्द्रिय से लगाकर पचेन्द्रिय तक के जीवो मे से कौन और कितने मेरे हाथो से मारे गए है। किन्तु दूसरे प्रकार की जो परोक्ष हिसा हे, उसका रूप बडा व्यापक है और उसके सम्बन्ध मे शीघ्र कल्पना नही की जा सकती है। प्राय उसकी तरफ ख्याल भी नही जाता। उसकी गहराई को लोग समझ भी कम ही पाते है। इस परोक्ष हिसा की ओर ध्यान दिलाने के उद्देश्य से ही आज हम एक नया प्रकरण प्रारम्भ कर रहे है। इस प्रकरण को "सामाजिक हिसा" कहना उपयुक्त होगा।

कदाचित् आपको यह शब्द नवीन-सा प्रतीत होगा और आप सोचेगे कि यह कौन-सी नयी हिसा आ टपकी है ? किन्तु हिसा का रूप एक नही है। हिसा के विविध रूप है और अलग-अलग अगणित प्रकार है। हम ज्यो-ज्यो उन पर चिन्तन और मनन करेगे, त्यो-त्यो जैन-धर्म के अहिसा-सम्बन्धी विचारो की सूक्ष्मता एव व्यापकता का हमे ज्ञान होता जायगा। तभी हम समझ सकेगे कि जैन-धर्म विचारो की कितनी गहराई तक पहुँचा है।

हाँ, तो सामाजिक हिसा का मतलब क्या है ? भारत का समाज और सामाजिक जीवन क्या है ? वह कैसे बना है ? जमीन के अनेक टुकडो को समाज नही कहते। मकानो का, ईटो का या पत्थरो का ढेर भी समाज नही कहलाता, और न गली-कूचे का, या दूकान का, या सडक आदि का नाम ही 'समाज' है। ब्यावर का समाज या दिल्ली का समाज जब कहा जाता है तो उसका अभिप्राय यह होता है--ब्यावर या दिल्ली मे रहने वाला मानव-समुदाय।

एक समाज का दूसरे समाज के साथ कैसा व्यवहार है ? कैसी पारस्परिकता है--सम्बन्ध मीठा है या कड़वा ? एक जाति का दूसरी जाति के साथ, एक वर्ग का दूसरे वर्ग के साथ, और एक मुहल्ले का दूसरे मुहल्ले के साथ घृणा और द्वेष का सम्बन्ध तो नही चल रहा है ? यदि कही घृणा चल रही है और वह सामूहिक है, या समूह-विशेष के प्रति चल रही है तो वह 'सामाजिक हिसा' कहलाएगी। इसी प्रकार यदि एक प्रान्त की दूसरे प्रान्त के साथ, और एक देश

की दूसरे देश के साथ घृणा चल रही है तो वह भी एक प्रकार की 'सामाजिक हिंसा' ही कहलाती है।

जैन-धर्म एक विराट धर्म है। जन-कल्याण के लिए वह महान् सन्देश लेकर आया है। उसका मूलभूत सन्देश यह है कि—"विश्व के जितने भी मनुष्य है, वे सभी मूलत एक है। कोई भी जाति अथवा कोई भी वर्ग मनुष्य-जाति की मौलिक एकता को भग नही कर सकता।" इस सम्बन्ध मे आचार्य जिनसेन ने स्पष्ट शब्दो मे घोषणा की है —

'मनुष्य-जातिरेकैव, जातिकर्मोदयोद्भवा।'

—आदिपुराण

आज मनुष्य-जाति मे जो अलग अलग वर्ग दिखलाई देते है, वे बहुत कुछ कार्यों के भेद से, धन्धो के भेद से है। कुछ त्रुटियो और भूलो के कारण भी चल रहे है। परिवर्तन ने समाज की परिस्थितियो को बदल दिया है, और इतना बदल दिया कि वह अखण्ड मानव-जाति आज खण्ड-खण्ड हो गई और न जाने कितने वर्गो एव वर्णो मे विभाजित हो गई है।

भगवान् ऋषभदेव के समय मे जब समाज की स्थापना की गई तो हमारी मान्यता के अनुसार ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—ये चार वर्ग या वर्ण कायम हुए।* इन वर्गो

---

* भगवान् ऋषभदेव ने क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र, ये तीन वर्ण स्थापित किए थे। तत्पश्चात उनके पुत्र भरत चक्रवर्ती ने ब्राह्मण वर्ण की स्थापना की। इसके लिए देखिए—आचार्य जिनसेन-कृत आदिपुराण।

का एकमात्र आधार उद्योग-धन्धा था। समाज की विभिन्न प्रकार की आवश्यकताओ की पूर्त्ति के लिए ही ये वर्ग स्थापित किये गए थे।

एक वर्ग का काम था कि वह समाज को शिक्षित करने के लिए अध्यापक का काम करे, जनता को सही रास्ता दिखलाने का प्रयत्न करे और जब-जब समाज मे भूल और भ्रान्तियाँ उत्पन्न हो तो उन्हे उचित ढग से ठीक करे। इस प्रकार यह वर्ग ब्राह्मण वर्ण कहलाया। आज की भाँति इस ब्राह्मण वर्ग को न्यौता देकर जिमाने के लिए तैयार नही किया गया था और न यह कहने के लिए ही कि—"मै बहुत ऊँचा एव पवित्र हूँ और सब मुझसे नीचे है, अपवित्र है। ससार के साथ मेरा जो कुछ भी सम्बन्ध है, वह देने का नही, सिर्फ लेने ही लेने का है।" इस मनगढन्त सिद्धान्त पर ब्राह्मण-वर्ग की स्थापना नही हुई थी।

जैसे बडी मछली छोटी मछली को निगल जाती है, उसी प्रकार शक्तिशाली लोग अशक्तो एव असमर्थो का शोषण करना चाहते है। यदि शक्तिमान् लोग न्याय और अन्याय को कभी तोलते भी है तो उनकी तराजू अपनी बुद्धि होती है और बाट अपने स्वार्थ का होता है। अपनी बुद्धि की तराजू पर, अपने स्वार्थ के बाटो से तोलने वाला कब न्याय-अन्याय को सही तौर पर तोल सकता है? वह न्याय की रक्षा नही कर सकता और न उचित-अनुचित का विवेक के साथ विश्लेषण ही कर सकता है। इसीलिये समाज की स्थापना के साथ ही साथ राजनीति का भी प्रवेश हुआ।

सबलो द्वारा निर्बल पीडित न किये जाएँ, दुर्बलो को भी जीवित रहने का उतना ही अधिकार है जितना कि बलवानो को, अत उनकी समुचित रक्षा की जाय। इसी प्रयोजन से क्षत्रिय-वर्ग की स्थापना हुई और राजा उनका सरक्षक बनकर आया, पहरेदार के रूप मे उसने आपको प्रस्तुत किया। क्षत्रिय-वर्ग और उनका मुखिया 'राजा' महलो मे बैठकर ऐश-आराम करने के लिए नही था, अपितु इसलिए था कि देश के किसी भी कोने मे जब अत्याचार होता हो और कोई वर्ग किसी दूसरे वर्ग द्वारा कुचला जाता हो तो वह अपने प्राणो की आहुति देकर भी उसकी रक्षा करे। क्षत्रियो की स्थापना मे यही दृष्टि प्रमुख थी। महाकवि कालिदास ने भी यही कहा है—

क्षतात् किल त्रायत इत्युदग्र
क्षत्रस्य शब्दो भुवनेषु रूढ ।

—रघुवश महाकाव्य

इसके बाद वैश्य-वर्ग स्थापित हुआ। वह इसलिए नही कि दुनिया भर का शोषण करके अपने ही पेट को मोटा बनाए और दुनिया की जेब खाली करके अपनी ही जेब भरता रहे। उसकी स्थापना का मुख्य उद्देश्य यह था कि प्रजा को जीवन-निर्वाह की सामग्री सर्वत्र सुलभता से उपलब्ध हो। कोई वस्तु कही बहुतायत से पैदा होती है, कही कम, या कही होती ही नही है। जहाँ जो चीज बहुतायत से होती है वहाँ वह उपभोग के बाद भी पडी सडती रहती है, और जहाँ पैदा नही होती वहाँ के लोग उसके अभाव मे असुविधा

अनुभव करते है और कष्ट सहते है। इस विषम परिस्थिति को दूर करना और यथावश्यक सुविधाएँ सर्वत्र सुलभ कर देना, वैश्य-वर्ग का कर्त्तव्य था। इस कर्त्तव्य का प्रामाणिकता के साथ पालन करते हुए अपने और अपने परिवार के निर्वाह के लिए वह उचित पारिश्रमिक ले लिया करता था। वैश्य-वर्ग की स्थापना मे यही मूल उद्देश्य सन्निहित था।

और चौथा शूद्र-वर्ग था, जिसका कार्य भी बडा महत्त्व-पूर्ण था। समाज की सेवा करना ही उसका दायित्व था। उसकी सेवा की बदौलत समाज स्वस्थ रहता था और प्रजा का जीवन सुख-सुविधा के साथ व्यतीत होता था। शूद्र-वर्ग की स्थापना मे किसी प्रकार की मानसिक सकीर्णता तथा हीन भावना काम नही कर रही थी। तब फिर यह कल्पना की जा सकतीहै कि वर्ण-व्यवस्था कायम करते समय शूद्र-वर्ग को यदि किसी भी अग मे अन्य वर्णो की तुलना मे हीन माना गया होता, तो फिर कौन इस वर्ण-व्यवस्था मे सम्मिलित होने को तैयार होता? वस्तुत उन समाज स्रष्टाओ मे ऐसी कोई विकृत भावना नही थी। जैसे अन्यान्य वर्ग समाज की सुविधा के उद्देश्य से कायम किये गए थे, इसी प्रकार यह वर्ग भी समाज की सुविधा के लिए ही बनाया गया था।

प्राचीन साहित्य मे ब्राह्मणो को 'मुख' कहा है। आमतौर पर यह उक्ति प्रचलित है कि—ब्राह्मण की उत्पत्ति ब्रह्मा के मुख से, क्षत्रिय की उत्पत्ति ब्रह्मा की भुजाओ से, वैश्य की उत्पत्ति ब्रह्मा के उरु या पेट से, और शूद्र ब्रह्मा के पैरो से

उत्पन्न हुए। यजुर्वेद के पुरुषसूक्त में कहा है —

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः
ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत।

आज ब्राह्मण-समाज इस बात को तो बड़े गौरव के साथ दोहराता है कि हम ब्रह्माजी के मुख से पैदा हुए हैं, किन्तु इसके वास्तविक रहस्य को समझने का स्वप्न में भी प्रयत्न नहीं करता है। ब्रह्मा के मुख से उत्पन्न होने का मूल अर्थ इतना ही है कि आप जो चिन्तन और मनन करते हैं, उसका उपयोग मुख द्वारा कीजिए। आप अपने ज्ञान को पवित्र वाणी के द्वारा प्रकाशित करके मानव-समाज की सेवा कीजिए। इस भ्रम में कदापि न रहिए कि ब्राह्मण ब्रह्मा के मुख से बाहर निकल पड़े हैं। जिस तरीके से अन्य लोग पैदा होते हैं, उसी तरीके से ब्राह्मण भी पैदा होते हैं। भला यह कौन नहीं जानता? मुख से पैदा होने की बात तो केवल रूपक है और उसका आशय इतना ही है कि ब्राह्मणों का मुख्य कर्त्तव्य शिक्षा-ज्ञान के द्वारा समाज की सेवा करना है। वह अलंकार जीवन की पवित्रता का सन्देश लेकर आया था।

क्षत्रिय ब्रह्मा की भुजाओं से उत्पन्न हुए, यह भी आलंकारिक भाषा है। इसका अर्थ केवल इतना ही है कि क्षत्रिय-वर्ग अपनी भुजाओं के बल से निर्बलों की रक्षा करे, जो कि सबलों द्वारा सताये जाते हैं और जो अन्याय एवं अत्याचार के शिकार बन रहे हैं। जहाँ शोषकों के क्रूर हाथों से अन्याय-अत्याचार बरस रहे हों वहाँ तुम्हारे हाथ चोट पहुँचाने के लिए नहीं, अपितु उन दुर्बलों पर छाया बनकर पहुँचने चाहिएँ।

हम लोग जो भोजन करते है, वह पेट मे जमा हो जाता है। किन्तु पेट मे जमा हुआ भोजन रस के रूप मे सारे शरीर मे पहुँचता है। ऐसा कदापि नही होता कि पेट मे पहुँचा हुआ भोजन पेट मे ही रह जाए और अकेला पेट ही उसे हजम कर जाए और किसी दूसरे अवयव को अणुमात्र भी न मिलने पाए। हमारे शरीर का प्रत्येक अवयव क्रिया कर रहा है, वह पेट मे पहुँचे भोजन की बदौलत हो तो है। यदि पेट सम्पूर्ण शरीर को शक्ति न दे, तो हमारे शरीर का अस्तित्व टिक ही नही सकता। फिर जब शरीर ही नष्ट हो जायगा तो क्या अकेला पेट टिक सकेगा ? पेट की बदौलत यदि सम्पूर्ण शरीर टिका हुआ है तो सारे शरीर की बदौलत पेट भी टिका हुआ है। आशय यही है कि पेट मे जो भोजन पहुचता है वह रस, रक्त, मॉस, चर्बी आदि के रूप मे सारे शरीर को जीवन प्रदान करता है और शक्ति पहुँचाता है।

वैश्य-वर्ण समाज का उदर है। कृपि एव वाणिज्य उसका मुख्य उद्योग बतलाया गया है। कृपि के द्वारा जीवनोपयोगी वस्तुएँ उत्पन्न कर वाणिज्य के द्वारा उन्हे स्थानान्तरित करके सम्पूर्ण समाज को भोजन देना, शक्ति पहुँचाना तथा जीवित रखना उसी का कर्त्तव्य है। उसके इसी महत्त्वपूर्ण कर्त्तव्य को सुन्दर ढग से प्रतिपादित करने के लिए यह कहा गया है कि वैश्य-वर्ण ब्रह्मा के पेट से उत्पन्न हुआ है।

वैश्य-वर्ण की स्थापना का यह आशय कितना पवित्र था ! किन्तु समाज का दुर्भाग्य है कि 'वैश्य' अपनी पवित्र प्रतिष्ठा

को सुरक्षित नही रख सका। वाणिज्य के नाम पर वह लालच के चगुल मे बुरी तरह फँस गया। बगाल और बिहार मे जब भयानक दुर्भिक्ष फैला हुआ था, सर्वत्र हाहाकार मच रहा था, सडको पर चलते हुए भूखे बच्चे और बूढे इस तरह गिर जाते थे, जैसे झझावात मे वृक्ष की टहनियाँ! उसी समय मे एक व्यापारी के विषय मे मुझे बतलाया गया था। बडी तादाद मे उसके पास चावलो का सग्रह था। उसने जगह-जगह से खरीद कर भारी स्टॉक जमा कर लिया था। उसके मुनीम बाजारो मे चक्कर लगाकर आते और कहते—तीस रुपया मन चावल बिकते है, क्या बेच दिये जाएँ?

सेठ कहता—अभी नही, प्रभु की कृपा हो रही है।

मुनीमो ने कुछ ही दिनो बाद चालीस रुपया मन का भाव बतलाया।

सेठ बोला—मन्दिर मे घी के दीपक जलाओ।

जब चावलो का भाव चढते-चढते सत्तर रुपया हो गया तो सेठ की प्रसन्नता का पार न रहा। उसने कहा—गोशाला मे घास डलवा दो।

कितना अज्ञान, कितनी जडता और कैसी हृदय-हीनता है! क्रूरता की कैसी काली कहानी है! स्थिर स्वार्थपरता की भी कोई सीमा है! पर्याप्त भोजन होते हुए भी भुखमरी का ताडव है!! भूखो का भोजन चारो ओर से बटोर लिया गया है और जब भाव बढते जाते है तो खुशियाँ मनाई जाती है, उल्लास का अनुभव किया जाता है। इस पर भी दौडते है धर्म करने के लिये। मन्दिर मे घी के दीपक जलरहे है! गौ सदनो

मे गायो को घास डलवाई जा रही है !! धर्म के आवरण मे अधर्म को ढापने की कैसी दुस्साहसिकता है !!! मै पूछता हूँ कि मदिर मे घी के दीपक तो जलेगे, किन्तु किस के द्वारा ? उनसे ही तो जलेगे, जिनका मनमाना शोषण किया जा रहा है ? इस प्रकार के दीपको मे घी नही, बल्कि भूखो की चर्बी जला करती है।

व्यापारी वर्ग ससार मे इसलिए नही आया कि अर्थ-पिपासा-पूर्ति के लिए वह निरीह जनता का शोषण करे। पर आज तो यही हो रहा है। सेठजी की कोठी से सडक पर जूठन का पानी डाला जाता है और उस जूठन मे मिले हुए चावलो के कणो को उठाने के लिए भूखे और गरीब, कुत्तो की तरह उन पर झपटते है। यह सारी स्थिति वे अपनी आँखो से देखते है, फिर भी उन्हे तरस नही आता। वे अपने हिसाब मे मस्त रहते है—दो लाख से पाँच लाख हो गए, और पाँच लाख से दस लाख हो गए। मन्दिर मे तो घी के दीपक जलाते है, किन्तु किसी भूखे को अन्न का दाना भी नही दिया जाता।

ठीक है, व्यापारी जब व्यापार करता है तो धन का सग्रह भी उसके पास होगा ही। परन्तु आचार्यो ने कहा है —

"शतहस्त समाहर, सहस्रहस्त सकिर।"

"तू सौ हाथो से बटोर और हजार हाथो से बिखेर", अर्थात्—सग्रह करने की जो शक्ति तुम मे है, उससे दस गुनी शक्ति उस सम्पत्ति को बाँटने की होनी चाहिए। जब सौ

हाथों में कमाने की शक्ति है तो हजार हाथों में बाँटने की शक्ति भी प्राप्त कर।

जब इस ओर लक्ष्य नहीं दिया जाता है और स्वार्थ ही जीवन का एकमात्र केन्द्रबिन्दु बन जाता है तो वहाँ सामाजिक हिंसा आ जाती है।

चौथा वर्ग शूद्रों का है। उनकी उत्पत्ति ब्रह्मा के पैरों से मानी गई है। इसका दुष्परिणाम यह हुआ कि आज तो 'शूद्र' शब्द घृणा और तिरस्कार का पर्यायवाची-सा बन गया है। शूद्र का नाम लिया कि लोगों की त्यौरियाँ चढ़ जाती हैं और अपने आपको ऊँचा मानने वाले लोग नाक-भौंह सिकोड़ने लगते हैं। आप समाज-सेवा के अपने पवित्र दायित्व को भुलाकर सिर्फ व्यक्तिगत लाभ के लिए काम करते हैं, जब कि अधिकांश शूद्र आज भी समाज-सेवा का कठिन उत्तरदायित्व सेवा के लिये ही वहन कर रहे हैं। किन्तु जब वे इन्सान की तरह आपके पास बैठना चाहते हैं तो आप उन्हें पास बैठाना भी नहीं चाहते। यह कितने आश्चर्य की बात है!

आपकी मोटरों में कुत्ते और बिल्ली को तो जगह मिल सकती है। आपकी गोद में कुत्ते को स्नेहपूर्ण स्थान मिल सकता है। बिल्ली, भले ही कितने चूहों को मार कर आई हो, पर वह आपके चौके के कोने-कोने में रोक टोक चक्कर लगा सकती है और आप उसे प्यार भी कर सकते हैं, किन्तु मानव-देहधारी शूद्र को यह हक हासिल नहीं है! इन्सान को इन्सान के पास बैठने का भी हक नहीं है! पास बैठने का हक देते हैं या

नही उसका फैसला बाद मे करेगे, किन्तु आप तो धर्मस्थान मे भी उसे प्रवेश नही करने देते! जब ऐसी विषमता है तो मै सोचता हूँ कि इससे बढकर और क्या सामाजिक हिसा होगी कि एक ओर तो आप अपनी पवित्रता का ढोल पीटते रहे और दूसरी ओर दूसरो की छायामात्र से भी नफरत करते जायँ।

एक जगह एक हरिजन भाई आता है और बडे प्रेम से उच्च विचार लेकर आता है। उसने माँस खाना और मदिरा पीना छोड दिया है। वह जैन-धर्मानुसार अष्टमी और चतुर्दशी का व्रत भी करता है। आपके धार्मिक जीवन की प्रमुख क्रियाएँ—'सामायिक' और 'पौषध' भी वह करता है। सन्तो के दर्शन भी करता है। परन्तु जब वह व्याख्यान सुनने आता है तो उसे निर्देश दिया जाता है—'नीचे बैठकर सुनो!'

वह बेचारा नीचे बैठकर सुनता है और आप चौक की ऊँचाई पर बैठ जाते है। अब इसमे अन्तर क्या पडा? जो हवा उसे छूकर आरही है वह आपको भी लग रही है। तो अब आप ईश्वर के दरबार मे फरियाद ले जाइए कि हवा हमे भ्रष्ट कर रही है, अत उसे इधर बहने से रोक दीजिए! सूर्य का भी जो प्रकाश उस पर पड रहा है, वही आप पर भी पड रहा है! सन्त की जो वाणी उसके कानो मे पड रही है, वही आपके कानो मे भी पड रही है! शास्त्र का जो पाठ बोला जा रहा है वह इतना पवित्र है कि जिसकी कोई सीमा नही है। तो उस पाठ की पवित्र ध्वनि को आप

अपने ही कानो मे सुरक्षित रख लीजिए। दीवार खींच दीजिए, जिससे कि वह उद्घोष उसके कानो मे पड कर अपवित्र न हो जाए। भला, यह भी कोई युक्ति सगत बात है कि एक वर्ग अपनी मनमानी विशिष्टता को प्रदर्शित करने के लिए दूसरे वर्ग के समान अधिकारो पर अवाछनीय प्रतिबन्ध लगाए और सामाजिक नियमो का दुस्साहस के साथ उल्लघन करे।

इस अशोभनीय दृश्य को देखकर मैने प्रयत्न किया कि उस हरिजन भाई को भी सर्वसाधारण के साथ ही बैठने की जगह मिल जाय। वस्तुत यह तो भगवान् महावीर की पवित्र वाणी का अपमान है कि एक हरिजन तो जूतियो मे बैठकर सुने, और आप अपनी मनमानी विशिष्टता के कारण दरियो पर बैठकर सुने। मेरी चेतावनी पर उन भाइयो मे चेतना जागृत हुई और उन्होने भगवान् महावीर की वाणी का आदर करके उस हरिजन बन्धु को दरी पर बिठलाना शुरू किया। फिर भी कुछ भाई तो ऐसे ही थे, जो उसे दरी पर बैठा देख स्वय नीचे बैठते थे और नीचे बैठे-बैठे ही व्याख्यान सुनते थे। इसमे भी कोई आपत्ति नही है। यदि आज नही तो कल, वे पूरी तरह समझ जाएँगे।

आज के इस प्रगतिवादी युग मे भी ऐसे सकीर्ण लोग देखे गए है कि यदि हरिजन आया और सन्त के पैर छू गया तो फिर वे दूर खडे खडे ही वन्दना कर लेते है और साधु के चरण नही छूएँगे, क्योकि वे चरण अछूत जो हो गए है। किन्तु इसी बीच यदि कोई दूसरा आ गया और उसने चरण छू लिए तो वे सेठजी आए और उन्ही चरणो को छू गए।

बीच मे दूसरे के छूने से शायद उनकी अछूत उतर गई और अब वे चरण छूने योग्य हो गए।

आज का मानव अपने मन की सकीर्णता मे कितना बुरी तरह उलझा हुआ है? भगवान् महावीर ने अपने युग मे इस मानसिक सकीर्णता को सुलझाया था किन्तु वह पूरी तरह नही सुलझ पाई। उनके बाद ढाई हजार वर्ष की लम्बी परम्परा गुजरी और आचार्यो ने समय-समय पर अस्पृश्यता का तीव्र विरोध भी किया, फिर भी वह उलझन आज तक भी बनी हुई है। दुर्भाग्य से कई ऐसे भी साधु आए, कि जिन्होने जनता की रूढिवादी आवाज मे आवाज मिला दी और अस्पृश्यता को प्रोत्साहन देने लगे। जिसके लिए जैन-सस्कृति को एक दिन घोर सघर्ष करना पडा था, जिसके लिए नास्तिकता का उपालम्भ तक भी सहना पडा था। दुर्भाग्य से आज वही पवित्र सस्कृति घृणित अस्पृश्यता-वाद के दलदल मे फॅस गई। यहाँ तक कि अस्पृश्यता के पक्ष मे शास्त्र के प्रमाण भी आने लगे। कहा जाने लगा कि वह ऊँचा है, वह नीचा है और जो नीचा है वह अपने अशुभ कर्मो का फल भोग रहा है। किन्तु शास्त्र ने तो आरम्भ मे ही इतनी बडी बात कह दी थी कि—"मनुष्यजातिरेकैव जातिकर्मोदयोद्भवा।" अर्थात्—सब मनुष्यो की जाति 'एक' ही है। मनुष्यो मे दो जातियाँ है ही नही। फिर भी सकीर्णतावश उसमे उच्चता और नीचता खोजी जाने लगी। इस वर्ग-भेद ने अखण्ड मानव परिवार को विभिन्न टुकडो मे बॉट दिया और जातिमद ऐसा चढा कि शास्त्रो की पवित्र आवाज क्षीण हो गई। हमने वास्त-

विकता को भुला दिया। और मनुष्य अपने मिथ्याभिमान के कारण दूसरे मनुष्य का अपमान करने को उतारू हो गया।

एक हरिजन भाई पवित्र विचारो का अनुयायी हो चुका है। वह भगवान् महावीर के उपदेशो को स्वीकार कर चुका है, उसके हृदय मे जैन-धर्म के प्रति अगाध श्रद्धा और अटूट प्रीति है, फिर भी आप उसकी कोई परवाह नही करते और इन्सान की तरह बैठने का हक भी उसे नही देना चाहते। क्या यही आपका धर्म-वात्सल्य है? भगवान् महावीर ने आपको सहधर्मी के साथ क्या ऐसा ही व्यवहार करना सिखाया था? जब आप सहधर्मी के प्रति ऐसा व्यवहार कर सकते है तो फिर दूसरो के साथ आप कटु व्यवहार क्यो न करेगे?

उत्तर प्रदेश मे पहले ओसवाल, और अग्रवाल एक दूसरे के यहाँ भोजन नही करते थे। समय और समझ के प्रभाव से अब कुछ ठीक-ठीक समझौता होता जा रहा है। यह सक्रामक रोग तो यहाँ तक फैला हुआ है कि ओसवालो और अग्रवालो मे भी अनेक टुकडे हो गए और वे मूलत एक वर्ग के होते हुए भी एक-दूसरे उप वर्ग के हाथ का भोजन नही करते।

हमारी मध्यकालीन सस्कृति मे कुछ ऐसी जडता आ गई थी कि वह सब जगह से हट कर एकमात्र चौके मे बद हो गई। लोग न जाने कैसे समझ बैठे कि 'अमुक का छुआ खा लिया तो धर्म चला जायगा।'

एक ओर अद्वैत के उपासक, उद्घोषक तथा बडे-बडे

आचार्य वेदान्त के सूत्र भी जनता के सामने लाते रहे कि सारा ससार पर-ब्रह्म का ही रूप है—'ब्रह्म सत्य जगन्मिथ्या ।' अर्थात्—"एक ब्रह्म ही सत्य है और ससार के अन्य सब रूप मिथ्या है ।" दूसरी ओर अछूत की छाया मात्र से उनका ईश्वर और धर्म भागता है ।

वेदान्त तो यह कहता है—पानी भरे हजार घडे रखे है। उनमे कुछ सोने के है, कुछ चाँदी के है, कुछ पीतल और ताँबे के है और कुछ मिट्टी के है। परन्तु उन सब मे चन्द्रमा का प्रतिविम्ब एक समान ही पडता है। इसी प्रकार ससार के सारे पदार्थो मे ब्रह्म का प्रतिविम्ब समान रूप से पड रहा है।

हमारे साथी कितने प्रगतिवादी है। जब कभी वे धर्म-सम्बन्धी बाते करते है और उमङ्ग मे आते है तो ऐसा मालूम पडता है कि सच्चा ब्रह्म-ज्ञान इन्ही को मिल गया है और वे हिमालय के ऊपर बैठ गए है। किन्तु जब खान-पान की बात सामने आती है तो उनका ब्रह्म-ज्ञान न जाने कौन-सी कन्दरा मे छिप जाता है ? उस समय ऐसा लगता है, मानो उनकी एक टॉग हिमालय की ऊँची चोटी पर है और दूसरी पाताल लोक के अतल गह्वर मे। वास्तविक प्रगति की ऐसी स्थिति नही होती। जीवन इस तरह प्रगति नही कर सकता।

इस प्रकार एक वर्ग का दूसरे वर्ग पर या एक समूह का दूसरे समूह पर घृणा-द्वेष प्रदर्शित करना, सामाजिक हिंसा है। यह कितने आश्चर्य की बात है कि आज बहुतेरे लोग

सामाजिक हिंसा को पाप या अधर्म नही, बल्कि धर्म मानते है। गृहस्थो की तो बात दूर रही, साधु-समाज भी इस सामाजिक अपवाद से अछूता नही रहा है। उनकी गोचरी के विषय मे भी यह खटराग चल रहा है। शास्त्रो की दिव्य सूचनाएँ हमे प्रकाश पर प्रकाश दे रही है, फिर भी सारा समाज कल्पित मान्यताओ के अन्धकार मे बुरी तरह भटका हुआ है।

मेरे एक ब्राह्मण भक्त है। वे मिल मालिक भी है। पहले वे जैन-धर्म के कट्टर विरोधी समझे जाते थे, किन्तु जब वे मेरे सम्पर्क मे आए तो उनका वह विरोध नही रहा। कार्यक्रम के अनुसार मै जहाँ कही होता हूँ, बहुधा वे भेट के लिये आया करते है। जब वे एक बार बिहार प्रान्त से लौटकर आए तो बोले—'महाराज, धर्म का तो नाश हो गया। धर्म नाम का कोई चिन्ह अब रहा ही नही।"

मैने पूछा—क्या बात हुई ?

वे बोले—कुछ पूछिए ही नही! स्टेशन पर मैने पानी माँगा तो पानीवाले ने कहा—लीजिए! मैने पूछा—कैसा पानी है? तब उसने कहा—पीने का साफ पानी है। मैने फिर पूछा—अरे भाई, साफ तो है, पर है कैसा? वह बोला—ठडा है साहब! विवश होकर मुझे पूछना ही पडा—किसका पानी है? उसने धीरे से कह दिया कि कुँए का है और ताजा है। फिर मुझे साफ शब्दो मे कहना ही पडा—मैने कुँए या तालाब का नही पूछा है—मै पूछता हूँ कि वह पानी हिन्दू का है

या मुसलमान का ? तब वह बोला—पानी कौन होता है साहब ? पानी न तो हिन्दू होता है और न मुसलमान ही, पानी तो पानी है। अतएव आप यह पूछ सकते है कि पानी नदी का है, तालाब का है या कुँए का ? ठडा है या गरम है ? साफ है या गन्दा है ? किन्तु पानी न तो हिन्दू है और न मुसलमान।" तो महाराज, जब उसने यह कहा तो मैने पानी लिया ही नही। दो, चार स्टेशनो तक मै प्यासा ही रहा। आखिर कब तक प्यासा रहता ? जब नही रहा गया तो अन्तत वह पानी पीना ही पडा।

मैने उन सज्जन से पूछा—अब क्या करेगे ?

वे बोले—गङ्गाजी जाएँगे और स्नान करके शुद्ध हो जाएँगे।

मैने कहा—गङ्गाजी जाने से क्या होगा ? वह पानी तो अन्दर चला गया और पेशाब के द्वारा बाहर भी निकल गया और आपकी मान्यता के अनुसार तो सस्कार चिपक ही गये है। फिर आप क्या करेगे ? और भाई, इस जमीन पर चलना कब छोडेगे, क्योकि इसी पर शूद्र भी चला करते है ? शूद्रो की चली जमीन पर चलने से भी तो बुरे सस्कार चिपक जाते है न ?

जब उन्हे विचार आया तो गम्भीर भाव से बोले—क्या वे पुरानी परम्पराएँ गलत थी ? मैने कहा—हाँ, ऐसी परम्पराएँ निस्सन्देह गलत और निराधार है।

अपनी गलतियो को, चाहे वे एक हो या हजार, सब के सामने हम स्पष्टत. स्वीकार करेगे। दुर्भाग्यवश

साधुओ मे भी यह मानसिक दुर्बलता है, जो उन्हे आगे नही बढने देती। गृहस्थो की गलतियाँ और भूले उन्हे भी तग कर रही है। इस तरह समाज विभिन्न टुकडो मे बँट जाता है और परिणाम यह होता है कि हम अनेक बार धर्म-स्नेहियो का भी यथोचित आदर नही कर पाते। कई वर्ष हो जाते है, वे माँस और शराब को हाथ तक नही लगाते। हमारे प्रत्येक धार्मिक आयोजन मे भी शामिल होते है, फिर भी उनके साथ हमारा कोई सम्बन्ध नही होता। यहाँ तक कि पानी और रोटी का भी सम्बन्ध नही होता। फिर भी हम जैन धर्म के विश्वधर्म होने का दावा करते है और गर्व के साथ कहते है कि नरक मे, स्वर्ग मे और तिर्यञ्च योनि मे भी सम्यक्त्वी भाई है, जो जिन-धर्म का पालन कर रहे है।

एक ओर तो हमारा यह सास्कृतिक सौहार्द एव व्यापक दृष्टिकोण है, और दूसरी ओर हमारा यह सकीर्ण मनोभाव और क्षुद्र व्यवहार है। क्या दोनो मे अशमात्र भी सामजस्य है? नरक और स्वर्ग के धर्मात्माओ की, स्वधर्मी भाइयो की बाते करने वाले अपनी ही बगल मे बैठे इन्सान को, जोकि धर्माराधन कर रहा है, अपनाने मे ही हिचक जाते है। अरे, उसको तो स्वधर्मी बन्धु के रूप मे गले लगाना चाहिए। यदि आपके हृदय मे उसके प्रति अशमात्र भी प्रेम नही जगा, अपितु उसे दुरदुराते ही रहे तो समझना चाहिए कि आपके हृदय मे अभी तक धर्म के प्रति सच्चा प्रेम जागृत नही हुआ है। जो धर्म से प्रेम करता है वही

सच्चा धर्मनिष्ठ है और वह धर्मात्माओ से प्रेम किये विना कभी नही रह सकता।

इस प्रसग पर मुझे वुद्ध के एक शिष्य 'आनन्द' की वात याद आती है। 'आनन्द' किसी गाँव मे गए तो उन्हे प्यास लग आई। उन्होने देखा कि एक वालिका कुँए पर पानी भर रही है। वे उसके पास पहुँचे और वोले—"वहिन, पानी पिला दो।"

वालिका ने कहा—मै चाण्डाल की कन्या हूँ।
उस वालिका के इस स्पष्ट कथन के उत्तर मे आनन्द ने वहुत ही सुन्दर वात कही है। इतनी सुन्दर और आदर्शयुक्त कि २५०० वर्षो मे फिर कभी वैसी वात सुनने को नही मिली। 'आनन्द' ने अपने स्वाभाविक सहज भाव से कहा—"वहिन, मैने जात तो नही माँगी। केवल पानी माँगा है। मुझे तुम्हारी जात नही पीना है, पानी पीना है।" आनन्द के इस आदर्शपूर्ण स्पष्टीकरण से शूद्र वालिका का जाति-सकोच विलीन हो गया और उसने पानी पिला दिया।

आनन्द ने आनन्द पूर्वक पानी पिया। शूद्र वालिका सोचने लगी—भारतवर्ष मे क्या अव भी ऐसे व्यक्ति मौजूद है जो जाति नही, पानी पूछते है। और तव उस वालिका ने साहस के साथ पूछा 'क्या भूतल पर कोई ऐसी जगह भी है, जहाँ हम भी दूसरो की भाँति वैठकर अपना जीवन प्रशस्त कर सके?'

आनन्द ने कहा—क्यो नही? सम्पूर्ण भूमडल पर प्रत्येक जाति और वर्ण का समान अधिकार है। जहाँ

एक ब्राह्मण जा सकता है वहाँ तुम भी पहुँच सकते हो। बुद्ध के समवसरण में जितना आदर एक ब्राह्मण को मिलता है उतना ही चाण्डाल को भी मिलेगा।

अन्त में चाण्डाल कन्या बुद्ध की शरण में जाती है और साध्वी बन जाती है।

जब ऐसी आदर्श बातें आती है तो निस्सन्देह हृदय गद्‌गद हो जाता है। हम अपने जैन-संघ की गौरव-गाथाएँ भी सुनते है और जानते हैं कि उसने भी कितना उदार एवं व्यापक दृष्टिकोण अपनाया था। महात्मा हरिकेशबल और मुनिवर मेतार्य की कथाएँ जैन-धर्म और जैन-संघ की अति महान् उज्ज्वल कथाएँ है, जो हमें आज भी प्रकाश दे रही है। किन्तु दुर्भाग्य से हमने अपनी आँखें मूँद ली है और कूपमण्डूक की भाँति हम अन्धकार में ही अपना कल्याण खोज रहे है। हमने अहिंसा के व्यापक स्वरूप की ओर कभी नजर नहीं डाली। जिसका दुःखद परिणाम यह हुआ कि इस सामाजिक हिंसा में आज भी हम चिपके हुए है। समय और परिस्थितियों के परिवर्तन ने अब हमारे सामने गहराई से सोचने और समझने का सुअवसर प्रदान किया है। जिसका सदुपयोग इस रूप में करना है कि हम सत्य के दिव्य प्रकाश में प्रचलित सामाजिक परम्पराओं को देखें, उनकी शव-परीक्षा करें और उन के अभिशाप 'सामाजिक हिंसा' से बचने की भरसक चेष्टा करें।

———

—: २ :—

जातिवाद का भूत

यह पहले ही वतलाया जा चुका है कि जीवन मे हिसा का रूप एक नही है। वह सामाजिक, राष्ट्रीय, धार्मिक तथा अन्य क्षेत्रो मे विभिन्न रूपो मे चल रही है। अतएव जहाँ कही और जिस किसी भी रूप मे हिसा हो रही है, उसे वहाँ उसी रूप मे समझने की आवश्यकता है। इसके विना अहिसा के राज-मार्ग पर ठीक तरह नही चला जा सकता। अपने वौद्धिक विश्लेपरा के द्वारा जो अन्धकार को अन्धकार समझ लेते है और साथ ही यह भी जान लेते है कि यह अन्धकार जीवन को प्रगति की प्रेरणा देने वाला नही है, वही प्रकाश मे आने का प्रयत्न कर सकते है और फिर अपनी जीवन-यात्रा अच्छी तरह तय भी कर सकते हैं। जहाँ अन्धकार है वहाँ भाँति-भाँति की गडवडी पैदा होती रहती है। घर मे चोरो के घुस आने पर घर वाले लडने को तो तैयार होते है चोरो से, किन्तु लाठियाँ वरसाने लगते है अपने ही घर वालो पर। अन्धकार

मे अपने-पराये का कोई भेद मालूम नही देता। इस प्रकार के अधकार को जीवन न मानकर मृत्यु का सदेश समझना चाहिए। सफल जीवन के लिए तो दिव्य-प्रकाश ही चाहिए।

हिंसा भी एक प्रकार का अधकार है और आज वह जीवन के प्रत्येक क्षेत्र मे फैला हुआ है। किन्तु यह निश्चित है कि जब तक वह जीवन को किसी भी रूप मे स्पर्श किए हुए रहेगा, तब तक जीवन का सही मार्ग नही मिलेगा। अतएव यदि प्रकाश मे प्रवेश करना है तो इसके लिए अधकार का भी समुचित ज्ञान प्राप्त करना होगा। जब तक हम हिंसा के अधकार को भली-भाँति न समझ ले, तब तक अहिंसा के प्रकाश की उज्ज्वल किरणे हमे प्राप्त नही हो सकती।

पिछले प्रवचन मे मैंने सामाजिक हिंसा का विवेचन करते हुए बतलाया था कि मनुष्य जाति 'एक' है और वह प्राणि-संसार की सर्वश्रेष्ठ जाति है। मनुष्य का जीवन बहुत बडे सौभाग्य से प्राप्त होने वाली एक बहुमूल्य निधि है। जैन-शास्त्र और दूसरे शास्त्र भी यही कहते है कि देवता बनना आसान है, किन्तु मनुष्य बनना कठिन है। चौरासी लक्ष जीव-योनियो मे भटकते हुए बडी कठिनाई से मनुष्य का चोला मिलता है। इन्सान की ऊचाई, वस्तुत बहुत बडी ऊँचाई है।

ज्यो ही मानव-जीवन की महत्ता का विचार हमारे मन मे आता है, त्यो ही एक अति महत्त्वपूर्ण प्रश्न सामने उपस्थित हो जाता है। प्रश्न यह है कि—मनुष्य का मनुष्य के प्रति कैसा व्यवहार होना चाहिए ? मनुष्य यदि मनुष्यता का मूल्य

समझता है तो उसे दूसरे मनुष्यो के साथ कैसा व्यवहार करना चाहिए ?

इन्सान का चोला मिल जाने पर भी इन्सान को यदि इन्सान की आत्मा नही मिली, हाथ-पैर आदि अवयव इन्सान के मिल गए, किन्तु यदि भीतर हैवानियत ही भरी रही तो यह बाहर का मानवीय चोला किस काम का ? घृणा, द्वेप, अहकार—ये सब पशुता की भावनाएँ है, मनुष्यता की नही । मनुष्य के चोले मे भी यदि ये सब भावनाएँ भरी है, तो समझ लेना चाहिए कि वहाँ वास्तविक मनुष्यता नही आ पाई है ।

अखण्ड मानव-जाति पहले-पहल उद्योग-धधो की भिन्नता के कारण अनेक टुकडो मे विभक्त हुई । कहना तो यह चाहिए कि मनुष्य जाति की सुविधा के लिए ही उद्योग अलग-अलग रूपो मे बाँटे गये थे और अलग-अलग पेशा करते हुए भी मनुष्य-मनुष्य मे कोई भेद नही था । किन्तु जब अहकार और द्वेष की भावनाएँ तीव्र हुई तो धधो के आधार पर बने हुए विभिन्न वर्गो मे ऊँच-नीच की भावना अकुरित होने लगी । फिर वह फूली और फली । उसके जहरीले फल सर्वत्र फैले और उन्होने मानव-जाति की महत्ता और पवित्रता को नष्ट कर दिया । मनुष्य समझ बैठे कि अमुक धधा करने वाला वर्ग ऊँचा है और अमुक धधा करने वाला वर्ग नीचा ।

क्या वह भेदभाव यही खत्म हो गया ? नही, वह बढता ही चला गया और एक दिन उसने बहुत विचित्र एव विकृत रूप ग्रहण कर लिया । धीरे-धीरे धधो की बात उड गई और

जन्म से ही उच्चता और नीचता, पवित्रता और अपवित्रता की बात जोड दी गई।

जब तक धधे का प्रश्न था, समस्या विकट नही थी और भेद-भाव भी स्थायी नही था, क्योकि मनुष्य इच्छा होते ही अपना धधा बदल भी सकता था। किन्तु जन्म कैसे बदले ? परिणाम यह हुआ कि मनुष्य-मनुष्य के बीच भेद पैदा करने वाली फौलादी दीवारे खडी कर दी गई और मानव परिवार का सघटन छिन्न-भिन्न हो गया। निस्सन्देह उसी विघटन का यह दु खद परिणाम है कि आज 'शान्ति' और 'प्रेम' के स्थान पर 'अशान्ति' एव 'घृणा' का साम्राज्य है।

हमारे सामने आज यह जटिल प्रश्न उपस्थित है कि इस सम्बन्ध मे जैन-धर्म क्या प्रकाश देता है ? वह 'जन्म' से पवित्रता मानता है या 'कर्म' से ? किसी ने ब्राह्मण, क्षत्रिय या वैश्य के कुल मे जन्म ले लिया तो क्या वह जन्म लेने मात्र से ब्राह्मण, क्षत्रिय या वैश्य हो गया ? और क्या जन्म-मात्र से उसमे श्रेष्ठत्व आ गया ? अथवा ब्राह्मण आदि बनने के लिए और तदनुरूप उच्चता प्राप्त करने के लिए क्या कुछ कर्त्तव्य-विशेष भी करना आवश्यक है ?

इन्सान जन्म से क्या लेकर आया है ? वह हड्डी और माँस का ढेर ही साथ मे लाया है ! क्या किसी की हड्डियो पर 'ब्राह्मणत्व' की, किसी के मास पर 'क्षत्रियत्व' की या किसी के चेहरे पर 'वैश्यत्व' की मोहर लगी आई है ? या ब्राह्मण किसी और रूप मे, और दूसरे वर्ण किसी और रूप मे आए है ?

आखिर, शरीर तो शरीर ही है। वह जड पुद्गलो का पिण्ड है। उसमे जाति-पाँति का किसी भी प्रकार का कोई नैसर्गिक भेद नही है। यह मृत्-पिण्ड तो आत्मा को रहने के लिए मिल गया है और कुछ समय के लिए आत्मा रहने के लिए उसमें आ गया है। वस्तुत यह अपने आप मे पवित्र या अपवित्र नही है। पवित्रता और अपवित्रता का आधार आचरण की शुद्धता या अशुद्धता है। आचरण ज्यो-ज्यो पवित्र होता जाता है, त्यो-त्यो शुद्धता भी वढती जाती है। इसके विपरीत अपवित्रता के आचरण से अशुद्धि भी वढती जाती है।

यह आवाज, आज की नई आवाज नही है। भारत मे जब जन्मगत उच्चता और नीचता की भावनाएँ घर किये वैठी थी, तव भी विचारक लोग प्राय यही कहते थे और तव से आज तक भी वे यही कहते आ रहे हैं। निस्सन्देह उस आचरणमूलक उच्चत्व की प्रेरणा का ही तो यह फल प्रकट हुआ कि इन्सान ने किसी भी उच्च या नीच जाति मे जन्म लिया हो, किन्तु फिर भी उसने श्रेष्ठ होने और उच्चता प्राप्त करने के लिए भरसक प्रयत्न किया। उसने विचार किया कि मै जन्म से उच्च नहीं वन गया हूँ। यदि मै सत् प्रयत्न करूँगा, जीवन को सदाचार के पथ पर अग्रसर करूँगा, और अपनी प्राप्त सामग्री को अपने आप मे ही समेट कर नही रखूँगा, वल्कि दूसरो के कल्याण मे भी उसका यथाशक्ति उपयोग करूँगा तो जीवन की पवित्रता को प्राप्त कर सकूँगा।

वह पवित्रता शुभ कर्म द्वारा ही प्राप्त होगी, जन्म से नहीं। यह आवाज भारत की जनता के हृदय मे निरन्तर गूँजती रही और भारतीय जन-समाज उस पवित्रता की ओर दौड़ भी लगाता रहा। जो ब्राह्मण के कुल मे जन्मा था, वह भी दौड़ा और जो क्षत्रिय-कुल मे पैदा हुआ था, वह भी दौड़ा। क्योकि उसे मालूम था कि पवित्रता अकेले जन्म लेने से नही आएगी, उसे तो उच्च कर्तव्यो द्वारा ही प्राप्त करना होगा। वह प्रयत्न से ही प्राप्त हो सकेगी, अन्यथा नही।

आप इन्सान के रूप मे ही जन्मे है और मैने भी इन्सान के रूप मे ही जन्म लिया था। क्या आपका 'श्रावकपन' और मेरा 'साधुपन' शरीर के साथ ही आया था? नही, शरीर उसे साथ मे लादकर नही लाया। उसे तो आचरण और साधना के द्वारा यहाँ पर ही प्राप्त करना होता है।

इस प्रकार उस युग मे कोई किसी भी धर्म का अनुयायी क्यो न रहा हो, प्राय सभी ने पुरुषार्थ की साधना के द्वारा ही अपेक्षित पवित्रता को प्राप्त करने का प्रयत्न किया और उसे पाने के लिए सदाचार के पथ पर निरन्तर दौड लगाते रहे। किन्तु दुर्भाग्य और परिस्थितियो के प्रकोप से विचार उलट गए और ऐसी विचित्र धारणा बन गई कि ब्राह्मण के यहाँ जन्म लेने मात्र से 'पवित्रता' प्राप्त हो गई और जैन-कुल मे जन्म लेने मात्र से ही 'जैनत्व' मिल गया। सोचिए, जब इस प्रकार जन्म लेने मात्र से पवित्रता मिल जाने का विचार दृढ हो गया तो फिर नैतिक पवित्रता के लिए कौन प्रयत्न करता? और पवित्रता के लिए पुरुषार्थ

करने की आवश्यकता ही क्यो अनुभव की जानी चाहिए ? इस सम्वन्ध मे हमारे यहाँ कहा गया है —

"अर्के चेन्मधु विन्देत, किमर्थं पवत व्रजेत् ?"

पुराने समय मे शहद के लिए पर्वत पर टक्करे खानी पडती थी और वहुत कठिनाई से शहद प्राप्त किया जाता था। उस समय के एक आचार्य कहते है कि यदि गाँव के वाहर खडे हुए अकौवा (आकडे) के पौधे की टहनियो पर ही शहद का छत्ता मिल जाए तो नदी नालो को कौन लाँघे ? पर्वतो पर जाकर कौन टक्करे खाए ?

मनुष्य का स्वभाव है कि पुरुषार्थ के बिना ही यदि इच्छित वस्तु मिल सकती हो तो फिर कोई पुरुषार्थ क्यो करेगा ? यह एक लोक स्वभाव के सिद्धान्त की वात है। हम साधु भी जव अनजान गाँवो मे गोचरी के लिए जाते है, तव यदि सीधे रूप मे अनायास ही कुछ घरो से गोचरी मिल जाय और गोचरी के लिए कदम वढाते ही 'पधारिये महाराज' कहने वाले खडे मिल जायँ तो व्यर्थ ही दूर-दूर के गली-कूचो मे चक्कर क्यो लगाते फिरेगे ? जगह-जगह भटक कर अलख क्यो जगाएँगे ? कथन का अभिप्राय यही है कि जव सहज रूप से, गम्भीर पुरुषार्थ किये बिना ही साधु-मर्यादा मे इच्छित वस्तु मिल जाती है तो व्यर्थ ही दूर नही जाने वाले है। जिस वस्तु को प्राप्त करने के लिए इतना पुरुषार्थ करना पडे कि सारा जीवन ही उसके लिए खर्च कर देना आवश्यक हो, किन्तु वही चीज जव विना पुरुषार्थ के ही प्राप्त हो जाय तो किसे पागल कुत्ते ने काटा है जो

उसके लिए दूर-दूर भटकता फिरे, कठिनाइयाँ झेलता रहे और साधना की मुसीबतें उठाए ?

इस मानव-स्वभाव के अनुसार जब से हमने पवित्रता का सम्बन्ध जन्म के साथ जोड़ दिया, तभी से मानवीय सद्गुणों की ऊँचाई प्राप्त करने के सभी प्रयत्नों में शिथिलता आगई। वहीं से जनता का नैतिक पतन आरम्भ हुआ। तभी से मनुष्य इतना गिरा कि ऊँचा उठ ही नहीं सका।

वैदिक धर्म में एक कहानी आती है। एक वेश्या थी, जिसकी कोई जात-पाँत नहीं होती। वह संसार की उलझनों में उलझी हुई थी। उसने एक तोता खरीद लिया और उसे 'राम-राम' रटाना शुरू किया। केवल इसलिए कि आने वालों का मनोरंजन हो। इस सम्बन्ध में पुराणकार कहते हैं—जब वह वेश्या मरी तो यम के दूत भी उसे लेने आए और विष्णु के दूत भी। यम के दूत तो नरक का यह परवाना लेकर आए थे कि इसने दुनिया भर के पाप किए हैं और अपनी तथा दूसरों की तरुणाई को नरक की नाली में डाला है, इस कारण इसे नरक में ले जाना है।

परन्तु विष्णु के दूत उसे स्वर्ग में ले जाने का परवाना लेकर आए थे। वे उसे स्वर्ग में इसलिए ले जाना चाहते थे कि वह प्रभु की भक्त है। वह तोते को 'राम-राम' रटाती रही है, अतः उसकी सीट स्वर्ग में रिजर्व हो चुकी है।

इस प्रश्न को लेकर दोनों तरफ के दूतों में संघर्ष हो गया। यम के दूतों ने कहा—तुम करते क्या हो ? पागल तो नहीं हो गए ? अरे यह तो वेश्या है, दुराचारिणी है ! भला,

इसको स्वर्ग मे कौन बुला सकता है ?

विष्णु के दूत कहने लगे—इस वेश्या ने जो अनगिनत 'राम-राम' बोला है, क्या वह सब व्यर्थ ही जाएगा ? राम के भक्तो के लिए तो स्वर्ग मे स्थान निश्चित है, नरक कदापि नही। भगवान् विष्णु इसे स्वर्ग मे बुला रहे है।

यमदूत बोले—तुम बडे नादान मालूम होते हो ! इसने 'राम-राम' कहाँ जपा है ? यह तो सिर्फ तोते को ही रटाती रही है और वह भी इसलिए कि इसका अनैतिक व्यवसाय सफलता के साथ चलता रहे ! यदि तुम इतने सस्ते भाव मे आदमी को स्वर्ग मे ले जाओगे तो स्वर्ग को भी नरक बना डालोगे।

आखिर, यम के दूतो और विष्णु के दूतो मे सघर्ष छिड गया। किन्तु विष्णु के दूत बलवान् थे, अत उन्होने यम-दूतो को भगा दिया और वेश्या को स्वर्ग मे ले गए। इस कथानक की पुष्टि मे कहा भी गया है —

"सुआ पढावत गणिका तारी।"

इसी तरह किसी तीर्थ मे पहुँचने मात्र से यदि स्वर्ग मिल जाए तो फिर कोई कर्त्तव्य क्यो करे ? मुँह से भगवान् का जरा नाम ले लिया और स्वर्ग मे सीट रिजर्व हो गई ! बस, छुट्टी पाई, कैसा सीधा और सस्ता उपाय है। धर्म और स्वर्ग जब इतने सस्ते हो गए हो, तब कौन उनके लिए बडा मूल्य चुकाए ? क्यो प्रबल पुरुषार्थ किया जाए ? साधना का सकट भी कौन झेले ?

मानव-समाज मे यह जो भ्रमपूर्ण धारणा फैली हुई है,

उसी का यह परिणाम हुआ कि पवित्रता स्वयं नीचे गिर गई और पवित्रता के स्थान पर मनुष्यों के हृदयों में, अहंकार, द्वेष, घृणा आदि विकार पैदा हो गए। इसके लिए भगवान् महावीर स्पष्ट शब्दों में कहते हैं —

भणन्ता अकरेन्ता य, बन्ध-मोक्ख पइण्णिणो।
वायावीरियमित्तेण, समासासेन्ति अप्पयं॥
न चित्ता तायए भासा, कुओ विज्जाणुसासणं।
विसन्ना पाव-कम्मेहिं, बाला पंडियमाणिणो॥

— उत्तराध्ययन ६, ९-१०।

अर्थात्—"तुम जो संस्कृत-भाषा और प्राकृत-भाषा आदि के मनचाहे फव्वारे अपने मुख में छोड़ रहे हो और यह समझ भी रहे हो कि इनका पाठ कर लेने मात्र से ही मोक्ष मिल जायगा, वस्तुतः यह एक भ्रान्ति के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। सारे संसार की नाना प्रकार की विद्याएँ और भाषाएँ सीख लेने पर भी तुम्हारा परित्राण नहीं हो सकता। यदि तुम कल्याण चाहते हो और निर्वाण पाने की उत्कट अभिलाषा भी रखते हो तो तुम्हें सदाचरण करना पड़ेगा। एक उदाहरण देखिए—

कोई बीमार किसी वैद्य से एक नुस्खा लिखवा लाए, जिसमें उत्तम से उत्तम औषधियाँ लिखी हों और उसे सुबह-शाम पढ़ लिया करे, तो क्या उसकी बीमारी दूर हो जाएगी? नहीं, नुस्खा पढ़ लेने मात्र से बीमारी दूर नहीं हो सकती। यदि कहीं ऐसा पाया जाए तब तो यह भी माना जा सकता है कि शास्त्रों के पाठ रट लेने और उगल

देने से ही पवित्रता प्राप्त हो जाएगी। किन्तु ऐसा होना कभी सम्भव नही है, और न होगा ही। एक साधक ने कहा है—

कायेनैव पठिष्यामि वाक्पाठेन तु किं भवेत् ?
चिकित्सापाठमात्रेण, न हि रोग शम व्रजेत् ॥

—बोधिचर्यावतार

अर्थात्—जो भी शास्त्र मुझे पढना है, उसे मै जीवन से पढूँगा, केवल जीभ से ही नही पढूँगा। भला, जिह्वा के उच्चारण मात्र से क्या होने वाला है ? आयुर्वेद की पुस्तको के रट लेने और चरक तथा सुश्रुत को सीख लेने मात्र से कोई नीरोग नही हुआ है। हजार वर्ष तक रटते रहिए तब भी उससे साधारण-सा बुखार और जरा-सा सिर-दर्द भी दूर नही होगा, उल्टा शरीर गलता जायगा और सड़ता जायगा।

जैसे इस बात को हम सभी भली-भाँति समझते है कि आयुर्वेद को कण्ठस्थ कर लेने मात्र से रोग दूर नही होता। यही बात ससार के धर्म-शास्त्रो के सम्बन्ध मे भी समझनी चाहिए। जितने भी धर्म-शास्त्र है, सब हमारी चिकित्सा करने के लिए ही है। जिस प्रकार आयुर्वेद से शरीर की चिकित्सा-विधि जानी जाती है, उसी प्रकार धर्म-शास्त्र से मन और आत्मा की चिकित्सा होती है। हमारे भीतर जमी हुई वासना और विकार ही मन और आत्मा की बीमारी है। किसी को क्रोध की, किसी को मान की, किसी को माया की, और किसी को लोभ की विभिन्न बीमारियाँ सता रही है। किसी भी धर्म-शास्त्र को ले

लीजिये, उसमे इन सभी बीमारियो की चिकित्सा का समुचित विधान है, परन्तु उन शास्त्रो को पढ लेने मात्र से कुछ भी हाथ लगने वाला नही है। शास्त्रो को व्यावहारिक जीवन मे उतारने से ही लाभ हो सकता है। हरिश्चन्द्र की कहानी पढने या सुनने मात्र से सत्यवादी नही बना जा सकता, किन्तु हरिश्चन्द्र के सत्याचरण का अनुसरण करने से ही सत्यवादी बन सकगे।

आपने सुदर्शन की कथा तो सुनी होगी ? भला, उसने अपने जीवन की पवित्रता के लिए क्या नही किया ? सती सीता और सती मदनरेखा ने कितनी आपत्तियाँ सहन की ? फिर भी वे सही रास्ते को पकडे रहे और उसी रास्ते पर दृढता के साथ कदम बढाते गए ! इसीलिए वे इतिहास के पृष्ठो मे आज भी अमर है।

अभिप्राय यह है कि जीवन की उच्चता और पवित्रता की मजिल पर जो भी पहुँच चुके है और जिनकी स्तुति तथा आराधना करके हम अपने आपको आज भाग्यशाली समझते है वे केवल पुरुषार्थ के द्वारा ही महान् बने थे। बडी-बडी साधनाओ के बल पर ही उन्होने सफलता पाई थी। वे अहिसा और सत्य के आदर्श आचरण के द्वारा ही महत्ता, गुरुता, उच्चता और पवित्रता को प्राप्त कर सके थे। जन्म से किसी को पवित्रता और उच्चता प्राप्त नही हुई, और हो भी कैसे सकती है ? साधना के सिवाय महत्ता प्राप्त करने का और कोई मार्ग नही है।

जो लोग अमुक कुल मे जन्म लेने मात्र से पवित्रता

प्राप्ति के भ्रम मे है, वे अपने आपको और दूसरो को भी धोखे मे रखते है। जो धन को ही उच्चता प्राप्त करने का साधन मानते है, वे भी गलत मार्ग पर चल रहे है। इन गलत विचारो का नतीजा यह हुआ है कि समाज मे से उच्च चारित्र का प्राय लोप-सा हो गया और जन-जीवन से सदाचार और सत्य के चिन्ह भी धूमिल हो गए है। आज एक ही व्यापक मनोवृत्ति सर्वत्र दिखाई दे रही है और वह यह कि—यदि बडा बनना है तो खूब धन कमाओ, तिजोरियाँ और तहखाने भरो ! जो जितनी बडी धन-राशि का स्वामी होगा, उतना ही बडा माना जायगा !! इस तरह परमात्मा की उपासना का तो केवल नाम रह गया और सर्वत्र धन की उपासना होने लगी। चाहे न्याय से मिले या अन्याय से, किसी की जेब काटने से मिले या गला घोटने से, बस, धन मिलना चाहिये। यदि धन मिल गया तो बडप्पन मिल गया। समाज मे और बिरादरी मे सम्मान बढ गया और ऊँचा आसन भी प्राप्त हो गया। इस प्रकार धन ने आज भगवान् का आसन छीन लिया है और पूँजी ने प्रभु का रूप धारण कर लिया है। वस्तुत भगवान् का नाम लेकर लोग धन की ही उपासना मे लीन हो रहे है।

औरो की बात जाने भी दीजिए, अपने समाज की शिक्षा सस्थाओ की तरफ ही दृष्टि डालिए। समाज मे जो गुरुकुल, विद्यापीठ, विद्यालय या विश्वविद्यालय चल रहे है, उनका मुख्य उद्देश्य विद्या-प्रसार के द्वारा अविद्या का उन्मूलन करना है, जिससे कि मानव-समाज सभी प्रकार के दुराचार-

जन्य सामाजिक अपवादो से सर्वथा मुक्त होकर मनुष्यत्व की अभिवृद्धि, व्यक्तित्व का विकास तथा चारित्र का निर्माण कर सके। सत्-शिक्षा के द्वारा जब मनुष्य तथाकथित सद्गुणो का समुचित सग्रह कर लेता है, तब उसकी अन्त प्रेरणा धार्मिक अनुष्ठान की ओर स्वत प्रेरित हो जाती है। परन्तु उनके प्रबन्ध-अधिकारी भी धन की पूजा से ऊँचे नही उठ पाते। जब कभी इन शिक्षा-सस्थाओ मे कोई उत्सव या समारोह होता है तो सर्वप्रथम पूँजीपतियो की तरफ ही अधिकारी वर्ग की याचक-दृष्टि दौडती है। सभापति बनाने मे शिक्षा-ज्ञान को कोई मापदण्ड नही बनाएगा। यह जानने की कोई परवाह भी नही करेगा कि वह जनता को क्या देने चला है या सिर्फ धन की ही आग लेकर खडा है! बडप्पन की नाप-तौल का आज एकमात्र मापक धन रह गया है। जिसके पास ज्यादा धन है, वही ज्यादा बडा है। हजार बार प्रयत्न करके शिक्षा-सस्थाओ के अधिकारी उसी धनिक के पास जाएँगे, उसे ही सभापति बनाएँगे। उसके आचरण के सम्बन्ध मे कुछ मालूम ही नही करेगे और यहाँ तक कि उसके सम्पूर्ण दुराचरणो पर पर्दा डाल देगे, उसके समस्त दुर्गुणो को फूलो के ढेर से ढँक देने की भरसक कोशिश करेगे।

परन्तु दुर्गुणो की दुर्गन्ध क्या कभी प्रशसा के फूलो की सुगन्ध से पवित्र हो सकती है? ऐसा सोचना भी जड-बुद्धि का परिचायक है। गहराई से विचार कीजिए कि एक जगह मैला पडा है। किसी ने उसे फूलो से ढँक दिया है। थोडी-सी देर के लिए दुर्गन्ध भले ही छिप गई है, किन्तु आखिर तक

नही छिपी रहेगी और वह गन्दगी फूलो को भी गन्दा करके ही रहेगी। सदाचार-विहीन व्यक्ति के विषय मे भी यही बात है। फिर जो व्यक्ति दुराचारी है ही, उसे केवल धन की बदौलत सम्मान देकर और उसके अभिनन्दन मे मानपत्र भेंट करके आप भले ही सातवे आसमान पर चढा दे किन्तु इससे वह अपनी या समाज की भलाई नही कर सकेगा। वह उस सम्मान को पाकर अपने दुर्गुणो के प्रति अरुचि और असन्तोष अनुभव नही करेगा, अपने दोषो को घृणा की दृष्टि से नही देखेगा, उनके परित्याग के लिए भी तत्पर नही होगा, अपितु अपने दोषो के प्रति उत्तरोत्तर सहनशील ही बनता जाएगा। इस प्रकार यदि उसके दोषो को और आचरण हीनता को प्रकारान्तर से प्रतिष्ठा मिलेगी तो समाज मे वे दोष घर कर जाएँगे।

कथन का आशय यही है कि आज समाज मे व्यक्तित्व को नापने का मापक 'पैसा' बन गया है। जिसके पास जितना अधिक 'पैसा' है, वह उतना ही बडा आदमी है। साधारण आदमी, जिसके पास पैसा नही है, किन्तु जीवन की अपेक्षित पवित्रता है, अच्छे विचार हैं और विवेक-बुद्धि है, क्या उसे कभी कुर्सी पर बैठे देखा है? सभापति बनते देखा है? समाज मे आदर पाते देखा है? यह बात रहस्यपूर्ण इसलिए है कि समाज मे 'धन' की कसौटी पर ही बडप्पन को परखा जाता है और सदाचारी निर्धन की कोई पूछ नही होती।

मैने तो अनेक बार देखा है और आए दिन इस तरह की अशोभनीय घटनाएँ हर कोई भी देख सकता है। एक

व्यक्ति के घर मे सुन्दर और सुलक्षणी पत्नी मौजूद है, सारी व्यवस्था है और गृहस्थी की गाडी भी ठीक-ठीक चल रही है, किन्तु उसने किसी तरह पैसा कमा लिया तो तुरन्त दूसरा विवाह कर लिया। समाज मे कुछ हलचल हुई तो किसी सभा या समिति को दस-बीस हजार रुपया फेंककर सभापति बन गये। बस, सारी काली करतूतो पर कलदार (धन) की सफेद कलई पुत गई और समस्त दुर्गुण छिप गए। समाज के वायुमडल मे जितनी हवाएँ उसके प्रतिकूल चल रही थी, सब अनुकूल दिशा मे बहने लगी और उसे वही पहले-सा आदर सम्मान मिलने लगा। उसकी पहली पत्नी अपनी आज की दशा पर कोने मे बैठी किस तरह आँसू पोछ रही है और उसकी क्या व्यवस्था चल रही है। उधर दूसरी पत्नी क्या-क्या गुल खिला रही है, इन सब बातो को अब कोई नही पूछता।

तो अभिप्राय यही है कि आज मनुष्य के सामने उच्चता को नापने का मापक केवल धन रह गया है। जिसने धन कमा लिया, वही श्रेष्ठ बन गया। धन यदि न्याय से प्राप्त किया जा सकता है तो अन्याय से भी प्राप्त किया जाता है। पर, क्या सद्बुद्धि और सदाचार भी कभी अन्याय से प्राप्त किया जा सकता है? इन्हे प्राप्त करने का एक ही मार्ग है और वह है काँटो का मार्ग। जो अपने जीवन को जितना-जितना इस कठिन मार्ग पर बढाता जायगा वह उतना ही ऊँचा उठता जायगा। सत्य और सदाचार की राह पर जाने वालो को शूली की सेज मिलेगी और उन्हे अपना सारा जीवन काँटो का मार्ग तय करने मे ही गुजारना पडेगा।

आमतौर से जब कोई अपरिचित व्यक्ति सामने आता है तो यह प्रश्न किया जाता है—कौन है आप ? वह शीघ्र ही उत्तर देता है—ब्राह्मण हूँ, या क्षत्रिय हूँ, या वैश्य हूँ, या अग्रवाल अथवा ओसवाल हूँ। परन्तु मै यह पूँछता हूँ कि तुम जो अपने को ब्राह्मण आदि कहते हो तो यह ब्राह्मण-पन आदि क्या आपकी आत्मा के साथ अनादिकाल से चला आ रहा है ? क्या यह क्रम अनन्त-काल तक इसी तरह चलता जायगा ? और जब मोक्ष प्राप्त होगा तो जाति की इन गठरियो को क्या वहाँ भी सिर पर लाद कर ले जाओगे ?

यद्यपि वैदिक धर्म जाति-पाँति का प्रमुख समर्थक समझा जाता है, पर वहाँ भी हमे ऐसे उदात्त विचार प्रचुर मात्रा मे मिलते है जिनमे जाति या वर्ण की निस्सारता प्रकट की गई है। गुरु और शिष्य का एक छोटा-सा सवाद वहाँ आता है।

ससार-सागर से पार जाने की इच्छा रखने वाला कोई मुमुक्षु शिष्य किसी गुरु के पास जाता है। गुरु उससे पूछते है—सौम्य, तुम कौन हो ? और क्या चाहते हो ?

शिष्य—मै ब्राह्मण का पुत्र हूँ। अमुक वश मे मेरा जन्म हुआ है। मै ससार-सागर से तिरना चाहता हूँ।

गुरु—वत्स, तुम्हारा शरीर तो यही भस्म हो जायगा, फिर ससार-सागर से किस प्रकार तिरोगे ? नदी के इसी किनारे पर जो भस्मीभूत हो गया हो, फिर वह तिरकर उस किनारे पर कैसे पहुँच सकता है ?

गुरु के इस प्रकार कहने पर शिष्य का ध्यान आत्मा

की ओर उन्मुख हुआ। उसने कहा—देव, मैं अलग हूँ और शरीर अलग है। मृत्यु आने पर शरीर ही भस्म होता है। मैं अर्थात्—आत्मा नही, क्योंकि वह तो नित्य है। वह भस्म नही होगा। केवल शरीर ही जन्मता है, मरता है और वह मिट्टी भी बन जाता है। शस्त्र उसे छेद सकते है, अग्नि उसे जला सकती है, पर आत्मा तो सनातन है। जिस प्रकार पक्षी घोंसले मे रहता है, उसी प्रकार मै (आत्मा) भी इस शरीर मे रहता हूँ। जैसे पक्षी एक घोंसला छोडकर दूसरे घोंसले मे रहने लगता है, मै भी एक शरीर को छोडकर दूसरे शरीर मे प्रवेश करता हूँ। केवल शरीर ही आते और जाते रहते हैं, किन्तु मै (आत्मा) ज्यो का त्यो अविचल रहता हूँ।

इस प्रकार शिष्य ने जब शरीर और आत्मा का स्पष्ट भेद समझ लिया तो गुरु कहते है—वत्स, तुम ठीक कहते हो। तुम शरीर नही, वस्तुत आत्मा हो। तुम घोंसला नही, वास्तव मे पक्षी हो। फिर तुमने पहले मिथ्या भाषण क्यो किया था कि मै ब्राह्मण हूँ और अमुक वश मे मेरा जन्म हुआ है ?

अन्त मे शिष्य भली-भाँति समझ जाता है कि—'मै ब्राह्मण हूँ'—यह विचार गलत है और जब तक जाति का अभिमान बना रहेगा, तब तक आत्मा ससार-सागर से नही तिर सकता।

हमारे यहाँ भी जाति और कुल के मद को त्याज्य बतलाया गया है और जब तक इनका मद दूर नही होता,

तव तक साधक की दृष्टि सम्यक् नही हो सकती। परन्तु इस तथ्य को साधारण जनता कब समझती है ?

कहा जा सकता है कि जैन-धर्म अनेकान्तवादी धर्म है। वह जात-पॉत को भी मोक्ष का कारण मान सकता है। पर ऐसा कहना अनेकान्तवाद की मजाक वनाना है। क्या अनेकान्तवाद यह भी सिद्ध कर देगा कि आदमी के सिर पर सीग होते भी है और नही भी होते है ? और मै कहूँ कि नही होते तो क्या मुझे एकान्तवादी बताया जायगा ? यदि कोई मुझसे यह प्रश्न करे कि साधु के लिए व्यभिचार करना अच्छा है या बुरा है ? तो क्या आप यह चाहेगे कि यहाँ भी मै आपके अनेकान्तवाद का आश्रय लेकर कहूँ कि व्यभिचार करना अच्छा भी है और बुरा भी है ? यदि कोई साधु पैसा रखता है और मै कहता हूँ कि यह गलत चीज है तो क्या आप वहाँ भी अपने अनेकान्तवाद का प्रदर्शन करेगे ?

वास्तव मे अनेकान्तवाद का सिद्धान्त 'सच' और 'झूठ' को एक रूप मे स्वीकार कर लेना नही है। जिन महापुरुषो ने अनेकान्त की प्ररूपणा और प्रतिष्ठा की है, उनका आशय यह नही था। उन्होने अनेकान्तवाद को भी अनेकान्तवाद कहकर इस प्रकार स्पष्ट कर दिया है कि हम 'सम्यक् अनेकान्त' को तो सहर्ष स्वीकार करते है, किन्तु मिथ्या 'अनेकान्त' को स्वीकार नही करते। इसी प्रकार 'सम्यक् एकान्त' को भी स्वीकार करते हैं, किन्तु 'मिथ्या एकान्त' को अस्वीकार करते है।

"अनेकान्तोऽप्यनेकान्त प्रमाणनय-साधन ।
अनेकान्त' प्रमाणात् ते, तदेकान्तोऽर्पितान्नयात् ॥"
—आचार्य समन्तभद्र

आप प्रश्न कर सकते है कि यदि जैन-धर्म मे जाति और कुल का अपने आप मे कोई महत्व नही है तो शास्त्र मे "जाइसपन्ने" और "कुलमपन्ने" पाठ क्यो आए है ? इस प्रश्न पर हमे अपनी सूक्ष्म बुद्धि और विवेक शीलता के साथ विचार करना है ।

"जाइसपन्ने" और "कुलसपन्ने" का अर्थ यह है कि सस्कार और वातावरण मे कोई 'जातिसपन्न' और 'कुलसपन्न' हो भी सकता है । कोई जाति ऐसी होती है, जिसका वातावरण प्रारम्भ से ही ऐसा बना रहता है कि उस जाति मे उत्पन्न होने वाला व्यक्ति मांस नही खाता और मदिरा-पान नही करता । ऐसी जाति मे यदि कोई प्रगति तथा विकास करना चाहता है तो वह जल्दी आगे बढ सकता है, क्योकि उसे प्राथमिक तैयारी के उपयोगी साधन अपने समाज के वातावरण मे ही मिल जाते है । फिर भी यह ध्यान रखना आवश्यक है कि ऐसे व्यक्ति का वह महत्व मॉस न खाने और मदिरा न पीने के ही कारण है, उस जाति मे जन्म लेने से नही । कुछ व्यक्ति ऐसे भी मिल सकते है, जो मांस-मदिरा का सेवन न करने वाली जाति मे जन्म लेकर भी सगति-दोष से मॉस-मदिरा का सेवन करने लगते है । उनके लिए जाति का प्रश्न कोई महत्व नही रखता है ।

यह समझना निरी भूल है कि केवल वातावरण के द्वारा

ब्राह्मण का लडका विना पढे ही सस्कृत का ज्ञाता बन सकता है। हजारो ब्राह्मण ऐसे भी है जो पथ-भ्रष्ट होकर दर-दर भटक रहे है और प्रथम श्रेणी के वज्र-मूर्ख है। उनमे शूद्र के बराबर भी सस्कृति, सदाचार और ज्ञान नही है। इससे यही निष्कर्ष निकलता है कि जातिगत वातावरण या सस्कार एक सीमा तक ही व्यक्ति के विकास मे सहायक होते है, किन्तु सर्वाङ्ग मे नही।

वहुतेरे ओसवाल, अग्रवाल और जन्म के जैन अनुकूल वातावरण न मिलने के कारण गॉव के गॉव दूसरे धर्मों के अनुयायी हो गए। जब हम वहॉ पहुँचे तो मालूम हुआ कि तीस-तीस वर्ष हो गए, और जैन-धर्म का कोई उपदेशक वहॉ पहुँचा ही नही। उन्हे जैसा वातावरण मिला, विवश होकर वे वैसे ही बन गए। अब आप विचार कीजिए कि जब उनमे भी जाति के सस्कार आ रहे थे, फिर वे कहाँ भाग गए? वास्तव मे उन्हे जातीय सस्कार तो मिले थे, किन्तु अनुकूल वातावरण न मिलने के कारण वे पथ-भ्रष्ट होने के लिए विवश हुए।

इसके विपरीत किसी भी जाति मे मनुष्य का जन्म क्यो न हुआ हो, यदि वातावरण अनुकूल मिल जाए तो मनुष्य प्रगति कर लेता है। इस प्रकार जाति को कोई महत्व नही दिया जा सकता है, क्योकि हड्डी, मॉस और रक्त मे कोई फर्क नही है। वह तो प्रत्येक जाति मे एक समान ही होता है।

आइए, अब तनिक जैन-धर्म की बारीकी मे भी चले।

जैन-धर्म के अनुसार दया, अहिंसा या कोई दूसरे पवित्र गुण हड्डियों मे रहते है या आत्मा मे ? और एक जाति मे जन्म लेने वाले सब आत्मा यदि एक-से सद्गुणों मे सम्पन्न है तो उनमे विभिन्नता क्यो दिखाई देती है ? पवित्र जाति में जन्म लेने वाले सब आत्मा पवित्र क्यो नही होते ? और जाति-भेद के कारण जिसे अपवित्र कहते हैं, उस जाति मे जन्म लेने वाले सभी व्यक्ति अपवित्र क्यो नही होते ? महात्मा हरिकेशी जाति से चाण्डाल थे। उन्हे अपने माता-पिता से कौन-से उच्च संस्कार मिले थे ? क्या वे हड्डियों मे पवित्रता लेकर जन्मे थे ? नही, उनके जीवन का मोड चिन्तन, मनन और सुन्दर वातावरण से हुआ, जन्मगत जातीय संस्कारो से नही। वास्तव मे मनुष्य वातावरण से बनता है और वातावरण से ही बिगडता भी है। मनुष्य के उत्थान और पतन के लिए यदि किसी को महत्व दिया जा सकता है तो वह 'वातावरण' ही है। जातिगत जन्म के आधार पर पवित्रता या अपवित्रता मानना बहुत बडी भूल है।

जैन-धर्म की परम्परा मे हम देखते है कि शूद्र भी साधु बन सकता है और वह आगे का ऊँचा से ऊँचा रास्ता भी तय कर सकता है। सैकडो शूद्रो को मोक्ष प्राप्त होने की कथाएँ हमारे यहाँ आज भी मौजूद है। कथन का अभिप्राय यही है कि हजारो ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य साधु बनकर भी जीवन की पवित्रता कायम नही रख सके, और फलत पथ-भ्रष्ट हो गए तो फिर 'जाइसपन्ने' होने से भी क्या लाभ

हुआ ? इसके विपरीत हरिकेशी और मेतार्य जैसे शूद्र पवित्र एव अनुकूल वातावरण मे आकर यदि जीवन की पवित्रता प्राप्त कर सके और मुक्ति के अधिकारी भी बन सके तो 'जाइसपन्ने' न होने पर भी कौन-सी कमी उनमे रह गई ? जैन-धर्म किस को वन्दनीय और पूजनीय मानता है ?

'जाइसपन्ने' और 'कुलसपन्ने' पदो मे जाति और कुल का अर्थ वह नही है, जिसे आजकल सर्व साधारण लोग जाति और कुल के रूप मे समझते है । ओसवाल या अग्रवाल आदि टुकडे शास्त्र मे जाति नही कहलाते । शास्त्र मे जाति का अर्थ है—'मातृ-पक्ष' , और कुल का अर्थ है—'पितृ-पक्ष' । इस सम्बन्ध मे कहा भी है—

"जातिर्मातृपक्ष , कुल पितृपक्षः ॥'

अर्थात्—माता के यहाँ का वातावरण अच्छा होना चाहिये । जिस माता के यहाँ सुन्दर वातावरण होता है, उसके बालक का निर्माण सुन्दर होता है । जिस प्रकार माता के उठने-बैठने, खाने-पीने और बोलने आदि प्रत्येक कार्य का बच्चे पर अवश्य ही असर पडता है, इसी प्रकार कुल अर्थात्—पितृ-पक्ष का वातावरण भी अच्छा होना चाहिए । जिस बालक के मातृ-पक्ष और पितृ-पक्ष का वातावरण ऊँचा, पवित्र और उत्तम होता है, वह बालक अनायास ही अनेक दुर्गुणों से बचकर सद्गुणी बन सकता है ।

हालाँकि एकान्त रूप से यह नही कहा जा सकता कि ऐसा बालक सद्गुणी ही होगा । कई जगह अपवाद भी पाए जाते है । फिर भी आमतौर पर यह होता है कि जिस बालक

के माता और पिता का पक्ष सुन्दर, सदाचारमय वातावरण से युक्त होता है और जिसे दोनों तरफ से अच्छे विचार मिलते हैं, वह जल्दी प्रगति कर सकता है और वही 'जाति-सम्पन्न' तथा 'कुलसम्पन्न' कहलाता है।

जैसा कि मैं पहले कह चुका हूँ कि यह एक व्यावहारिक बात है। इसके लिए ऐसा कोई सुनिश्चित नियम नहीं है कि जिसकी जाति, अर्थात्—मातृ-पक्ष (अर्थात्—ननिहाल) उत्तम वातावरण वाला है, उसका व्यक्तित्व उत्तम ही होगा, और जिसका मातृ-पक्ष गिरा हुआ होगा, उसका व्यक्तित्व भी गिरा हुआ ही होगा। किसी बालक और युवा पुरुष का व्यक्तित्व इतना प्रबल और प्रभावशाली होता है कि उस पर मातृ-पक्ष और पितृ-पक्ष का कोई प्रभाव नहीं पड सकता। वह स्वय ही अच्छे या बुरे वातावरण का निर्माण कर लेता है। इस प्रकार कभी-कभी उल्टे पासे भी पड जाते है। बहुतेरे ऐसे व्यक्ति भी होते है कि उनके लिए चाहे कैसा ही वातावरण तैयार किया जाए, वे उसमे आते ही नही, अपितु सदैव उसके प्रतिकूल ही चलते है।

हिरण्यकश्यप ने प्रह्लाद को बदलने के लिए भरसक प्रयत्न किये थे ? उसने सोचा था कि जैसा नास्तिक और राक्षस मे हूँ, प्रहलाद को भी वैसा ही बना लूँ। इसे ईश्वर का नाम सुनने को भी न मिले। इसके लिए हिरण्यकश्यप ने कितना अथक प्रयत्न किया ? किन्तु प्रहलाद ऐसे प्रगाढ सस्कार लेकर आया था कि वह बदल नही सका, उसकी ईश्वर-भक्ति मे कोई दखल नही दे

सका और वह अपनी दिशा की ओर निरन्तर बढता ही गया। इस प्रकार प्रह्लाद उस दैत्य के कुल मे देवता के रूप मे आया था। उग्रसेन के यहाँ कस का जन्म लेना प्रहलाद के सर्वथा विपरीत उदाहरण है। कस के समान और भी अनेक व्यक्ति ऐसे हुए है, जिनके माता-पिता के यहाँ का वातावरण बहुत उत्तम रहा, उत्तमता बनाए रखने के लिए अथक प्रयत्न भी किए गए, किन्तु फिर भी ऐसे बालको ने जन्म लिया कि उन्होने अपने आचरण से सब को अपवित्र बना दिया और अपनी जाति और कुल के उज्ज्वल मस्तक पर कालिमा पोत दी।

अस्तु, अभिप्राय यही है कि मातृ-पक्ष (ननिहाल) और कुल (पितृ-पक्ष) का वातावरण यदि पवित्र है तो व्यक्ति जल्दी प्रगति कर सकता है। यही 'जातिसम्पन्न' और 'कुलसम्पन्न' का रहस्य है।

शास्त्र मे जीवो का वर्गीकरण करने के लिए भी 'जाति' शब्द का प्रयोग किया गया है। जिसके अनुसार शास्त्रकारो ने ससार के समस्त जीवो को पाँच जातियो मे विभक्त किया है। वे जातियाँ है—एकेन्द्रिय-जाति, द्वीन्द्रिय-जाति, त्रीन्द्रिय-जाति, चतुरिन्द्रिय-जाति और पचेन्द्रिय-जाति। शास्त्र के इस वर्गीकरण के हिसाब से प्रत्येक मनुष्य, चाहे वह ब्राह्मण हो या शूद्र हो, एक ही पचेन्द्रिय-जाति मे आता है।

इस प्रकार जब शास्त्रीय दृष्टिकोण से विचार किया जाता है तो मनुष्य-मनुष्य के बीच कोई भेदभाव नही रह जाता। फिर भी कुछ लोगो ने एक वर्ग को जन्म से ही

पवित्र और श्रेष्ठ समझ लिया है, चाहे उसका आचरण कितना ही निम्न स्तर का क्यो न हो। दूसरे वर्ग को जन्म से ही अपवित्र और नीच मान लिया गया है, चाहे उसका आचरण कितना ही उत्तम क्यो न रहा हो। इस प्रकार जो वाछनीय उच्चता सदाचार मे रहनी चाहिए थी, उसे जाति या वर्ण मे कैद कर दिया गया है। वस्तुत यही 'सामाजिक हिसा' है। इस प्रकार की सामाजिक हिसा व्यक्ति की हिसा से किसी भी अश मे कम भयानक नही है। आज भी अधिकाश लोग इस हिसा के शिकार देखे जाते है। जब आप हिसा के स्वरूप का विचार करे तो इस 'सामाजिक हिंसा' को न भूल जाएँ।

—: ३ :—

मानवता का भीषण कलंक

यह पहले बतलाया जा चुका है कि 'अहिसा' का रूप बहुत व्यापक है। वैयक्तिक, सामाजिक और राष्ट्रीय जीवन के विविध रूपो मे हिसा परिलक्षित होती है। जिस किसी भी क्षेत्र मे और जिस किसी भी रूप मे, जो भी ज्ञात या अज्ञात, सूक्ष्म या स्थूल, बाह्य या आन्तरिक हिसा हो रही है, उस क्षेत्र मे और उस रूप मे हिसा का व्यापक विरोध, प्रतिरोध एव निरोध होना ही 'अहिसा' है। इस दृष्टिकोण से देखने पर भली-भाँति ज्ञात हो सकेगा कि अहिसा का स्वरूप बहुत व्यापक है और उसके रूप भी अनेक है। यही कारण है कि पिछले दिनो मैने अहिसा को अनेक वर्गो मे विभक्त करके आपके समक्ष प्रस्तुत किया है। अहिसा के विराट स्वरूप का चिन्तन करते हुए यह तो सभव नही है कि उस पर पूर्ण प्रकाश डाला जा सके। फिर भी जब हमने अहिसा के महत्व को स्वीकार किया है, उसके औचित्य को अपने जीवन का आदर्श माना है, और उसकी परिधि मे रहकर ही जीवन-व्यवहार चलाने का सत्य सकल्प किया है,

साथ ही यह भी मान लिया है कि अहिंसा के द्वारा ही व्यक्ति, समाज और विश्व का त्राण सभव है, तो हम पर यह कर्त्तव्य और दायित्व आ जाता है कि हम अधिक से अधिक गहराई मे उतर कर अहिंसा को समझे और दूसरो को भी समझाएँ।

अहिंसा को भली-भाँति समझाने के लिए पहले हमे उसके दो रूपो पर विचार करना होगा। उन मे से एक रूप वह है, जिसे हम 'आन्तरिक' कह सकते है। तात्पर्य यह है कि एक हिंसा वह होती है—जो क्रोध, मान, माया, लोभ, एव वासना के रूप मे भीतर ही भीतर सुलगती रहती है। हम अपने ही कुप्रयत्नो मे अपने आत्मा की हत्या करते रहते है। इस सम्बन्ध मे एक उदाहरण लीजिए—एक व्यक्ति दूसरे के बडप्पन को नही सह सकता है। वह मन ही मन उसे देखकर जलता है और उस जलन मे वह अपनी ही हिंसा कर लेता है। यदि किसी के सद्गुणो को देखता है और किसी की प्रशसा सुनता है, तो भी वह मन ही मन मे जलता है और अपने अहम् भाव मे दूसरे के सद्गुणो को स्वीकार नही करता। इतना ही नही, बल्कि वह दूसरे के सद्गुणो से घृणा भी करता है। ऐसा करने वाला एक प्रकार से अपनी आत्म-हत्या ही कर रहा है।

जब कोई आदमी बदूक या पिस्तौल से अपने को गोली मार लेता है तो यह समझा जाता है कि आत्म-हत्या की गई है, परन्तु वह तो शरीर की हत्या है, आत्मा की नही। किन्तु मनुष्य जब किसी बुराई को अपने

अन्दर डाल लेता है और उसी मे निरन्तर गलता है और सडता रहता है तो यह बदूक या पिस्तौल से गोली मार लेने की अपेक्षा भी बहुत बडी हिसा है, क्योकि यह बुराई हमारे सद्गुणो का सर्वनाश कर डालती है। इस प्रकार भीतर ही भीतर होने वाली हिसा 'आन्तरिक' है और यह भाव-हिसा का परिचायक है ।

हिसा का दूसरा रूप 'बाह्य' (बाहरी) है। वास्तव मे हमारे अन्दर की ही बुराई बाहर की हिंसा को प्रेरित करती है।

इस प्रकार जैन-धर्म के अनुसार हिसा के दो नाले है, दो प्रवाह है। एक अन्दर ही प्रवाहित रहता है, और दूसरा बाहर। हिसा को यदि अग्नि कहा जाय तो समझना चाहिए कि हिसा की अग्नि भीतर भी जल रही है, और बाहर भी।

यदि इस दृष्टिकोण को सामने रखकर विचार करते है तो अहिसा का सिद्धान्त बहुत व्यापक प्रतीत होता है। किन्तु यह जितना व्यापक है, उतना ही जटिल भी है। जो सिद्धान्त जितना अधिक व्यापक बन जाता है वह प्राय उतना ही अटपटा भी हो जाता है और साथ ही उलझ भी जाता है। यही कारण है कि जीवन-क्षेत्र मे कभी-कभी अहिसा के सम्बन्ध मे भाँति-भाँति की विचित्र भ्रान्तियाँ देखी जाती है। जिसका परिणाम यह होता है कि लोग कभी हिसा को अहिसा, और अहिसा को हिसा समझ बैठते है। इस प्रकार की भ्रान्तियो ने प्राचीन काल मे और आधुनिक काल मे भी अनेक प्रकार के मतमतान्तरो को जन्म दिया है। जहाँ

सेवा है, अहिंसा है, करुणा एवं दया है, दुर्भाग्य से वहाँ हिंसा समझी जा रही है और एकान्त पाप समझा जा रहा है। वस्तुस्थिति यह है कि सिद्धान्त के अनुसार जो वास्तविक 'अहिंसा' है, उसी को मनुष्य के भ्रान्त मन ने 'हिंसा' समझ लिया है।

इसके विपरीत कभी-कभी ऐसा भी होता है कि हिंसा हो रही है, बुराई पैदा हो रही है और गलत काम से किसी को दुःख और कष्ट पहुँच रहा है, और फलस्वरूप दूसरे प्राणियों के अन्दर प्रतिहिंसा की प्रतिशोधनकारी लहर पैदा हो रही है, किन्तु दुर्भाग्य से उसे 'अहिंसा' का नाम दिया गया है। यही कारण है कि जब धर्म के नाम पर या जात-पाँत के नाम पर हिंसा प्रदर्शित होती है तो उसे हम अहिंसा समझ लेते हैं। इस तरह मानव-जाति का चिन्तन इतना उलझ गया है कि कितनी ही बार हिंसा के कार्यों को अहिंसा का, और अहिंसा के कार्यों को हिंसा का रूप दिया गया है।

इस प्रकार हिंसा और अहिंसा-सम्बन्धी उलझनें होने पर भी हमें आखिर विचार तो करना ही होगा। बल्कि ये मुख्य उलझनें हैं, इसलिए इस विषय में क्रमशः विचार करना और भी महत्त्वपूर्ण हो जाता है। हम इन विचारों को अपने आप में सोच लेना चाहते हैं। हालाँकि हमारी बुद्धि बहुत सीमित है, किन्तु जहाँ तक शास्त्रों का सत् सहयोग काम देता है और हमारा चिन्तन-मनन हमारी सहायता करता है, वहाँ तक तो हमें आगे बढ़ना ही चाहिए।

इसके विपरीत यदि हम शास्त्रो का सहारा न लेकर केवल अपनी बुद्धि और शुष्क तर्क के बल पर ही खडे हो गए तो हमे न तो शास्त्रो का ही उचित ज्ञान रहेगा और न अपना ही पता रहेगा और न हम देश तथा समाज के प्रति भी अपने कर्त्तव्य का पूर्ण रूपेण पालन कर सकेगे।

हाँ, तो सामाजिक हिसा का रूप आपके सामने रखा जा रहा है। आपके सामने जो इन्सानो की दुनिया है और मनुष्यो का जो विस्तृत ससार आपके सामने से गुजर रहा है, उसके साथ आपका क्या सम्बन्ध है? आप अपने पार्श्ववर्ती मनुष्यो के साथ कैसा व्यवहार करते है? वह व्यवहार घृणा और द्वेष का है अथवा सम्मान और सत्कार का? वह दूसरो को घायल करने की क्रूरता है या घाव पर मरहम लगाने की उदारता?

इन प्रश्नो पर हमे ईमानदारी के साथ विचार कर लेना चाहिए। वह हिसा, जो समुदाय के रूप मे होती है, आज विराट बन गई है। और इस पर भी तुर्रा यह है कि अधिकाश लोग हिसा करते हुए भी उसे हिसा नही समझते। इस तरह आज के जीवन मे एक बहुत बडी गलतफहमी फैल गई है।

एक अखण्ड मानव-जाति अनेकानेक जातियो, उप-जातियो मे बँट गई है और उसके इतने टुकडे हो गए है कि यदि गिनने चले तो गिनते-गिनते थक भी जाएँगे और फिर भी पूरे भेद-प्रभेदो को गिन न सकेगे। यद्यपि कही-कही एक जाति का दूसरी जाति के साथ ऊपर से

प्रेम-भाव मालूम होता है, किन्तु उनमे भी अन्दर की तह मे ऊँच-नीच की चौडी खाई खुदी हुई है। भीतर-ही-भीतर सघर्ष चल रहा है फलत कोई अपने को ऊँचा और दूसरे को नीचा समझने का मिथ्या अहकार प्रदर्शित कर रहा है। बाहर के सुरभित फूलो मे अन्दर के काँटे बराबर है। यो तो जीवन मे सब साथ-साथ चलेगे भी और एक-दूसरे को सहयोग भी देते रहेगे, किन्तु मन के काँटे दूर नही होते और वे निरन्तर एक-दूसरे को चुभते ही रहते है।

दूसरी साधारण जातियो को इस समय छोड दीजिए। एक ओसवाल और दूसरी श्रीमाल जाति है, जो एक डठल के ही दो फल है, किन्तु उनमे भी आपस मे सघर्ष जारी है, फलत कही-कही उन्हे परस्पर लडते भी देखा गया है। यहाँ तक कि साधु होने के नाते या अपने ही सम्प्रदाय के विशिष्ट साधु होने के नाते कभी-कभी मुझे भी हस्तक्षेप करना पडा है। ओसवाल और श्रीमाल परस्पर मे अपने आप को ऊँचा और दूसरे को हीन समझकर कभी-कभी एक दूसरे के साथ रोटी और बेटी का व्यवहार भी तोड बैठते है।

भीतर की जलन कभी-कभी विस्फोट के रूप मे बाहर आ जाती है तो परिवार के परिवार लड पडते है और आपस के मधुर सम्बन्ध भी कटुता मे बदल जाते है, सब के बीच विद्वेष की आग सुलग उठती है। यह आग ओसवालो मे या अग्रवालो मे, या दूसरी जातियो मे जहाँ भी जल रही है वहाँ बडे-बडे विचारक भी कभी-कभी उसमे

हिस्सा लेने के लिए विवश हो जाते है और उसमे कुतर्क का घी डालकर बुझती शिखा को और अधिक प्रज्वलित कर देते है। इस प्रकार जाति के नाम पर हिंसा होती है और इस पर हम सोचते है कि जो लोग अपने जाति-बान्धवो के साथ ऐसा दुर्व्यवहार करते है और उनसे भी लडते है, फिर वे छह करोड शूद्रो या अछूतो के साथ इन्सानियत का सद्-व्यवहार किस प्रकार कर सकेगे ?

ऐसे लोग बडी गडबड मे पडे हुए है। भगवान् महावीर ने जो कठिन साधना की और उसके प्रतिफल मे जो महान् क्रान्ति आई और परिवर्तन का प्रवाह आया, उसमे बडे-बडे पुरोहितो ने अपनी उच्चता का अहकार छोड दिया और भगवान् के चरणो मे आकर सारे भेदभाव भुला दिए। उनके दिलो मे अपार करुणा प्रवाहित हो गई। दया का सागर ठाठे मारने लगा। किन्तु खेद है, उस महान् तत्त्व को आगे चलकर जब स्वय जैनो ने भी नही पहचाना तो फिर दूसरे कैसे पहचाने ? दूसरो ने तो इस दिशा मे हमारा सदैव विरोध ही किया है और निहित स्वार्थो की पूर्ति के लोभ वश अछूतो का पक्ष लेने के कारण हमे भी एक प्रकार से अछूत करार दे दिया गया।

एक जगह मै ठहरा हुआ था। पास ही एक हलवाई की दूकान थी। वहाँ एक कुत्ता आया और मुँह लगाने लगा तो हलवाई ने डडा उठाया और कहा—दूर हट सरावगी !' यह शब्द सुनकर मैने विचारा—यह 'दूर हट सरावगी' क्या चोज है ? और इस हलवाई के मन मे यह

अप-प्रेरणा क्यों है ? मेरा मन इतिहास के पन्ने उलट गया। मालूम हुआ कि किसी जमाने में हमने अछूतों के पक्ष में नारा लगाया था और कहा था कि इन्सान के साथ इन्सान का-सा व्यवहार होना चाहिए। इस पर हमें भी अछूत ही करार दे दिया गया और सरावगी (श्रावक) को कुत्ते की पशु श्रेणी में रखा गया।

जब आप गहराई में उतरकर इस विषय में सोचेंगे तो मालूम होगा कि आप अपने को भले ही ऊँचा समझते हों, परन्तु दूसरे लोग आपको भी घृणा की दृष्टि से देखते हैं, अपवित्र समझते हैं और चौके में बिठाने में परहेज करते हैं। यहाँ तक कि हम साधुओं को भी चौके में नहीं जाने देते। दिल्ली जैसे शहरों से दूर किसी देहात में जाने पर यही व्यवहार देखा जाता है कि—"अलग रहिए महाराज, हम बाहर ही लाकर दे देंगे।"

जब इस प्रकार की विपरीत भावनाएँ नित्यप्रति देखने को मिलती हैं तो हम सोचते हैं कि इसमें जनता का दोष नहीं है। हम स्वयं भी तो इन्हीं संकीर्ण भावनाओं के शिकार हैं।

यहाँ तक कि आप जिन्हें नफरत की निगाह से देखते हैं, वे भी छूत-अछूत के भेदभाव से भरे हुए हैं। आप छोटी जाति से घृणा करते हैं और वह छोटी जाति भी अपने से छोटी समझी जाने वाली जाति से घृणा करती है। इस दुःखद दृश्य को देखकर हृदय टुकड़े-टुकड़े हो जाता है।

हम देखते है कि यह एक ऐसा रोग है, जो ऊपर से नीचे तक फैल गया है, जडो मे जम गया है। फलत इसका पूरी तरह परिमार्जन करने के लिए बहुत बडी क्रान्ति की अपेक्षा है। इस जटिल प्रश्न को हल करने के लिए गाँधीजी को अपना बलिदान देना पडा। गोडसे के साथ उनका कोई व्यक्तिगत द्वेप नही था, किन्तु दूसरी जाति वालो से प्रेम करने के कारण ही उन्हे गोली का शिकार बनना पडा। गाँधीजी ही नही, हमारे अनेक पूर्वजो को भी इसी प्रकार के अनेक आत्म-बलिदान देने पडे है।

हमारे अनेक साथी साधुओ मे भी यही विचार घर किये हुए है, फलत वे भी इन सामाजिक सकीर्णताओ मे फँसकर जातिवाद का कट्टर समर्थन करते है। हाँ, तो हमे उनके विचारो को भी माँजना है।

मैने इस घृणा और द्वेष की भावना को जातिगत, वर्गगत, सम्प्रदायगत और समूहगत हिंसा का रूप दिया है। मनुष्य को मनुष्य के रूप मे न देखकर जात-पाँत के नाते घृणा और द्वेप की सकुन्चित दृष्टि से देखना, हिंसा नही तो क्या है?

कभी-कभी मनुष्य अपने दैनिक नीतिमय व्यवहार मे भी उक्त जातीय विचारो के कारण गडबडा जाता है। एक बालक ठोकर खाकर रास्ते मे गिर पडता है और आप उसे उठाने को चलते है। जब उसके ब्राह्मण या क्षत्रिय आदि उच्च होने का पता चलता है तो आप उसे खुशी-खुशी उठा लेते है, परन्तु जब यह मालूम होता है कि यह तो भगी

का बालक है तो आपका मन दुविधा में पड जाता है। आप उसे उठाएँगे या नही ? यदि कोई ऐसा उदारमना भाग्यशाली है, जो उसे उठा लेता है तो मै उसे बडे आदर की दृष्टि से देखूँगा। मै समझूँगा कि उसकी आँखो मे मनुष्यत्व की दृष्टि पैदा हो गई है। किन्तु जहाँ इन्सान की आँखे नही है वहाँ आदमी गडबडा जाता है और सोचने लगता है कि क्या किया जाय और क्या न किया जाय ?

कोई कष्ट-पीडित है और आपत्ति-ग्रस्त है, और तुम उसका उद्धार करने चले हो। किन्तु यदि जात-पाँत को पूछकर चले हो तो तुम उसके कष्ट को कभी नही देख सकोगे, उसकी जात-पाँत को ही देख पाओगे। क्योकि यह ऐसी विषमता है, जिसने हमारे सामाजिक जीवन को एक सिरे से दूसरे सिरे तक विकृत कर दिया है। इस सम्बन्ध मे भगवान् महावीर का विचार एकदम स्पष्ट था। वे तो गुणो की पूजा करने वाले गुण-ग्राही थे, जाति की पूजा करने वाले नही। उनके पास ब्राह्मण आता है और यदि वह योग्य है तो उसका स्वागत होता है, क्षत्रिय है और उसमे गुण है तो उसका भी आदर होता है, और यदि कोई साधारण जाति मे जन्म लेने वाला शूद्र या अछूत है, किन्तु अहिसा और सत्य की सुगन्ध उसके जीवन मे महक रही है तो शास्त्रकार कहते है कि मनुष्य तो क्या, देवता भी उसके चरण छूने को लालायित हो उठते है। अस्तु, देवताओ ने भी उसके लिए जय-जयकार के नारे लगाए। और स्वय भगवान् महावीर ने भी उनका हृदय से स्वागत किया।

हरिकेशी मुनि के सम्बन्ध मे आगमो मे जो सुन्दर वर्णन है, वह जैनो के पास बहुत बडी सम्पत्ति है, एक बडी नियामत है और एक सुन्दर खजाना है। हमने कितनी ही गलतियाँ की है और अब भी उनकी पुनरावृत्ति करते जा रहे है, किन्तु हमारे पूर्वज उन गलतियो के शिकार नही बने थे। उन्होने मनुष्य को मनुष्य के रूप मे पहचाना, मनुष्य के गुणो की ही प्रशसा की, धनवान् होने के नाते कभी किसी का आदर नही किया और जात-पाँत के लिहाज से भी कभी किसी का सत्कार-सम्मान नही किया। तभी तो उत्तराध्ययन की उज्ज्वल वाणी चमकी है —

सोवागकुलसभूओ, गुणुत्तरधरो मुणी।
हरिएसबलो नाम, आसी भिक्खू जिइ दिओ ॥—उत्त० १२, १

हरिकेशी मुनि श्रेष्ठ गुणो के धारक और इन्द्रियो पर विजय प्राप्त करने वाले आदर्श भिक्षु थे। उनके गुणो का का उल्लेख करने के साथ ही साथ शास्त्रकार इस बात का भी उल्लेख करने से नही चुके कि वह मुनि 'श्वपाक-चाण्डाल' कुल मे उत्पन्न हुए थे, बल्कि सबसे पहले इसी बात का उल्लेख किया है। यह उल्लेख हमे शास्त्रकार के हृदय तक ले जाता है और इसके द्वारा हम समझ सकते है कि शास्त्रकार के मन मे क्या भावना रही होगी। जिनके नेत्र निर्मल है, वे इस उल्लेख मे सम्पूर्ण भारतवर्ष की और विशेषत जैनो की प्राचीन सस्कृति को भली-भाँति देख सकते है।

हरिकेशी मुनि ने पूर्व-सस्कारो के कारण ही चाण्डाल

कुल मे जन्म लिया। जीवन-यात्रा मे कभी-कभी बडी अटपटी घटनाएँ आती है, सावधान रहने पर भी मनुष्य कदाचित् ठोकर खा ही जाता है और गिर भी पडता है, किन्तु सच्चा बहादुर वही है जो गिरकर भी उठ खडा होता है और होश-हवास को दुरुस्त कर लेता है। हरिकेशी उन्ही वीरो मे से एक थे। कही भूल हो गई और गिर गए, किन्तु उन्होने अपने जीवन को और आत्मा को फिर सभाला और ऊपर उठ गए। जब वे गृहस्थ थे, सब ओर मे उन्हे अनादर और धिक्कार मिला। किसी ने भी उनका सम्मान सत्कार नही किया। किन्तु जब उन्होने मन पर झाडू दिया, उसे साफ किया तो वही श्रेष्ठ गुणो को धारण करने वाले जितेन्द्रिय भिक्षु बन गए।

एक तरफ पण्डित लोग वाद-विवाद करते है, शास्त्रार्थ करते हैं और जन्मगत जाति की उच्चता का यह दावा करते है कि मानव-सृष्टि मे केवल ब्राह्मण ही पवित्र और श्रेष्ठ है। शास्त्रार्थ लबा चलता है और अन्त मे हरिकेशी का गुणकृत ब्राह्मणत्व ही श्रेष्ठ प्रमाणित होता है, फलत देव दुन्दुभियाँ बजने लगती है और देवगण जय-जयकार की ध्वनि से पृथ्वी और आकाश को गुँजा देते है। रत्नो की वर्षा होती है, और साथ ही साथ सुन्दर विचारो की भी अमृत वर्षा होती है। उसी जय-घोष के स्वरो मे भगवान् महावीर ने कहा है—

सूतो वा सूतपुत्रो वा, यो वा को वा भवाम्यहम् ।
दैवायत्त कुले जन्म, ममायत्त हि पौरुषम् ॥

अर्थात्—"मै बढई हूँ या बढई का लडका हूँ, तो क्या हुआ ? मै कोई भी हूँ, तुम्हे इससे क्या प्रयोजन है ? पुराने जन्म के सस्कारो के कारण मैने कही जन्म लिया है, उसे क्या देखते हो ? अपने पुरुपार्थ और प्रयत्न के द्वारा मैने अपने जीवन का जो यह नव-निर्माण किया है, यदि साहस रखते हो तो इसे परखिए। तुम लोग जन्म से क्षत्रिय हो, और मै पुरुषार्थ-कम से क्षत्रिय बना हूँ। रण-क्षेत्र बतला देगा कि वास्तव मे कौन सच्चा क्षत्रिय है ?"

कर्ण की इस ज्वलन्त वाणी को हमे अपने मन मे सुरक्षित रख लेना है। कर्ण के इस निर्भीक भाव को हमे अपने अन्त करण की गहराई मे ले जाना चाहिए कि—"कोई किसी भी जाति मे पैदा हुआ हो अथवा रहता हो, किन्तु अपने गुणो के द्वारा वह ऊँचा उठ सकता है और पवित्र बन सकता है।"

बाल्मीकि पहले किस रूप मे थे ? दस्यु ही थे न। परन्तु जब उनका जीवन बदला तो आखिर उन्हे महर्षि के पद पर प्रतिष्ठित करना ही पडा। हरिकेशी कुछ भी रहे हो, किन्तु जब उन्होने आदरणीय गुण प्राप्त कर लिए तो उनका आदर किया ही गया। आखिर, गुण कब तक ठुकराए जा सकते है ? कभी न कभी तो उनकी चमक बाहर आएगी ही, और जीवन मे दिव्य प्रकाश पैदा होकर रहेगा।

जैनों मे उच्चगोत्र और नीचगोत्र की बात चलती है। कुछ लोग इस विषय मे पूछ लेते है और कोई मन मे ही घुटते रहते है। कोई पूछे या न पूछे, जब हम विचार-क्षेत्र मे कूद पडे है तो कभी-कभी कोने मे और कभी मैदान मे भी विचार कर ही लेते है। स्वय विचार करके और जैन-शास्त्रो का अध्ययन करके जो कुछ सचय किया है उस तत्त्व-ज्ञान को स्पष्ट रूप से जनता के सामने रख देना है और उलझी हुई गुत्थियो को सुलझाने का भरसक प्रयत्न करना ही हमारा कर्त्तव्य है।

हाँ, तो अब उच्च-गोत्र और नीच-गोत्र के सम्बन्ध मे विचार करना है। यदि कोई प्रतिष्ठित माने जाने वाले कुल मे पैदा हो गया है तो वह उच्चगोत्रीय कहलाया और यदि अप्रतिष्ठित समझे जाने वाले कुल मे उत्पन्न हो गया तो नीचगोत्रीय कहलाने लगा। इस सम्बन्ध मे पहली बात जो ध्यान देने योग्य है, यह है कि कुल की प्रतिष्ठा क्या सदैव एक-सी रहती है? नही, वह तो उस कुल के व्यक्तियो के व्यवहार के द्वारा बदलती भी देखी जाती है। एक व्यक्ति का श्रेष्ठ आचरण कुल की प्रतिष्ठा को बढाता है, और इसके विपरीत एक व्यक्ति का नीच और गलत आचरण कुल की प्रतिष्ठा मे धब्बा लगा देता है, सारी प्रतिष्ठा को धूल मे मिला देता है। ऐसी स्थिति मे किसी भी कुल की अप्रतिष्ठा या प्रतिष्ठा कोई शाश्वत वस्तु नही है। वह तो जनता के विचार-कल्पना की चीज है, वास्तविक वस्तु नही है।

दूसरा प्रश्न यह है कि गोत्र बदला जा सकता है या नही ? मान लीजिए कि किसी को नीच गोत्र मिला है। किन्तु उसने तत्त्व का चिन्तन और मनन किया है और उसके फलस्वरूप उच्च श्रेणी का आचरण प्राप्त किया है, तो उसी जीवन मे उसका गोत्र बदल सकता है या नही ? यदि तर्क द्वारा यह सिद्ध हो जाता है कि गोत्र नही बदल सकता तो मुझे अपने विचारो को समेट कर एक कोने मे डाल देना पडेगा। किन्तु यदि गोत्र का बदलना प्रमाणित हो जाता है तो आपको भी अपना विचार बदल देने के लिए तैयार रहना चाहिए। सत्य सर्वोपरि है और बिना किसी आग्रह के हम सबको उसे अपनाने के लिए तैयार रहना चाहिए।

कल्पना कीजिए—एक उच्चगोत्री है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, अग्रवाल अथवा ओसवाल है, परन्तु आज वह बुरा काम करता है और मुसलमान बन जाता है। हालाँकि मै मुसलमान को भी घृणा की दृष्टि से नही देखता हूँ, किन्तु रूपक ला रहा हूँ और आपको भी उसी दृष्टि से उस रूपक को समझना चाहिए।

हाँ, तो एक ओसवाल या अग्रवाल यदि मुसलमान बन जाता है तो क्या आप उसे उस बदले हुए दूसरे रूप मे समझते है या उसी पहले के रूप मे स्वीकार करते है ? आप उसे दूसरे रूप मे स्वीकार करते है। अर्थात् वह आपकी निगाहो से गिर गया है और उसमे उच्च गोत्र नही रह गया है। अब आप उसे पहले की तरह अपने साथ बिठाकर

एक साथ भोजन नही करते। जब ऐसी धारणा है तो इसका अर्थ यह है कि उच्चगोत्र स्थायी नही रहा और वहाँ जन्मगत जातीय धारणा भी नही रही। जब तक वह ऊँचाई पर कायम रहा, तब तक उच्च बना रहा, और जब उसका पतन हो गया और उसने अपने आचरण मे एक बडी बुराई पैदा करली और तदनुसार किसी दूसरे रूप मे चला गया तो वह गोत्र बदलना ही है। पहले वह ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य या और कुछ भी क्यो न रहा हो, किन्तु अब तो वह प्रत्यक्ष रूप मे बदल गया है और इस कारण उसका गोत्र भी बदल गया है।

अस्तु, जो बात उच्च गोत्र के सम्बन्ध मे है, वही बात नीच गोत्र के सम्बन्ध मे क्यो नही स्वीकार करते ? जब गोत्रकर्म का एक हिस्सा उच्चगोत्र–बदल जाता है और नीच-गोत्र बन जाता है तो दूसरा हिस्सा क्यो नही बदल सकता ? नीच गोत्र को उच्च गोत्र मे बदलने मे रोकने वाला कौन है ? चाहे जितनी सचाई और पवित्रता को अपनाने पर भी नीच गोत्र बदल नही सकता और वह जन्म भर नीचा ही बना रहेगा, यह कहाँ का न्यायसगत सिद्धान्त है ? जब उच्च गोत्र स्थायी नही रहता है, तब फिर नीच गोत्र किस प्रकार स्थायी रह सकता है ?

अभिप्राय यही है कि नीच गोत्र और उच्च गोत्र का वास्तविक स्वरूप क्या है ? जब मनुष्य बुराई का शिकार होता है, तब नीच गोत्र मे रहता है , और जब अच्छाइयाँ प्राप्त कर लेता है, तो वही 'भगतजी' के नाम से या और किसी अच्छे

नाम से प्रसिद्ध हो जाता है।

अब जरा सैद्धान्तिक दृष्टि से भी विचार कीजिए। सिद्धान्त की मान्यता है कि साधु का छठा गुणस्थान है* और छठे गुणस्थान मे नीच गोत्र का उदय नही होता। हरिकेशी नीच जाति मे उत्पन्न हुए थे और साधु बन गए। अब प्रश्न यह है कि साधु बन जाने पर वह नीच गोत्र मे रहे या नही ? यदि वे नीच गोत्र मे ही रहे तो उन्हे छठा गुणस्थान नही होना चाहिए और साधु का दर्जा भी नही मिलना चाहिए। किन्तु शास्त्र यह बतलाता है कि वे तो महामहिम मुनि थे और उन्हे छठा गुणस्थान प्राप्त था। छठे गुणस्थान मे नीच गोत्र नही रहता है। इसका अभिप्राय स्पष्ट है कि हरिकेशी नीच गोत्र से बदलकर उच्च गोत्र मे पहुँच चुके थे। तो अब आपको स्वय ही यह फैसला करना पडेगा कि नीच गोत्र भी उच्च गोत्र के रूप मे बदल जाता है। उच्च गोत्र और नीच गोत्र दोनो गोत्र-कर्म की अवान्तर प्रकृतियाँ है। अवान्तर प्रकृतियो का एक-दूसरी के रूप मे सक्रमण हो सकता है। यह बात सिद्धान्त को जानने वाले भली-भाँति समझ सकते है।

हरिकेशी मुनि नीच गोत्र की गठरी अपने सिर पर रखकर छठे गुण-स्थान की ऊँचाई पर नही चढे थे। यह बात इतनी ठोस और सत्य है कि जब तक आप शास्त्र को प्रमाण मानने से इन्कार न कर दे, तब तक इससे भी

---

* आध्यात्मिक विकासक्रम की भूमिकाओ मे से एक सर्वविरति रूप पूर्ण चारित्र की भूमिका, जो साधु की भूमिका कहलाती है।

इन्कार नही कर सकते । यदि आप शास्त्र के निर्णय को स्थायी रूप से कायम रखना चाहते है तो आपको उच्च-गोत्र और नीच-गोत्र के आजीवन स्थायित्व की मान्यता को खत्म करना ही होगा ।

दूसरी वात यह है कि उच्च-गोत्र और नीच-गोत्र का छुआछूत के साथ कोई सम्वन्ध नही है। छुआछूत तो केवल लौकिक कल्पना मात्र है। जो कष्ट मे पडा है और वेहोश हो रहा है, आप उसके पास खडे-खडे टिकुर-टिकुर देखते है और अछूत समझकर उसे हाथ नही लगा सकते। कोई भी सच्चा सिद्धान्त इस धारणा का समर्थन नही करेगा। सच्चे शास्त्र इस निंद्य व्यवहार का अनुमोदन कभी नही करते। जव हम छुआछूत के सम्वन्ध मे विचार करते है तो ज्ञात होता है कि छुआछूत की कल्पना के साथ गोत्र-कर्म का कोई सम्वन्ध नही है। गाय, भैंस, घोडा, हाथी आदि जितने भी पशु है, उनको शास्त्रो के अनुसार आजन्म नीच-गोत्र रहता है। किसी भी पशु मे उच्च-गोत्र नही माना गया हे। यदि नीच-गोत्री होने मात्र से कोई अछूत हो जाता है तो सभी पशु अछूत होने चाहिएँ। गाय और भैंस भी अछूत होने चाहिएँ। किन्तु उनके दूध को तो आप हजम कर जाते है और फिर मनुष्य के लिए छुआछूत की वाते करते हे ! जो घोडे पर सवार होते है और हाथी पर वेठने मे भी अपना सौभाग्य मानते है ! उस समय वे क्यो भूल जाते है कि ये पशु नीच-गोत्री है और इस कारण अछूत है—यदि इन्हे छुएँगे तो धर्म डूव जाएगा और जाति विजाति हो जाएगी ।

कितने आश्चर्य और खेद की बात है कि पशुओ को छूने वाले, उनका दूध पीने वाले, उन्हे मल-मल कर स्नान कराने वाले और उन पर सवारी करने वाले लोग ही जब मनुष्य का प्रश्न सामने आता है तो नीच-गोत्र की बात कहकर और अछूतपन की कल्पना करके अपने कर्त्तव्य से भ्रष्ट होते हैं, अपने विवेक का दिवाला निकालते है, न्याय और नीति का गला घोटते है, और धर्म से दूर भागते है। किन्तु सिद्धान्त की जो वास्तविकता है, उसी को सर्वतोभावेन अगीकार करना, हमारा मुख्य कर्त्तव्य है ।

हॉ, तो मैं कह रहा था कि जैन-धर्म एक ही सत्य-सदेश लेकर आया है और वह सन्देश सद्‌गुणो का है । चाहे कोई कितना ही पापी क्यो न रहा हो, वह जब तक दुराचारी है तभी तक पापी है । किन्तु ज्यो ही वह सदाचार की श्रेष्ठ भूमिका पर आता है, और उसके जीवन मे सदाचार की सुगन्ध फैल जाती है तो वह ऊपर उठता है और उसके लिए मोक्ष का दरवाजा भी खुल जाता है । जैन-धर्म यह कभी नही कहता कि मोक्ष ब्राह्मण, क्षत्रिय या वैश्य को ही मिलेगा, और शूद्र के लिये मोक्ष के मन्दिर पर कडा प्रतिबन्ध है । इस सम्बन्ध मे हमारे आचार्य समन्तभद्र ने कहा है —

सम्यग्दर्शनसम्पन्नमपि मातङ्गदेहजम् ।
देवा देव विदुर्भस्मगूढागारान्तरौजसम् ।।

—रत्नकरण्डश्रावकाचार,

अर्थात्—अगर कोई चाण्डाल से भी पैदा हुआ है किन्तु

उसे सम्यग् दृष्टि प्राप्त हो गई है तो वह मनुष्य नही, बल्कि देवता है। तीर्थङ्कर देव उसे देवता कहते है। उसके भीतर भी दिव्य ज्योति ठीक उसी प्रकार झलक रही है, जैसे राख मे ढँके हुए अङ्गार मे ज्योति विद्यमान रहती है और भीतर ही भीतर चमकती है।

मिथ्यादृष्टि देवता की तुलना मे भी सम्यग दृष्टि शूद्र कही अधिक ऊँचा है। यदि ऐसा न माना जायगा तो सद्गुणो की प्रतिष्ठा समाप्त हो जायगी। लोग जाति और सम्पत्ति को ही पूजेगे और गुणो की उपेक्षा करेगे। गुणो की कक्षा नीची हो जाएगी और उनके प्रति आदर का भाव भी समाप्त हो जाएगा।

जिस जाति मे गुणो का आदर होता है, उसमे सद्गुण, सदाचार और अच्छाइयाँ सर्वत्र पनपती है। दुर्भाग्य से हम उच्च-जाति वाले तथाकथित सदाचारी नीच-जाति वालो को समाज सेवा और धर्म साधना मे भी अग्रसर नही होने देते और उन्हे मजबूर करते है कि वे वही के वही सर्वथा अलग-थलग खडे रहे।

एक वार मै विहार कर रहा था। धूप कुछ तेज पड रही थी, फलत विश्राम कर लेना चाहा। रास्ते मे एक तिदरा आया। तिदरे के सामने ही कुछ वृक्ष थे। विश्राम करने के लिए मै उन वृक्षो की छाया मे बैठने लगा तो साथ के एक श्रावक भाई ने कहा—महाराज! आपको छाया मे बैठना हो तो आगे बैठिए, यहाँ मत बैठिए!

मैने कहा—यहाँ ऐसी क्या वात है?

तब वह बोला—आपको मालूम नही कि यह तिदरा, वृक्ष और कुँआ एक वेश्या की सम्पत्ति से बने है। वेश्या, पहले वेश्यावृत्ति करती थी किन्तु बाद मे वह प्रभु की भक्त पुजारिन बन गई और जब ईश्वर-भक्ति मे लग गई तो उसने सोचा कि कुछ परोपकार का काम करूँ। इसी विचार से प्रेरित होकर उसने वेश्यावृत्ति से कमाए हुए अपने धन से ये सब बनवाए है। जब ऐसे निकृष्ट धन से बनवाये गए है तो फिर आप सरीखे सत को यहाँ नही बैठना चाहिए।

मैने सोचा—एक तरफ तो यह कहता है कि वेश्या बदल गई, भक्त बन गई और जब उसमे सद्बुद्धि जागृत हुई तो उसने अपने पिछले आचरण के प्रायश्चित्त के रूप मे यह सत्कार्य किया और दूसरी ओर यहाँ बैठने से भी परहेज करने को कहता है? दुर्भाग्य है हमारे समाज का कि सैकडो लोग उस कुँए का पानी भी नही पीते और तिदरे मे बैठने तथा वृक्ष की छाया मे विश्राम लेने मे भी पाप समझते है। ऐसे अभागे लोगो को आप दान और पुण्य भी नही करने देते। क्या उनका दान और पुण्य भी अपवित्र है? बस, आपके ही हाथ की कमाई पवित्र है, चाहे वह जनता का रक्त-शोषण करके ही क्यो न एकत्र की गई हो?

वास्तव मे वेश्या की कमाई, गलत कमाई थी, किन्तु बाद मे उसके अन्दर जब सद्बुद्धि जागृत हो गई और उसने प्रायश्चित्त के रूप मे सारा धन सत्कर्म मे लगा दिया, तो क्या हमे अब भी उससे घृणा करनी चाहिए?

वेश्या का पिछला जीवन पापमय अवश्य रहा, किन्तु जब उसने अपने जीवन को माँज लिया और वह उस पाप से मुक्त भी हो गई, तब फिर उससे घृणा करने वाले और उसे घृणा की दृष्टि से देखने वालो को क्या कहा जाय ? ईर्ष्या और घृणा यदि पाप है, तो वे वर्त्तमान मे भी पाप मे पडे हुए हैं और आन्तरिक हिंसा के शिकार हो रहे हैं। विवेकशील पुरुषों की दृष्टि मे तो उस वेश्या की अपेक्षा भी वे विचार-दरिद्र अधिक दया के पात्र है।

हाँ, तो अभिप्राय यही है कि जहाँ ईर्ष्या है, द्वेष है, घृणा है, मिथ्या अहकार है और मनुष्य के प्रति अपमान की हीन भावना है, वहाँ हिंसा है। जब हम हिंसा के स्वरूप पर विचार करे, तो इस भयानक हिंसा को न भूल जाएँ, और जब अहिंसा की साधना के लिए तैयार हो, तो पहले आन्तरिक हिंसा को दूर करे, चित्त को पूर्णत निर्मल बनाएँ, कम से कम समग्र मानव-जाति को प्रेम एव मित्रता की उच्च भावना से देखे और तब क्रमश आगे बढते-बढते अहिंसा के वरिष्ठ आराधक बने।

———

—: ४ :—

पवित्रता का मूल स्रोत

जब कभी हम अपने जीवन के अन्तरग मे पहुँचते है और अपने जीवन के मर्म को छूने की चेष्टा करते है तो प्रतीत हुए बिना नही रहता कि जीवन की पगडडियाँ भिन्न-भिन्न नही है। सब की एक ही राह है और वह है—जीवन की पवित्रता। बाहर मे भले ही हम अलग-अलग रूप मे चलते है और अलग-अलग रूप मे अपनी मजिल भी तय कर रहे है—सम्प्रदाय के रूप मे, धर्म, मत, पथ और जातियो के रूप मे बाहर की राहे बहुत-सी है, किन्तु, जीवन के अन्दर की राह तो एक ही है।

जीवन की पवित्रता के पथ पर जो पथिक है वे अपना उत्थान करते है। और जो इस राह के राही नही है, वे बाहर मे चाहे जैसा जीवन बिताएँ, अन्तरग मे यदि पवित्रता की भावना नही है, तो जीवन-विकास की सही दिशा मे दृढता के साथ कदम नही बढा सकते।

वस्तुत अहिसा ही पवित्रता की सबसे बडी एव सुनिश्चित पगडडी है। हमे जो मनुष्य-जीवन मिला है वह सुगमता से नही मिला, अपितु पूर्व-जन्म के सचित पुण्य-

कर्मों तथा कठिन साधना के प्रतिफल मे मिला है। अत इसकी सार्थकता के लिए यह विचार जरूरी है कि इसकी उपयोगिता तथा उद्देश्य क्या है ? हमे इस जीवन का उपयोग ससार के कल्याण के लिए करना है, जनता के दुख-दर्द को कम करने के लिए करना है, अपने जीवन को सद्गुणो की सुगन्ध से पूर्ण कर दुनिया मे फैली सामाजिक कुरीतियो की दुर्गन्ध को दूर करने के लिए करना है , अथवा हमे इस नर-जन्म के द्वारा ससार को प्रगति मे रोडे अटकाना है और समाज की कठिनाइयो मे अपनी ओर से एक नई बढाकर कठिनाइयो के जाल को सुदृढ करना है ?

इस सम्बन्ध मे भगवान् महावीर का एक ही सुनिश्चित मार्ग है और वह मार्ग यह है कि—"तुमने जो जीवन पाया है उसका उपयोग प्राणि-ससार की अन्तरग और बाह्य, दोनो ही तरह की समस्याओ को सुलझाने के लिए करो। यदि समस्याएँ पारिवारिक भूलो से पैदा हुई है तो उन भूलो की खोज करो। और यदि वे समाज की भूले है तो उन्हे भी ठीक करो। इसी प्रकार से तुम्हारे देश मे या आस-पास के ससार मे जो भूले या गलतियाँ हो गई हो और जिनके कारण मानव-जीवन मे काँटे पैदा हो गए हो, उनको भी एक-एक करके चुनना और जीवन-मार्ग से अलग करना है। जीवन-मार्ग को स्वय अपने लिए और दूसरो के लिए भी साफ एव सुदृढ बनाना ही मनुष्य जीवन का मूल ध्येय है।"

इस प्रकार अहिंसा अपनी महती उपयोगिता के अनुसार फूलो की राह है, काँटो की नही। कहने को तो हमे कठिनाई

मालूम होती है और जब-जब हम अहिंसा के मार्ग पर चलने का प्रयत्न करते है और चलते हैं तो ऐसा मालूम होता है कि यह जीवन की सहज सुखद राह नही है, किन्तु जीवन यदि चलेगा तो अहिंसा के मार्ग पर ही चलेगा। हिंसा के द्वारा जीवन मे कठिनाइयाँ ही बढती है, उसके द्वारा किसी कठिनाई को किसी भी अग मे हल कर सकना बिल्कुल सम्भव नही है। अतएव 'हिंसा' और 'अहिंसा' को आज भली-भाँति समझ लेना है। इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए सामाजिक हिंसा का विस्तृत रूप पिछले प्रकरण मे प्रस्तुत किया गया है और आज फिर उसी विषय पर विचार किया जाएगा। हिंसा के विविध रूपो को समझे बिना अहिंसा को पूरी तरह समझा नही जा सकता।

हाँ, तो जैन-धर्म ससार को एक सन्देश देने के लिए आया है कि—'जितने भी मनुष्य है, वे चाहे ससार के एक छोर से दूसरे छोर तक कही भी क्यो न फैले हो, सब मनुष्य के रूप मे एक हैं। उनकी जाति और वर्ग मूलत अलग-अलग नही है। उनका अलग-अलग कोई समूह नही है। विभिन्न जातियो के रूप मे जो समूह आज बन गए हैं, वे सब विभिन्न प्रकार के उद्योग-धन्धो को लेकर ही बने है। आखिर, मनुष्य को जिन्दगी गुजारनी है तो उसे पेट भरने के लिए कोई न कोई उपयोगी धन्धा करना ही पड़ता है। कोई कपड़े का व्यापार करता है, कोई अन्न का व्यापार करता है, कोई दफ्तर जाता है और कोई कुछ और कर लेता है। यह तो जीवन की सामान्य समस्याओं को हल करने के सामान्य तरीके हैं।

किन्तु इन तरीको के विषय मे मनुष्य ने जो पवित्रता और अपवित्रता के भाव बना लिए है कि—अमुक जाति पवित्र है और अमुक जाति अपवित्र है, यह कितना अभद्र है ? इस सम्बन्ध मे मै तो अपना यही विचार व्यक्त करना चाहूँगा कि यह कोरा मिथ्या अहकार है, और कुछ भी नही है।

मनुष्य के जीवन मे अपने आपको श्रेष्ठ और ऊँचा समझने की एक वृत्ति है , और वह वृत्ति छोटे से छोटे बच्चे मे, प्रत्येक नौजवान मे और बूढे मे भी एक-सी देखी जाती है। जहाँ वह अपने अभिमान को चोट खाते देखता है, वही गडवडा जाता है और जब कभी दूसरो के सामने अपना अपमान होते देखता है तो आपे मे नही रहता। इस प्रकार मनुष्य की प्रकृति मे एक भावना विद्यमान है, जो अन्दर ही अन्दर बचपन से ही चली आ रही है। मनुष्य के स्वभाव मे अपने आपको श्रेष्ठ समझने का जो अहभाव है, वह चारो ओर से उसका पोषण करना चाहता है। किन्तु यह विचार धारा यदि अपने आप तक ही सीमित है तो बुरी नही है।

मेरा ऐसा भी विचार है कि भारतवर्ष मे कुछ लोगो मे एक बात और पाई जाती है। वे अपने आपको तुच्छ और दीन-हीन समझने की हीन मनोवृत्ति से घिरे रहते है। वे अपने मे दुनिया भर के पाप और बुराइयाँ समझ कर चलते है। इसी भावना का यह दुःखद परिणाम है कि ऐसे लोग जब चलते है, तब रोते और गिडगिडाते हुए दिखाई देते है। उनमे आत्म-विश्वास नही होता। आत्मा की आध्यात्मिक शक्ति के प्रति उनके मन मे दृढ आस्था का अभाव रहता

हैं। फलत मानव की यह हीन वृत्ति अभीष्ट लक्ष्य की ओर दृढता से कदम बढाने मे सदैव बाधक होती है।

मनुष्य के भीतर जो 'अहम्' है अथवा 'मै' है, वही स्वय आत्मा है। आप 'अहम्' को अलग नही कर सकते, 'मै' को त्याग नही सकते। क्योकि 'अहम्' को त्याग करने का विचार वाला तो आत्मा है, और आत्मा भला आत्मा का त्याग कैसे कर सकता है ? त्याग करने वाला और जिसे त्याग करना है, अर्थात्---त्यागी और त्याज्य वहाँ दोनो एक ही है। अतएव अपने 'अहम्' को त्यागना न तो शक्य है, और न वॉछनीय ही है। अपने आपको उत्कृष्ट समझने की बुद्धि शुद्ध रूप मे यदि आपके अन्दर उत्पन्न हो जाएगी तो वह आपके जीवन मे अनेक अच्छाइयो का स्रोत बहा देगी। किन्तु जब वही 'अहम्' विकृत और दूषित रूप मे आपके अन्दर उदित होता है तो आपको गिरा देता है। अपने आपको श्रेष्ठ समझने के कारण जब अपनी उच्चता का प्रदर्शन करने के लिए दूसरो को नीचा समझने की वृत्ति अन्त करण मे उत्पन्न हो जाती है और तदनुसार दूसरो को घृणा की दृष्टि से देखा जाता है, और फलत उनको अपवित्र भी मान लिया जाता है, तो समझ लीजिए कि आपका 'अहम्, शुद्ध रूप मे नही जगा है। वह पूर्णत विकृत और दूषित हो गया है। वह आपके जीवन को ऊँचा नही उठाएगा और पवित्र भी नही बनाएगा।

जब आप दूसरो को नीचा समझकर ही अपनी उच्चता मान लेते है तो इसका अर्थ यह हुआ कि आपके अन्दर

अपनी कोई उच्चता नही है और मनमानी उच्चता पर आपने अपने को संतुष्ट कर लिया है। बस, वही संतोष आपका प्रबल शत्रु है। वह आपको आगे बढने से रोकता है और ऊँचा भी नही चढने देता। अत निश्चित रूप मे समझ लीजिए कि आपके जीवन मे उच्चता और अपवित्रता यदि सचमुच आने वाली है तो वह दूसरो को नीच और अपवित्र समझने से कभी नही आएगी, बल्कि आप स्वय नीचे गिरते जाएँगे और एक दिन अपने को अध पतन के गर्त मे पाएँगे।

जैन-धर्म मनुष्य के सामने सदैव यही सन्देश रखता आया है कि—"मनुष्य! तू अपने को पवित्र समझ और श्रेष्ठ मान! तू, ससार मे भूलने, भटकने के लिए नही आया है! तेरा जीवन रेंगते और रगड खाते चलने के लिए नही है। तू, ससार मे बहुत श्रेष्ठ बनकर आया है! अनन्त-अनन्त पुण्यो का सचय होने पर ही तू ने मानव का रूप पाया है। तुझे मानव-जीवन की जो पवित्रता प्राप्त हुई है वह इतनी महान् और दिव्य है कि देवताओ की पवित्रता भी उसके सामने नगण्य है।

अस्तु, जैन-धर्म ने आत्म-विश्वास का यह सन्देश देकर मनुष्य के अन्दर मे से तुच्छ, दीन, हीन और अपने को कुछ भी न समझने की वृत्ति को निकालने का सफल प्रयत्न किया है और उसके शुद्ध 'अहम्' को जगाया है। हमारे जीवन के चारो ओर जैन-धर्म की एक ही आवाज गूँज रही है—

'अप्पा सो परमप्पा।'

ही अपवित्र है। इसलिये वह दुराचारी से भी घृणा करना नही सिखाता। उसने बताया है कि चोर से घृणा मत करो, अपितु चोरी से घृणा करो। चोर तो आत्मा है और आत्मा कभी बुरा नही होता। जो तत्त्व तुम्हारे अन्दर है, वही चोर के अन्दर भी है। जो अच्छाइयाँ अपने मे मानते हो, वही चोर मे भी विद्यमान है। उसकी अच्छाइयाँ यदि चोरी के कारण छिप गई है तो आप अपनी अच्छाइयो को घृणा और द्वेष से छिपाने का, दबाने का क्यो प्रयत्न करते हो ? इसके द्वारा तुम्हारे अन्दर कोई पवित्रता आने वाली नही है। हाँ, यदि आप चोरी को बुरा समझेगे और चोर को घृणा की नही, किन्तु दया की दृष्टि से देखेगे तो आप मे अवश्य ही पवित्रता जागृत हो उठेगी।

एक आदमी शराब पीता है। आपकी दृष्टि मे वह गिर जाता है, किन्तु कल शराब छोड देता है और सभ्यता एव शिष्टता के सही मार्ग पर आ जाता है, अपने जीवन को ठीक रूप से गुजारने लगता है तो वह अच्छाई की दृष्टि से देखा जाता है या नही ? अवश्य ही; जब वह बुराई को छोड देता है तो ऊँची निगाह से देखा जाता है। वास्तव मे शराब बुरी चीज है, अत वह कभी ठीक नही होने वाली है। चाहे वह ब्राह्मण के हाथ मे हो या शूद्र के हाथ मे, महल मे रखी हो या झौपडी मे, बुरी वस्तु, बुरी ही रहेगी। वह पवित्र बनने वाली नही है। किन्तु शराब पीना छोड कर आदमी पवित्र बन सकता है। चोर यदि चोरी करना छोड देता है तो पवित्र बन जाता है। इसी प्रकार दुराचारी भी दुराचार को

त्याग कर पवित्र बन सकता है ।

हाँ, तो जैन-धर्म ने बताया कि—तेरी घृणा व्यक्ति के गलत कार्यों पर हो, व्यक्ति पर नही । चोर ने चोरी करना छोड दिया है, शराबी ने शराब पीना त्याग दिया है और दुराचारी भी दुराचार से दूर हो गया है, फिर भी यदि हम उसके प्रति घृणा नही त्याग सकते तो समझ लीजिए कि हम अहिंसा के मार्ग पर नही चल रहे है । अहिंसा की दृष्टि तो इतनी विशाल है कि हम पापी से पापी और दुराचारी से दुराचारी के प्रति भी घृणा का भाव भूल से भी उत्पन्न न होने दे । किन्तु दुर्भाग्य से आज समाज के पास अहिंसा की वह दृष्टि नही है, फलत ऐसी बुराइयाँ पैदा हो गई है जिनके उन्मूलन के लिए हमे घोर सघर्ष करना पड रहा है, और यह सघर्ष सफलता प्राप्ति के अन्तिम क्षण तक जारी भी रहेगा ।

आज जिधर भी दृष्टि दौडाते है, उधर ही घृणा और द्वेष के अशुभ चिन्ह दिखाई देते है । वस्तुत मन की सकीर्णता ही सबसे बडी और व्यापक हिंसा है । मनुष्य, मनुष्य से घृणा और द्वेष कर रहा है । यह हमारे वर्ग का है तो हम उस पर प्रेम बरसाएँगे, और दूसरे वर्ग का है तो द्वेष भाव प्रदर्शित करेगे । जात-पाँत के नाम पर, प्रान्त के नाम पर और सम्प्रदाय के नाम पर—चारो ओर से हम जीवन मे इतनी घृणा प्रसारित कर चुके है कि यदि शीघ्र ही उसको दूर न कर सके तो हमारे जीवन का मार्ग प्रशस्त नही हो सकेगा ।

मै पूछना चाहूँगा कि मनुष्य जन्म से ऊँचा-नीचा होता

है या कार्य से ? यदि कोई जन्म से श्रेष्ठ होता है तो जैन-दृष्टि से रावण क्षत्रिय था और वैदिक दृष्टि से ब्राह्मण था, अत उसमे जन्मजात पवित्रता और उच्चता विद्यमान थी। किन्तु फिर भी उसे सामाजिक घृणा क्यो मिली ? भारत का इतिहास लिखने वाला प्रत्येक इतिहासकार रावण के प्रति क्यो व्यापक घृणा व्यक्त करता आ रहा है ? अभिप्राय यही है कि जन्म से कोई ऊँचाई नही आती। यही कारण है कि जव भी कभी जन्मजात उच्च कहलाने वाला व्यक्ति गलत मार्ग पर चलता मालूम होता है, भारतीय इतिहासकार उस दुरा-चार की निदा करने को तैयार होता है और उस बुराई का तिरस्कार करने मे अणुमात्र भी सकोच अनुभव नही करता। इतिहास ने यह नही देखा कि रावण क्षत्रिय था या ब्राह्मण। उसका जन्मजात क्षत्रियत्व या ब्राह्मणत्व सामने नही आया किन्तु उसका कर्म ही प्रकाश मे आया। वही जाचा और परखा गया।

अब दूसरी ओर भी देखिए। वाल्मीकि अपने प्राथमिक जीवन मे लुटेरे थे। उन्होने दूसरो को मारना और दूसरो की जेव टटोलना ही सीखा था। इसके सिवाय उनके सामने जीवन-यापन का दूसरा रास्ता नही था और उसी पर विना किसी हिचकिचाहट के चले जा रहे थे। उनके हाथ खून से भरे रहते थे। किन्तु जब जीवन की पवित्र राह मिली और उन्होने उस पर पदार्पण किया तो अपनी परम्परागत सभ्यता और सस्कृति के नाते भारतीय समाज ने उन्हे ऋषि और महर्षि की पदवी दी और सत-समाज मे उन्हे आदर का स्थान मिला।

जैन-दर्शन के अनुसार हरिकेशी चाण्डाल-कुल मे उत्पन्न हुए और सब ओर से उन्हे भर्त्सना और घृणा मिली। वे जहाँ कही भी गए अपमान-रूप विप के प्यालो से ही उनका स्वागत हुआ। कही भी समभाव-सूचक अमृत का प्याला नही मिला। पर जब वे जीवन की पवित्रता के सही मार्ग पर आए तो वन्दनीय और पूजनीय हो गए। देवताओ ने उनके चरणो मे मस्तक झुकाया और तिरस्कार करने वाले ब्राह्मणो ने भी उनकी पूजा और स्तुति की।

अर्जुन माली की जीवन-कथा क्या आप मे छिपी हुई है ? नर-हत्या जैसा जघन्य कर्म करने वाला और हिंसक वृत्ति मे आकण्ठ डूबा हुआ अर्जुन माली, एक दिन मुनि के महान् पद पर प्रतिष्ठित होता है, भगवान् महावीर उसे प्रेम से अपनाते है और वह जीवन की पवित्रता प्राप्त करके महान् विभूति बन जाता है। यह सब किसकी विशेपता थी ? यह विशेपता जन्म की नही, अपितु कर्म की ही थी।

सन्त जब मिलते है तो कई लोग सर्वप्रथम उनकी जाति पूछ बैठते है, और कोई बात पूछना उन्हे नही सूझता। कोई-कोई उनका खानदान और कुल भी पूछ लेते हैं। पर सोचना यह है कि क्या ये सब बाते साधु से पूछने की हैं ? साधु तो अपनी पहली दुनिया को भूल ही जाता है। उसे स्मरण करने का अधिकार भी नही, कि वह पहले क्या था ? किस रूप मे था ? ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य या शूद्र क्या था ? इन सभी शृंखलाओ से मुक्त होकर उसने नया जन्म लिया है। जब कोई मनुष्य यहाँ जन्म लेता है तो उसे अपने पिछले

जन्म की जाति, खानदान और कुल आदि का स्मरण नही रहता। प्रकृति उसे पूर्व जन्म की स्मृति नही रहने देती और वर्त्तमान का दृश्य ही उसके सामने खडा हो जाता है। इसी प्रकार जब कोई व्यक्ति दीक्षा लेता है तो वह भी एक प्रकार से नया जन्म पाता है, नए क्षेत्र मे प्रवेश करता है। नई जिन्दगी पाकर पुरानी जिन्दगी को भुला देता है। वह जिस महल को छोड़कर आया है, यदि उसे अपने दिमाग से नही निकाल सका है, और जिस कुल मे से आया है, यदि उसे नही भुला सका है तो जैन-धर्म कहता है कि उसका नया जन्म नही हुआ है, वह साधु नही बन सका है। सच्चा साधु दीक्षा लेने के बाद 'द्विजन्मा' हो जाता है। पर आज तो वह उसी पुराने जन्म के सस्कारो मे उलझा रहता है। उन्ही सस्कारो को अपने जीवन पर लादे हुए चल रहा है और जब यही प्रक्रिया चालू है तो जीवन का जो महान् आदर्श आना चाहिए, वह नही आ पाता।

*'अप्पाणं वोसिरामि' कहकर साधु ने पुरानी दुनिया के खोल को तोड फेंका है। उसके सामने चाहे महल हो, या झोपडी हो, दोनो समान है। कोई उसे अपमानित करता हो या कोई सम्मान देता हो, दोनो ही उसकी दृष्टि मे एक समान है। उसके लिए मानापमान की ये सब घाडयाँ कभी की पट चुकी हैं और अब वह इन सब से अतीत हो चुका है। साधु ही एकमात्र उसकी जाति है।

* मुनि-दीक्षा लेते समय प्रतिज्ञा के रूप में बोले जाने वाले एक पाठ विशेष का अश।

वहाँ दूसरी कोई जाति ही नही है। किन्तु पूछने वाले वही पुरानी दुनिया की कहानी पूछते है और पुराने सस्कारो की याद ताजा करते है, जिन्हे बिल्कुल भुला देना चाहिए। हम तो यह चाहते है कि ऐसी निरर्थक बातो को सारा भारत ही भुला दे। परन्तु यह तो विवेक-बुद्धि पर आश्रित अभी दूर की बात है। वर्त्तमान मे जब साधु भी इन्हे नही भुला सके है तो फिर दूसरे सर्वसाधारण से क्या आशा की जाय ? इसकी पुष्टि मे सत कबीर कहते है —

जात न पूछो साधु की, पूछ लीजिए ज्ञान।
मोल करो तलवार का, पडी रहन दो म्यान ॥

अर्थात्—किसी साधु की जाति मत पूछिए कि वह ब्राह्मण है, या क्षत्रिय ? जाति पूछ कर करोगे भी क्या ? यदि पूछना ही है तो उसका ज्ञान पूछो, उसका आचरण पूछो और यह पूछो कि जीवन की राह पर चलकर उसने क्या पाया है ? उसमे महक पैदा हुई है या नही ? और जीवन-फ़ल खिला है या नही ? वह जीवन का फ़ूल महक दे रहा है या नही ? जब तलवार म्यान मे पडी है, तो तलवार खरीदने वाला तलवार का मोल करता है या म्यान का ? लडाई तलवार से होगी या म्यान से ? म्यान तो म्यान ही रहेगी, उसका अपने आपमे क्या मूल्य है ? चाहे म्यान सोने की ही क्यो न हो, किन्तु यदि उसमे काठ की तलवार रखी है तो उस म्यान की क्या क़ीमत होगी ?

तो कर्त्तव्य की दृष्टि से जैन-धर्म एक ही बात कहता है कि मनुष्य तेरे विचार कितने ऊँचे और अच्छे है, और तू ने जीवन

की पवित्रता पाकर उसे जीवन मे कितना साकार किया है ? जिसके पास पवित्र विचार का वैभव है और पवित्र आचार की पूँजी है, निस्सन्देह वही भाग्यशाली है और जैन-धर्म उसी को आदरणीय स्थान देता है।

हमारे यहाँ जो बारह भावनाएँ आती है, उनमे एक अशुचि भावना भी है। वह भावना निरन्तर चिन्तन के लिए है और वह चिन्तन अपने शरीर के सम्बन्ध मे है। इस भावना मे अपने शरीर के अशुचि स्वरूप का विचार किया जाता है। ब्राह्मण हो या शूद्र, सभी को समान रूप मे इस भावना के चिन्तन का विधान है। शास्त्र मे कही यह नही बतलाया गया कि ब्राह्मण का शरीर शुचि-पवित्र है और उसे इस भावना की कोई आवश्यकता नही है, और सिर्फ शूद्र के लिए ही यह भावना आवश्यक है ! मनुष्य-मात्र का शरीर एक-जैसा है। ऐसा कदापि नही कि शूद्र के शरीर मे रक्त हो, और ब्राह्मण के शरीर मे दूध भरा हो या गगाजल हो ! यह बात तो इतनी स्पष्ट है कि इसकी सच्चाई आँखो दिखाई देती है। इसी कारण अशुचि भावना का विधान ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य अथवा शूद्र सभी के लिए समान रूप से मान्य बतलाया गया है। फिर भी लोगो के दिलो मे यह मिथ्या अहकार बैठ गया है कि मेरा शरीर पवित्र है, और दूसरे का अपवित्र है ! मै शूद्र को छू लूँगा तो मेरा शरीर अपवित्र हो जायगा !

ससार भर मे अपवित्र से अपवित्र और घिनौनी चीज यदि कोई है, तो वह शरीर ही है। दुनिया भर की अशुचि

और गंदगी इस में भरी पड़ी है। यह हड्डियों का ढाँचा और मांस का लोथ चमड़े में ढँका हुआ है और मल-मूत्र आदि घृणित पदार्थों का भंडार है। फिर इसमें पवित्रता कहाँ से आ गई? यह शरीर जब कभी किसी वस्तु को ग्रहण करता है, तो उसको भी अपवित्र बना देता है। चाहे भोजन कितना ही पवित्र और स्वच्छ क्यों न हो, जैसे ही वह शरीर के सम्पर्क में आता है, गन्दा और दूषित बन जाता है और सड़ जाता है। मनुष्य जिस मकान में रहता है, उसके चारों तरफ गन्दगी बिखेरता चलता है और वह गन्दगी शरीर के द्वारा ही तो फैलती है। जब मनुष्य शहर में रहता है तो वहाँ के गली-कूचों की क्या स्थिति होती है? इतनी गन्दगी, मलिनता और अपवित्रता वहाँ भर जाती है कि एक वर्ग सफाई करते-करते थक जाता है। मनुष्य अपने आचरण से हवा, पानी, मकान आदि सभी चीजों को दूषित कर देता है और सड़ा देता है। यह सारे कर्म मनुष्य ही करता है। वह जिस ओर चलता है, गन्दगी बिखेरता चलता है।

हाँ, तो भगवान् महावीर ने अशुचि को अपने शरीर में ही देखा है। मनुष्य के शरीर से बढ़कर कहीं अशुचि नहीं है। अपने शरीर से चिपटी उस अशुचि को न देखकर शरीर को पवित्र मानना भूल है और सिर्फ दूसरे के शरीर को अपवित्र मानकर अपनी शारीरिक पवित्रता के मिथ्या अहंकार को प्रश्रय देना तो जीवन की एक महान् भूल है।

मनुष्य का शरीर अपवित्र है और वह कभी पवित्र नहीं

हो सकता। हजार वार स्नान करके भी आप उसे पवित्र नही वना सकते। एक आदमी कुल्ला करता है। एक वार नही, सौ वार कुल्ला करता है और समझ लेता है कि मेरा मुँह शुद्ध हो गया। उसके वाद उसी मुँह मे कुल्ला भरकर दूसरे पर थूकता है तो लडाई शुरू होगी या नही ? वहाँ तो लाठियाँ वजने लगती है और कहा जाता है कि जूठा पानी मुझ पर डाल दिया।

कुल्ला या अन्य उपायो के द्वारा यदि हजार वार मुँह साफ भी कर लिया तो क्या हुआ ? मुँह तो गन्दा ही रहने वाला है, शरीर स्वभाव से ही गन्दा और अपवित्र है। ससार की सारी अपवित्रता इस शरीर मे भरी पडी है। जीवन की वास्तविक पवित्रता तो आपके मन मे और आपकी आत्मा मे ही हो सकती है, शरीर मे नही। जीवन की शुचिता आप अपने आचार और विचार द्वारा पैदा कर सकते है। और जव तक यह वात नही आएगी, आप चाहे हजार वार गगा मे स्नान कर ले और लाख वार सम्मेत शिखरजी की यात्रा कर आएँ, वह पवित्रता आने वाली नही है।

स्नान से होता क्या है ? पानी का काम तो शरीर के ऊपर फैल कर ऊपरी गन्दगी को दूर कर देना है। मन की गन्दगी को दूर करना उसकी शक्ति से सर्वथा वाहर का काम है। शरीर के भीतर की गन्दगी भी उससे साफ नही हो सकती। ऐसी स्थिति मे जैन-धर्म हमारे सामने यह प्रश्न उपस्थित करता है कि तुम आचार-विचार को महत्व देते हो या जात-पाँत को ? यदि जात-पाँत को महत्व देते हो, तब तो

वह महत्व शरीर को ही प्राप्त होता है और शरीर सबका समान है। जैसा ब्राह्मण का है, वैसा ही शूद्र का है। यदि ब्राह्मण का शरीर पवित्र है, तो शूद्र का भी पवित्र है, और यदि शूद्र का अशुचि रूप है, तो ब्राह्मण का भी अशुचि रूप है।

भारत का वेदान्त दर्शन आत्माओ मे कोई भेद नहीं करता। वह प्रत्येक शरीर मे अलग-अलग आत्माएँ न मानकर, सब आत्माओ को एक इकाई के रूप मे ग्रहण करता है। वह सम्पूर्ण विश्व को ब्रह्म का ही स्वरूप मानता है और कहता है —

'ब्रह्म सत्य, जगन्मिथ्या।
नेह नानास्ति किञ्चन ॥"

अर्थात्—"इस ससार मे परब्रह्म ही सत्य है और उसमे कोई अनेक रूपता नही है। अलग-अलग जातियो की जो धारणा है, वह मोक्ष का मार्ग नही, यह तो आसुरी मार्ग है।" वेदान्त के आचार्यो ने इतनी बडी बात कह दी है, फिर भी पुरानी वृत्तियाँ अभी तक मर नही रही है। आचार्य आनन्दगिरि ने बतलाया है कि आचार्य शकर एक बार बनारस मे थे और गगा मे स्नान करके लौट रहे थे। रास्ते मे एक चाण्डाल, अपने कुत्तो को साथ लिए, मिल गया। रास्ता सकरा था, उसी पर वह सामने की ओर से चला आ रहा था। आचार्य शकर पवित्रता के चक्र मे पड गए। क्योकि चाण्डाल की मुझ पर कही छाया न पड जाय, इस विचार से वे खडे हो गए। पर, आचार्य के मनोभाव का अध्ययन कर चाण्डाल भी खडा हो गया। आचार्य ने कुछ देर इन्तजार किया, किन्तु जब

चाण्डाल मार्ग से अलग नही हुआ तो विवश होकर आचार्य ने कहा—"अरे हट जा, रास्ता छोड दे ! तुझे दीखता नही कि मै स्नान करके आया हूँ, पवित्र होकर आया हूँ और तू रास्ता रोककर खडा हो गया है।"

चाण्डाल ने कहा—"महाराज, एक बात पूछना चाहता हूँ। आप हटने को कहते है, पर मै हटूँ कैसे ?* मेरे पास दो पदार्थ है—एक आत्मा, और दूसरा शरीर। आत्मा चेतन है, और शरीर जड़ है। तब इनमे से आप किसे हटाने को कहते है ? यदि आत्मा को हटाने के लिए कहते है तो आपकी आत्मा और मेरी आत्मा—दोनो एक ही समान है। परब्रह्म के रूप मे जो आत्म-ज्योति आपके अन्दर विराजित है, वही मेरे अन्दर भी विद्यमान है। तो फिर मै आत्मा को कहाँ ले जाऊँ, और कैसे ले जाऊँ ? आत्मा१ तो व्यापक है और सम्पूर्ण ससार मे समान रूप से व्याप्त है। आप उसे हटाने को कहते तो है, किन्तु उसे हटाने की बात मेरी कल्पना से बाहर है।

---

*—अन्नमयादन्नमयमथवा चैतन्यमेव चैतन्यात्,
द्विजवर ! दूरीकर्तुं वाञ्छसि किं ब्रूहि गच्छ गच्छेति।
——मनीषा पञ्चक

१ आचार्य शकर वेदान्त मत के अनुयायी थे। वेदान्त की मान्यता के अनुसार, समस्त जड-चेतन विश्व, एक आत्म-तत्त्व का ही नाना रूप से प्रसार है। वस्तुत व्यापक आत्म-तत्त्व के अतिरिक्त और कुछ है ही नही। "ब्रह्म सत्य जगन्मिथ्या, नेह नानास्ति किञ्चन।'

यदि आप शरीर को हटाने के लिए कहते है तो शरीर पच भूतो मे वना है और वह जैसा मेरा है, वैसा ही आपका भी है। ऐसा तो है नही कि मेरा माम काला हो और आपका गोरा हो। जो रक्त आपके शरीर मे वह रहा है, वही मेरे मे भी वह रहा है। अत यदि आप शरीर को अलग हटने की वात कहते है तो वह मेरी समझ मे नही आती कि उसे कैसे अलग किया जाय, और क्यो अलग किया जाय ?

आचार्य आनन्दगिरि कहते है कि जब यह वात शकर ने सुनी तो वे आश्चर्य मे पड गए और उन्होने अपने कान पकडे! वोले—अभी तक वेदान्त की ऊँची-ऊँची वाते केवल कहने मात्र ही थी। "ससार मे एकमात्र परब्रह्म की ही सत्ता है", यह उपदेश ससार को तो खूब अच्छी तरह सुनाया, पर अपने मन का काँटा आज तक नही निकल सका था। मन का विप-विकार नही गया था। उसे आज आपने निकाल दिया। अतएव आप ही मेरे सच्चे गुरु है। आपने मेरे नेत्र खोल दिये है—

चाण्डालोऽस्तु स तु द्विजोऽस्तु,
गुरुरित्येपा मनीपा मम।

सत्य के चमत्कार को देखिए कि चाण्डाल को मार्ग मे हटाने वाले आचार्य शकर जरा-सी वात सुनते ही सन्मार्ग पर आ गए, पर आप रास्ते पर कब आएँगे ? आपके दिल का काँटा कब निकलेगा ?

इस प्रकार जातीयता के नाम पर ऊँच-नीच की ये

कल्पित दीवारे खडी करना सामाजिक हिसा है। निश्चित समझिए कि आपके हृदय में जितनी ज्यादा सकीर्णता तथा घृणा बढती है, उतनी ही अधिक हिंसा घर करती जाती है। कुछ वर्ष पूर्व विदेशी प्रभुत्व से मुक्त होकर भारत ने राजनीतिक स्वतन्त्रता तो प्राप्त की, परन्तु वह मानसिक सकीर्णताओ से मुक्त नही हो पाया। जिसका दु खद परिणाम हिन्दुस्तान और पाकिस्तान के बँटवारे के रूप मे प्रकट हुआ और रक्त की नदी तक बह निकली ? लाखो और करोडो आदमी इधर से उधर आ-जाकर बर्बाद भी हो गए। यह सब अमानुपिकताएँ किसका नतीजा थी ? मै तो साहसपूर्वक कहता हूँ कि यह एकमात्र घृणा का ही दुष्परिणाम था। और जब तक यह घृणा दूर नही होगी, तब तक हम छ करोड अछूतो से प्रेम नही कर सकेगे और हिन्दू तथा मुसलमान भी साथ-साथ नही बैठ सकेगे। साराश मे यही पर्याप्त होगा कि जब तक हमारे मन और मस्तिष्क मे किसी भी प्रकार की सकीर्णता रहेगी, तब तक सामाजिक हिसा की यह परम्परा चालू ही रहेगी और एक रूप मे नही, तो दूसरे रूप मे वह सामूहिक घृणा उत्पन्न करती रहेगी।

मनुष्य-जाति आज अनेक टुकडो मे बँट गई है और प्रत्येक टुकडा दूसरे टुकडे के प्रति घृणा का भाव प्रदर्शित करता है। आज कोई किसी के आचार-विचार को नही पूछता है, सिर्फ जाति को ही पूछता है और उसी के आधार पर उच्चता और नीचता की काल्पनिक नाप-तौल करता है। इन कल्पनाओ की बदौलत ही भारत मिट्टी मे मिल गया, परन्तु दुर्भाग्य है कि फिर

भी भारतवासियो ने इतिहास से कोई सबक नही सीखा।

जिस दिन भारतवासी मनुष्य के आचार-विचार की उन्नत करेंगे, मनुष्य का मनुष्य के रूप मे आदर करना सीखेगे और प्रत्येक मनुष्य दूसरे मनुष्य को भाई की निगाह से देखेगा, तभी भारत मे 'सामाजिक अहिंसा' की प्रतिष्ठा होगी और उस अहिंसा के फलस्वरूप ही सुख और शान्ति का सचार होगा।

भार्गव जी के वक्तव्य का सार

[कविश्री का प्रवचन सुनने के लिए आज श्री मुकुट-विहारीलाल भार्गव, एम ए एल-एल बी , तथा स्थानीय एम एल ए आदि अनेक प्रतिष्ठित नागरिक उपस्थित थे। कविश्री का प्रवचन समाप्त होने पर भार्गव जी ने मुक्त कठ से प्रवचन की सराहना और अनुमोदन करते हुए जो वक्तव्य दिया था, उसका सार इस प्रकार है :—]

अहिसा प्रेमी बन्धुओ! सौभाग्यवश, मै आज दूसरी बार भी कविश्री का प्रवचन सुनने के लिए उपस्थित हो सका हूँ। जब पहली बार आया था तो एक विशेष उद्देश्य को लेकर आया था और जानता भी था कि मुझे कुछ कहना है। परन्तु आज यह विचार नही था। आज तो एक जिज्ञासु की हैसियत से, उपाध्यायश्री के प्रभावशाली और ओजस्वी वचनामृत का पान करने के लिए ही उपस्थित हुआ था।

इसलिए मै कोई तैयारी करके नही आया हूँ।

आप सब भाइयो और बहिनो को मै अपने से अधिक भाग्यशाली मानता हूँ, जिन्हे प्रतिदिन एक विद्वान और एक विशिष्ट विचारक सत के ओजस्वी भाषण से लाभ उठाने का सुअवसर प्राप्त हो रहा है। निस्सन्देह मै कितना अभागा हूँ कि मुझे ऐसा सुअवसर प्रतिदिन नही मिल पाता। ससार के सैकडो झझटो मे फँसा हुआ हूँ, अत इच्छा रखते हुए भी चन्द मिनिट ही यह लाभ उठा पाया हूँ।

आज का प्रवचन सुनकर मै कितना मुग्ध हो सका हूँ ? यह आत्मानुभूति का विषय है, जिसकी विस्तृत व्यारया नही की जा सकती। फिर भी एक सामान्य श्रोता के रूप मे आज के प्रवचन का मेरे मन और मस्तिष्क पर जो प्रभाव पडा है, उसके निष्कर्ष मे यही कहना पर्याप्त समझता हूँ कि आज के प्रवचन की शैली कैसी मनोरम है! चिन्तन और मनन कितना गहन है!! भावना कितनी उदात्त है और विचार कितने ऊँचे है!!! इस प्रवचन मे जो उपदेश आए है, उनकी लडियाँ मेरे हृदय मे अब भी चमक रही है और उस चमक मे इतना उपादेय चमत्कार भी है कि उन पर महीनो विचार करूँ और उनसे लाभ उठाने की कोशिश करूँ तो अभीष्ट लाभ को प्राप्त कर सकता हूँ। ऐसे भाषण न केवल व्यक्ति के जीवन को ही, अपितु समाज और समूचे राष्ट्र को भी समान रूप मे ऊँचा उठा सकने मे पूर्णत समर्थ है। ये मौलिक विचार और इन विचारो को देने वाले कविश्री सरीखे विशिष्ट विचारक हमारे राष्ट्र की अमूल्य निधि है। मेरी

धारणा है कि इस प्रकार के प्रवचन सुनने वाले अगर चाहे तो अपने व्यावहारिक जीवन से चन्द दिनो मे ही त्याग और बलिदान के अभीष्ट लक्ष्य को प्राप्त कर सकते है।

मैने आज के प्रवचन से जो कुछ ग्रहण किया है, उसके लिए मै कविश्री के प्रति अपार कृतज्ञता प्रदर्शित करता हूँ।

———

—: ५ :—

शोषण भी हिंसा है

'आनन्द' श्रावक अपने जीवन के अन्तिम क्षण तक श्रावक ही रहे, साधु नही बने। फिर भी शास्त्र मे उनकी जीवन कहानी विस्तार के साथ दी गई है। भगवान् महावीर के चरणो मे पहुँचकर आनन्द ने जो आदर्श साधना की, यद्यपि वह श्रावक-जीवन की ही साधना थी, फिर भी वह इतनी महान् थी कि शास्त्र मे उसका वर्णन करना आवश्यक समझा गया। इसका मुख्य कारण यही है कि गृहस्थ-दशा मे रहकर भी आनन्द ने अपने कर्त्तव्य को शानदार ढग से पूरा किया। उनकी अहिसा कैसी थी ? उनका सत्य कैसा था ? उनके जीवन की पवित्रता कितनी उज्ज्वल थी ? और दूसरो के साथ उनके व्यवहार के तरीके कैसे थे ? यही सौन्दर्य-भरी सुवास आदर्श जीवन की परिचायक है और इसी के लिए शास्त्र मे उनकी गौरव-पूर्ण जीवन-कथा का उल्लेख अनिवार्य समझा गया। इसीलिए आज भी उनके पुनीत जीवन की स्वर्ण वेदी पर, अपार श्रद्धा भक्ति के साथ, वाणी के पुष्प चढाए जाते है।

इस विशाल भू-खड पर अतीत काल मे न जाने कितने चक्रवर्ती, अर्ध-चक्रवर्ती, राजा-महाराजा और सेठ-साहूकार आए है, जिन्होने अपने पराक्रम और वैभव से जमीन को कम्पित किया, जिन्होने झोपडियो के स्थान पर गगनचुम्बी प्रासाद खडे किये और हजारो-लाखो को अपने चरणो मे आजीवन झुकाए रखा। किन्तु, यह सब वैभव होते हुए भी यदि उन्होने व्यावहारिक जीवन मे सत्कर्म नही किये और प्रजा-हित की ओर ध्यान नही दिया तो उनका कोई उल्लेख नही मिलता, इतिहास उनके लिए मूक है। हाँ, उन्होने अपने जीवन मे जो गलतियाँ की थी, उनका चित्रण अवश्य मिलता हैं। उसमे यह दिखाने का प्रयत्न किया गया है कि इतने समृद्धिशाली होते हुए भी और इतनी अनुकूलताए प्राप्त करके भी उन्होने अपनी समृद्धि का और अनुकूलताओ का अच्छे ढग से उपयोग नही किया और इस कारण वे नीचे गिर गए।

रामायण, जैन और वैष्णव—दोनो धर्मो मे पढी जाती है। उस समय दो प्रबल शक्तियाँ सामने आई। एक 'राम' के रूप मे, और दूसरी 'रावण' के रूप मे। एक ओर रावण दुनिया के एक सिरे से दूसरे सिरे को थर्राता हुआ—कपित करता हुआ आता है, और दूसरी ओर उधर राम भी एक सुगठित शक्ति के साथ खडे हो जाते है। जिस प्रकार रावण राजा बनकर सामने आता है, वैसे ही राम भी राजा के रूप मे सामने आते है। दोनो ने तीन खण्ड तक अपना साम्राज्य स्थापित किया था। दोनो मे इतनी भौतिक समानताएँ

होते हुए भी राम के चरणो मे ही श्रद्धा के पुष्प चढाए जाते है, और रावण का अपमान किया जाता है। आखिर इसका रहस्य क्या है ?

रावण ने इतनी बडी शक्ति सगठित की और अपरिमित वैभव पाया, किन्तु वह उसका प्रयोग सदाचार के रूप मे नही कर सका। वह दुनिया के कल्याण का कोई काम नही कर सका। क्षुद्र वासनाओ की पूर्ति मे ही वह आजीवन लगा रहा। यह ठीक है कि इन्सान जब तक इन्सान है, उसकी आकाक्षाएँ और वासनाएँ प्राय मरती नही है। भूख लगने पर भोजन करना ही पडता है और प्यास लगने पर पानी भी पीना पडता है। परन्तु रावण की वासनाओ की कोई मर्यादा नही थी और यही कारण है कि सोलह हजार रानियाँ होने पर भी वह सीता को उडाने के लिए विवश हुआ।

उधर राम ने युद्ध अवश्य किया, पर किसी गरीब को सताने के लिए नही किया। वहाँ तलवार भी चमकती रही, किन्तु उसकी चमक का उद्देश्य दीन-दुखियो के कल्याण के लिए और अन्याय एव अत्याचार के प्रतिकार के लिए था। राम की तलवार किसी सती स्त्री पर बलात्कार करने के लिए नही चमकी।

सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाय तो पैसे वाले तो राम भी थे। वे भी सोने के सिहासन पर बैठे और उनका जीवन भी शानदार महलो मे गुजरा, राम को भी रावण के समान ही भोग-विलास के साधन मिले थे। फिर भी राम को आदर और सम्मान दिया जाता है। वह इसीलिए कि उन्होने इतनी

बडी ऊँचाई को और राजसिंहासन को पाने के बाद भी अपनी सुख सुविधा के साथ दूसरों के हित को भी समदृष्टि से देखा। उन्होने दूसरो की आँसू से गीली जिन्दगियो को भी देखा और यह भी देखा कि यदि मैं राजा बना हूँ तो केवल अपने भोग-विलास के लिए, अपनी वासनाओ की क्षुद्र पूर्ति के लिए नही, किन्तु प्रजा के कल्याण का गुरुतर उत्तरदायित्व पूरा करने के लिए बना हूँ। इसी दृष्टिकोण से उन्होने अपने कर्त्तव्य का पालन किया और इसी कारण आज भी ससार उनका गुणगान करता है।

जैन-धर्म किसी भी प्रकार के वर्गवाद को प्रश्रय नही देता। जाति-पाँति के आधार पर, सम्पत्ति के आधार पर, या किसी भी अन्य भौतिकता के स्थूल आधार पर पनपते हुए वर्गवाद का वह पक्ष नही लेता। जैन-धर्म गरीब या अमीर की पूजा नही करता है, और न उनकी निन्दा ही करता है। वह तो अपना एक विशिष्ट दृष्टिकोण रखता है और प्रत्येक वस्तु को उसी दृष्टिकोण से देखता और परखता है। वह अपने दृष्टिकोण के नाते उस धनवान् की भी प्रशसा करता है, जो धन को प्राप्त करता है, या प्राप्ति के लिए पुरुषार्थ करता है। किन्तु धन प्राप्त करते समय यदि न्याय और नीति को नही भुलाता और प्राप्त करने के बाद भी उसे न्याय-नीति से ही खर्च करता है। जो इस धन को प्राप्त करके अपना ही हित-पोषण नही करता है, अपितु दूसरो की भलाई मे भी उदारता-पूर्वक व्यय करता है।

यदि एक गरीब है और उसके पास पैसा नही है, किन्तु

उसका जीवन सुन्दर है और शानदार ढग से गृहस्थ की गाडी चला रहा है, वह भले ही किसी परिस्थिति-विशेष के कारण धन सग्रह नही कर सका हो, किन्तु न्याय और नीति यदि उसके साथ है तो इस दशा मे भी हम उसकी प्रशसा करेगे। ऐसे भी निस्सहाय लकडहारे हो चुके है, जिनकी जिन्दगी का निर्वाह होना मुश्किल था, किन्तु उनमे अच्छाइयाँ थी, तभी तो सन्तो ने उनकी गुण गाथा गाई है।

अभिप्राय यही है कि केवल धन होने से ही कोई प्रशसा का पात्र नही बन जाता और न धन के अभाव मे निन्दा का ही पात्र बनता है। इसी प्रकार निर्धन होने से ही कोई प्रशसा या अप्रशसा के योग्य नही हो जाता। जहाँ सद्गुणो के पुष्प हैं, वही प्रशसा की सौरभ है। किन्तु धनवान् या चक्रवर्त्ती होने पर भी यदि उनमे गुण नही है तो उनकी प्रशसा नही की गई है। एक ओर चक्रवर्त्ती भरत की प्रशसा से ग्रन्थ पर ग्रन्थ भरे पडे हैं, किन्तु दूसरी ओर अर्ध-चक्रवर्त्ती रावण और चक्रवर्त्ती ब्रह्मदत्त जैसे भी है जिन्हे अच्छाई की दृष्टि से नही देखा गया, अपितु जीवन पतित होने पर नरक मे जाने का स्पष्ट उल्लेख किया गया है। उनमे प्रशसा-योग्य गुण नही आए, न न्याय एव नीति ही आई और अपने पूरे जीवन मे वे प्रजा के हित का एक भी कार्य नही कर सके।

जैन-साहित्य मे ब्रह्मदत्त चक्रवर्त्ती का वर्णन आता है। ब्रह्मदत्त भोग-परायण व्यक्ति था। वह चक्रवर्त्ती के सिहासन पर बैठकर भी तदनुकूल अपने को ऊँचा नही उठा सका। उसका झुकाव जितना निज के पोषण मे था, उतना प्रजा के

पोषण मे नही था।

एक दिन जैन-जगत के प्रख्यात महामुनि चित्त, ब्रह्मदत्त से मिले। उन्होने चक्रवर्त्ती के समक्ष एक आदर्श रखा कि—"यदि तुम ज्यादा कुछ नही कर सकते, तो कम से कम आर्य-कर्म तो करो, प्रजा के ऊपर तो दया करो। जिस प्रजा के खून-पसीने की गाढी कमाई से तुम वैभवशाली महल खडे कर रहे हो, उस प्रजा पर तो अनुकम्पा करो —

जइ तंसि भोगे चइउं असत्तो,
अज्जाइ कम्माइ करेह राय।
धम्मे ठिओ सव्वपयाणुकम्पी,
तो होहिसि देवो इओ विउव्वी॥

—उत्तराध्ययन १३, ३२

मुनि कहते हैं-"यदि तुम प्रजा पर करुणा की एक बूँद भी बरसा सके, तो भी अगले जीवन मे देवता बन सकोगे। नरक और निगोद मे नही भटकते फिरोगे। इससे तुम्हारी जिन्दगी यहाँ, वहाँ सब जगह आराम से कटेगी।

एक राजा अपनी प्रजा के लिए कल्याण-बुद्धि से काम करता है तो वह यहाँ और आगे भी परम अभ्युदय प्राप्त करता है। उसके चक्रवर्त्ती होने के नाते हम उसकी प्रशसा या निन्दा नही करते है। हम तो केवल गुणो की प्रशसा और दुर्गुणो की कटु आलोचना करते है। यदि कोई गरीब चोरी करता है, दुनिया भर की गुण्डागीरी करता है और बुराइयो से काम लेता है, न तो वह अपनी गरीबी को आनन्द-पूर्वक स्वीकार करता है, और न विषम परिस्थितियो से

न्यायपूर्वक सघर्ष ही करता है, ऐसी दशा मे हम उसकी प्रशसा कदापि न करेगे , उसके अन्याय, अनाचार और गुण्डापन की घोर निन्दा ही करेगे।

जैन-धर्म तो एक ही सन्देश लेकर चला है कि—तुमने ससार को क्या दिया है और ससार से क्या पाया है ? क्या तुमने मनुष्य के साथ मनुष्योचित व्यवहार किया है ? इन्सान होकर भी इन्सान का का-सा उठना, बैठना, वोलना और चलना सीखा है या नही ? यदि सीख लिया है और सदाचरण की परीक्षा मे उत्तीर्ण भी हो चुके हो तो इन मनुष्योचित सद्गुणो की तुलना मे तुम्हारी निर्धनता को बिल्कुल नगण्य मानकर हम तुम्हारा सम्मान करते है। इसके विपरीत यदि जिन्दगी मे गरीब या अमीर रहते हुए भी इन्सानियत का पाठ नही सीखा और इन्सान के साथ इन्सान का-सा मानवीय व्यवहार नही सीखा, तो हम सम्राट् और गरीब दोनो से ही कहेगे कि तुम्हारा व्यावहारिक जीवन गलत और दोषपूर्ण है और तुम हमारी ओर से अंशमात्र भी प्रशसा प्राप्त नही कर सकते ! जैन-धर्म तुम्हारे लिए प्रशसा का एक शब्द भी नही कह सकता। भगवान् महावीर ने साधुओ से कहा है —

जहा पुण्णस्स कत्थइ, तहा तुच्छस्स कत्थइ।
जहा तुच्छस्स कत्थइ, तहा पुण्णस्स कत्थइ॥

—आचाराग, प्र० श्रु०

यदि तुमको एक भाग्यशाली सम्राट्, सेठ या साहूकार मिल जाए तो तुम दृढतापूर्वक, अपने मन मे किसी भी प्रकार का दबाव न रखते हुए, स्पष्ट भाव से उपदेश दे सकते हो,

और यदि कोई निर्धन मिले तो वही उपदेश उसे भी उसी भाव से दो। जिस प्रेम एवं स्नेह से चक्रवर्ती सम्राट् को उपदेश देते हो, वही प्रेम और स्नेह किसी गरीब के लिए भी रखो। अपने अन्तःकरण में दोनों के लिए समान प्रेम और समान स्नेह का आदर्श सन्देश लेकर चलो।

हमें समाज से नहीं, किन्तु समाज के अन्तःस्थल में बैठे हुए और समाज को सही मार्ग से विचलित कर कुपथ पर ले जाने वाले कुविचारों से लड़ना है।

भगवान् महावीर के युग में ब्राह्मण जाति की समस्या कितनी उलझी हुई थी? जगह-जगह याज्ञिक हिंसा हो रही थी, संहार का नगा नाच हो रहा था और खून की नदियाँ बह रही थी। परन्तु भगवान् महावीर ने ब्राह्मण जाति का अंशमात्र भी विरोध नहीं किया, वरन् उस समय फैली हुई कुरीतियों को सुरीति में एवं दुर्नीति को सुनीति में परिणत करने के लिए स्पष्टोक्ति से काम लिया। उनके पास यदि राजा श्रेणिक या कोणिक आए तो भी, और निर्धन लकड़हारे आए तो भी, उन्होंने समान भाव और अदम्य साहस के साथ देश में फैली हुई बुराइयों के विरोध में जोरों से आन्दोलन चालू रखा। इसी प्रकार यदि कभी प्रशंसा का अवसर आया तो राजा की भी प्रशंसा की, और गरीब की भी की।

ऐसा अशोभनीय वर्ग-भेद एक अंश में भी प्रकट नहीं हुआ कि किसी राजा की राज्य-प्रभुता भगवान् महावीर को प्रभावित कर सकी हो और तदनुसार उन्होंने किसी रंक के प्रति भर्त्स्ना-

पूर्ण व्यवहार किया हो। उनकी निर्मल दृष्टि मे किसी भी प्रकार का भेद-मूलक अपवाद अन्तिम क्षण तक पैदा नही हुआ था।

हमारे जीवन की जो पृष्ठ-भूमि है, वह तो इतनी ऊँची और विराट है, किन्तु उसकी तुलना मे आज हम इतने नीचे आ गए है कि उसको अच्छी तरह छू भी नही सकते है। आचरण-हीनता के कारण हमारा कद छोटा हो गया है, जबकि सिद्धान्त का कद बहुत ऊँचा है। जैसे बौना आदमी किसी लम्बे कद वाले के पास खडा हो और वह उसके कधे को नही छू पाता हो, उसी प्रकार हम आज अहिसा और सत्य को नही छू पा रहे है। अतएव मेरे कथन का आशय यही है कि आपके आचरण का जो कद बौना हो गया है, उसे उत्तम विचारो के द्वारा ऊँचा बनाने की आवश्यकता है। शरीर का कद छोटा है या बडा, इससे कोई प्रयोजन नही है।

एक बार भगवान् महावीर से पूछा गया कि किस कद वाले को मुक्ति प्राप्त होती है ? तो उन्होने कहा—पॉच-सौ धनुष का कद वाला भी मोक्ष पा सकता है और एक बौना भी। हॉ, तो भगवान् ने शरीर के कद को कोई महत्व नही दिया, किन्तु विचारो के कद को महत्वपूर्ण और अनिवार्य माना है। यदि कोई साधक शरीर से बौना है किन्तु उसके विचारो का कद ऊँचा हो गया है, ऊँचा उठते-उठते तेरहवे और फिर चौदहवे गुण-स्थान तक पहुँच गया है तो वह अवश्य मुक्त हो जाएगा। इसके विपरीत पॉच-सौ धनुष का शरीर का कद होने पर भी यदि किसी व्यक्ति के विचारो का कद

छोटा है तो उसे मोक्ष नही मिल सकता ।

जब हम इस विषय पर विचार करते है तो ज्ञात होता है कि शास्त्रो की जो अहिंसा और दया है, उसका कद तो बहुत ऊँचा है । किन्तु आजकल की हमारी अहिंसा और दया का अर्थात्—जिस रूप मे आज हम अहिंसा या दया का व्यवहार कर रहे हैं और जिस रूप मे उसे समझ रहे है, उसका कद बहुत छोटा है । किन्तु जब समाज और राष्ट्र के विचारो का कद शास्त्रीय अहिंसा के कद की ऊँचाई पर पहुँचेगा तभी वे अपना उत्कर्ष साध सकेंगे ।

आज सारे संसार मे वर्ग-संघर्ष चल रहा है । यदि अकेला इन्सान है तो उसका मन भी अस्तव्यस्त है और यदि परिवार मे दस-बीस आदमी है तो वे सब भी बेचैन है । सारे समाज में, देश मे और छोटी या बडी प्रजा मे चारो ओर संघर्ष है । प्रत्येक व्यक्ति के मन मे अशान्ति की आग सुलग रही है । मानो, हम सब बीमार बन गए है । प्रत्येक व्यक्ति, प्रत्येक समाज और प्रत्येक राष्ट्र आज इसी बीमारी का अनुभव कर रहा है ।

अस्तु, प्रश्न यह है कि इस आग और बीमारी का मूल कारण क्या है ? इन्सान के ऊपर जो दु ख और संकट आ पडा है, वह कहाँ से आया है ? और किस मार्ग से आया है ? जैन-धर्म अपने विश्लेषण के द्वारा यह निर्णय करता है कि प्रकृति की ओर से ये दु ख नही आए है । प्रकृति की ओर से आने वाले दु ख कादाचित्क और अल्प होते है । जैसे—कभी भूकम्प आ जाता है तो मनुष्य घबरा जाता है, कभी वर्षा ज्यादा हो जाती है या सूखा पड जाता है तब भी

मनुष्य सन्त्रस्त हो जाता है। परन्तु ये समस्त घबराहटे मामूली है। प्रतिदिन भूकम्प की दुर्घटनाएँ नही हुआ करती और ऐसी दुर्घटनाओ के समय भी यदि आपदा पीडित इन्सान, इन्सान का दिल लेकर किसी उदारमना इन्सान के पास पहुँच जाता है तो वह प्रकृतिजनित दु ख भी भूल जाता है। कभी-कभी इन्सान के ऊपर जगली जानवरो के द्वारा भी दु ख आ पडते है। जैसे—कभी लकडबग्घा बच्चे को उठाकर ले जाता है या भेडिया बकरी-भेड को ले भागता है। परन्तु आजकल इन सारे उपद्रवो पर भी इन्सान ने विजय प्राप्त करली है, क्योकि निर्जन स्थानो पर बडे-बड़े नगर बस गए है, आवास की व्यवस्था ठीक-ठीक चल रही है और जगली जानवर विवश होकर जगलो मे अपना मुँह छिपाए पडे है। फिर भी आज का मनुष्य दु खो से पीड़ित है, अत प्रश्न होता है कि ऐसा क्यो हो रहा है ?

मानव-समाज के समस्त दु.खो का प्रमुख कारण मनुष्य की दुर्वृत्ति ही है। आज मानव-समाज मे ही अनेक लकड़बग्घे और भयकर भेडिए पैदा हो गए है। चारो ओर खूँखार भेड़िए ही भेडिए नजर आते है। उनका शरीर तो मनुष्य का-सा अवश्य है, पर दिल मनुष्य का नही, हिंसक भेडिया का है। मनुष्य मे मनुष्योचित सद्भावना नही रही है। अभिप्राय यही है कि मनुष्य के भीतर जो क्रोध, मान, माया, लोभ आदि वासनाएँ हैं, वे गृहस्थ-जीवन को बिगाड़ रही है, साधु समाज को भी समाप्त कर रही है और समाज एव राष्ट्र को भी क्षीण कर रही हैं। साराश मे मनुष्य को मनुष्यकृत दु ख ही प्राय. सता रहे हैं।

आप जब कभी दस-पाँच आदमी इकट्ठे बैठकर आपस मे बाते करते है और कभी किसी से उसके दुख की बात पूछते है, तभी आपको दुख का स्पष्ट अनुभव होता होगा। अपने विचारो की तराजू पर तोलकर देखिए कि प्रकृति-जन्य तथा हिंसक पशुओ द्वारा होने वाले दुख उनमे से कितने है ? और मनुष्यो द्वारा पैदा किये हुए दुख कितने है ? इस भेद को समझने मे अधिक देर नही लगेगी कि—मनुष्य ही मनुष्य पर अधिकाश विपत्तियाँ लाद रहा है और दुखो के पहाड ढाह रहा है। कोई कहता है—अमुक मनुष्य ने मेरे साथ विश्वासघात किया है। एक बहिन कहती है कि मेरे प्रति सास का व्यवहार अच्छा नही है, और प्रतिवाद मे सास कहती है कि बहू का बरताव अच्छा नही है। इसी प्रकार पिता, पुत्र की और पुत्र, पिता की शिकायतें करते है। कही भाई-भाई के बीच दुर्व्यवहार की दुखद कहानी सुनी जाती है। इस प्रकार जितने भी आदमियो से बाते करेंगे, उन सबसे यही मालूम होगा कि आदमी को आदमी से जितनी शिकायत है, उतनी कुदरत और वन-पशुओ से नही है। कथन का अभिप्राय यही है कि मनुष्य का मनुष्य के प्रति आज जो व्यवहार है, वह सन्तोषजनक नही है और सुखप्रद नही है, बल्कि असन्तोष, अशान्ति और दुख पैदा करने वाला है।

राम को चौदह वर्ष का वनवास क्यो भोगना पडा ? मथरा के द्वारा कैकेयी के विचार बदल दिये गए। कैकेयी की भावना दूषित हो गई, तदनुसार वह गलत ढग पैदा

हुआ कि राम को वनवास मिला, और रामायण की कथा लवी होती गई। सारी कहानी आदमी के द्वारा खडी की गई और आदमी के द्वारा ही विस्तृत हुई। राम वन में जाकर रहे तो वहाँ रावण सीता को उठाकर ले गया। इस प्रकार आदमी ने आदमी को चैन से नही वैठने दिया। और जव राम आततायी रावण को जीतकर वापिस अयोध्या लौटे तो उन्होने सीता को वनवास दे दिया। यह सव मनुष्य की ओर से मनुष्य को दु ख देने की एक लवी कहानी है।

इस सम्वन्ध मे चाहे कोई कुछ भी कहता हो, किन्तु मैं अपने वौद्धिक विश्लेपण के आधार पर यह कहता हूँ कि राम ने सीता का त्याग करके न्याय नही, अन्याय किया। हाँ, यदि राम स्वय भी सीता को पतित समझते होते तो उनका कार्य उचित कहा जा सकता था, परन्तु उन्हे तो सीता के सतीत्व पर और उसकी पवित्रता पर पूर्ण विश्वास था। फिर भी उन्होने अपनी गर्भवती पत्नी को भयानक जंगल मे छोड दिया। जो राम प्रभावशाली रावण के सामने नही झुके, वे एक नादान धोवी के सामने झुककर इतिहास की वहुत वडी भूल कर वैठे। यदि उन्हे राजा का आदर्श उपस्थित करना ही था तो वह स्वय सिहासन छोड़कर अलग हो जाते। परन्तु मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि इस स्थल पर वे आदर्श राजा का उदाहरण भी उपस्थित नही कर सके। आदर्श राजा अभियुक्त को अपनी सफाई देने का अवसर देता है, पर राजा राम ने सीता को ऐसा अवसर नही दिया। यहाँ तो सीता को अभियोग का पता भी नही

लगने दिया जाता, और जब पता लगा तो उसने पहले उसे दण्ड दे दिया गया।

बतलाइए,—सीता पर यह दुःख कहाँ से आ पड़ा? राम ने ही तो उस पर यह दुःख लादा है। इस प्रकार आदमी ने ही आदमी पर दुःख लाद दिया। पति ने ही पत्नी को दुर्दिन के दावानल में झोंक दिया! सीता को कैसे रहस्य-पूर्ण ढंग से, यात्रा कराने के बहाने लक्ष्मण वन में ले जाते है। वन में पहुँचने पर सीता के परित्याग का जब अवसर आता है तो लक्ष्मण के धैर्य्य का बाँध टूट जाता है—वन-पशुओं की वेदनामय और अश्रुपूर्ण सहानुभूति पाकर उनकी करुणा फूट पड़ती है! आज तक लक्ष्मण रोया नहीं था। संकट में, विषमता में, कभी उसने आँसू नहीं बहाया। यहाँ तक कि मेघनाथ के द्वारा शक्ति बाण लगने पर भी उसकी आँखों से एक आँसू नहीं गिरा। पर, आज वही धैर्य्य की अचल प्रतिमा-सा लक्ष्मण क्यों रो पड़ा? और सीता के पूछने पर जब उसने रहस्य खोला तो सीता भी रो पड़ी। सारा वन रुदन करने लगा, पशु और पक्षी भी रोने लगे। उस समय लक्ष्मण ने कहा था —

> "एते रुदन्ति हरिणा हरितं विमुच्य,
> हंसाश्च शोकविधुरा करुणं रुदन्ति।
> नृत्यं त्यजन्ति शिखिनोऽपि विलोक्य देवीं,
> तिर्यग्गता वरममी न परं मनुष्याः॥"
>
> —कुन्दमाला

अर्थात्—देखो, इन हिरनों को! हरी-हरी दूब खाना

छोडकर ये रो रहे है! और ये इस शोक के मारे कैसा करुणक्रन्दन कर रहे है। सीता की मुसीबत देखकर मयूरो ने नाचना बन्द कर दिया है। सम्पूर्ण प्रकृति शोक से विह्वल हो रही है। हाय, हम मनुष्यो से तो ये पशु-पक्षी ही अच्छे है। कहाँ हमारी निष्ठुरता और कहाँ इनकी दयालुता और कोमलता!

मनुष्य का मनुष्य के प्रति, यहाँ तक कि पति का पत्नी के प्रति और पिता का पुत्र के प्रति, पुत्र का पिता के प्रति जो अशोभनीय व्यवहार देखा जाता है, उसे देखते हुए लक्ष्मण यदि मनुष्यो की अपेक्षा पशुओ को श्रेष्ठ कहते है तो कोई आश्चर्य न होगा। पशु कम से कम एक मर्यादा मे तो रहते है। वे अपनी जाति के पशु पर तो अत्याचार नही करते। सिह कितना ही क्रूर क्यो न हो, पर वह भी अपने सजातीय सिह को तो कभी नही खाता। एक भेडिया दूसरे भेडिया को तो नही मारता। पर, क्या मनुष्य ने इस पवित्र मर्यादा को कभी स्वीकार करने का स्वप्न मे भी विचार किया है?

दूसरी ओर पशु, जब पशु पर आक्रमण करता है तो वह पर्दे के पीछे से वार नही करता, सीधा आक्रमण कर देता है। किन्तु मनुष्य, मनुष्य को धोखा देता है, भुलावे मे डालता है, विश्वासघात करता है और पीठ मे छुरा भौकता है।

सच पूछो तो मनुष्य ही मनुष्य के लिए सब से ज्यादा भयकर है। मनुष्य को मनुष्य से जितना भय है, उतना शायद और किसी भी हिसक पशु से नही है।

महाभारत का आदि से अन्त तक पारायण कर जाइए।

आपको उससे क्या मिलेगा ? यही कि एक के हृदय में लोभ उत्पन्न होता है, तृष्णा जागती है और उसी का कुपरिणाम महाभारत के रूप में आता है, जिसने सारे भारत को वीरान बना दिया। इस प्रकार हम देखते हैं कि क्या रामायण काल में, क्या महाभारत काल में और क्या वर्तमान में, केवल मनुष्य ही मनुष्य पर दु खो और मुसीबतों का पहाड़ लादता रहा है। मनुष्य ही मनुष्य के सामने राक्षस और दैत्य बनकर आता है और उसका मनमाना शोषण करता है।

कहा जाता है कि कुछ अङ्गरेज एक चिड़िया-घर देखने गए, वहाँ उन्होंने शेरों और भेड़ियों को गरजते देखा। वे आपस में कहने लगे —इन्होंने न जाने कितनी शताब्दियाँ गुजार दी, फिर भी ये हैवान के हैवान ही रहे। इन्होंने अपनी पुरानी आदतें नहीं छोड़ी। इनका कैसे विकास होगा ? इस प्रकार शेरों और भेड़ियों की आलोचना करते-करते ज्यों ही वे बाहर आते हैं तो देखते हैं कि उनकी जेब काट ली गई है। जिनकी जेब काट ली गई थी, वे कहने लगे—हम शेर और भेड़ियों की आलोचना करते-करते नहीं अघाते थे, पर उन्होंने जेब काटना तो नहीं सीखा। किन्तु विकास-प्राप्त आदमी ने तो आदमी की जेब काटने की कला भी सीख ली है।

अङ्गरेज के उक्त कथन में भले ही कुछ व्यंग हो, किन्तु सूक्ष्म बुद्धि से विचार करने से मालूम होगा कि वह कथन झूठा नहीं है। इन्सान ही इन्सान की जेब काटने को तैयार होता है, और इन्सान ही इन्सान का शोषण करता है

फिर भले ही वह व्यापार के रूप मे हो या किसी दूसरे रूप मे ।

कल की एक विचार-सभा मे व्याज के सम्बन्ध मे विचार व्यक्त किया जा रहा था कि व्याज का धन्धा आर्य है या अनार्य ? और सामाजिक दृष्टि से उसमे औचित्य है या नही ? यदि औचित्य है तो किस हद तक ? इस सम्बन्ध मे मैंने कहा था कि मै क्या निर्णय दूँ ? और यदि शास्त्रो के पन्ने भी उलटे जाएँगे तो भी क्या निर्णय मिलने वाला है ? आपके पास आपका हृदय ही महाशास्त्र है । आपका यह हृदय-शास्त्र स्वय इतना विशाल है कि दूसरे समस्त शास्त्र उसमे समा सकते हैं । हमारे समस्त शास्त्र भगवान् महावीर के हृदय से आए है । मानव-हृदय विचार-मौक्तिको का विराट सागर है । शुद्ध हृदय के विचार-मौक्तिक ही शास्त्र बन कर चमकते है ।

जैन-धर्म विवेक को सर्वोपरि स्वीकार करता है । ससार मे जितने भी व्यवसाय चल रहे है और जिन्हे आप आर्य-व्यापार मानते है, उनमे भी विवेक की अनिवार्य आवश्यकता है। परन्तु हम धर्म की आत्मा—विवेक की ओर कभी ध्यान नही देते और उसके बाह्य रूप मे ही उलझ जाते है । अमुक ढग का तिलक लगाना धर्म है, और अमुक तरह का तिलक लगाना अधर्म है । चोटी कटा लेना धर्म है, और न कटवाना अधर्म है ।

एक बार एक कनफटा साधु मिला तो उसने कहा—आप भी कान छिदवा लीजिए । बिना कान फडवाए साधु कैसे हो गए ? उसका अभिप्राय यही था कि यदि कान फडवा

लिए जायँ तभी धर्म है, और यदि नही फडवाए जायँ तो धर्म नही है। आशय यह है कि हमारे यहाँ आमतौर पर ये धारणाएँ फैली हुई है कि यदि अमुक क्रिया अमुक ढग से की जाय तव तो धर्म है, नही तो धर्म नही है। इसी प्रकार यदि अमुक ढग के वस्त्र पहने जायँ तभी धर्म होगा, अन्यथा नही। परन्तु जैन-धर्म इन सवसे ऊपर उठकर कहता है कि—विवेक मे ही धर्म है। श्रीमद् आचाराङ्गसूत्र मे कहा भी गया है—

"विवेगे धम्ममाहिए।"

जैन-धर्म मे कहने-सुनने की हिंसा से कोई सम्वन्ध नही है, बोल-चाल के सत्य और असत्य से भी सम्वन्ध नही है, किन्तु विवेक के साथ सीधा और सच्चा सम्बन्ध है। अहिंसा का नाटक तो खेला, किन्तु यदि उसमे विवेक को स्थान नही दिया गया तो वह अहिंसा नही है। विवेक के अभाव मे वह पूरी तरह हिंसा बन जायगा और अधर्म कहलाएगा। किसी ने साधुपन ले लिया या श्रावकपन ले लिया, किन्तु विवेक नही रखा तो क्या वह धर्म हो गया? जैन-धर्म के अनुसार जिस क्षेत्र मे जितने अशो मे विवेक है, उतने ही अशो मे धर्म है, और जितने अश मे अविवेक है, उतने ही अशो मे अधर्म है। जैन-धर्म छापा या तिलक वगैरह मे धर्म-अधर्म नही मानता। यहाँ तो एक ही तराजू है, एक ही मापक है और वह दुनिया से निराला मापक है—विवेक

मै आपसे पूछना चाहता हूँ, रुपया क्या है? और इसकी क्या उपयोगिता है? यह तो बोझ की तरह है। एक रुपया

लीजिए, उसे तिजोरी मे बन्द कर दीजिए और कई वर्षो के वाद उसे निकालिए। वह एक-का-एक ही निकलेगा। अनेक वर्ष बीत जाने पर भी दूसरा रुपया उससे पैदा नही हो सकेगा। इस प्रकार रुपया अपने आप मे बॉझ है। जब आप उसे किसी उद्योग-धन्धे मे लगाते है, खेती-बाड़ी मे लगाते है, या ब्याज मे लगा देते है, और जब रुपया आदान-प्रदान के फलस्वरूप हलचल मे आता है, तभी वह जिन्दा होता है। इसके विपरीत जब तिजोरी मे कैद रहता है तो मुर्दा बन जाता है। इस प्रकार रुपया दो तरह का है—मुर्दा रुपया, और जिन्दा रुपया।

मेरे कहने का आशय यह न समझ लीजिए कि रुपया सजीव और निर्जीव-दोनो तरह का होता है। यहाँ यह मतलब नही है। कभी-कभी गलतफहमी भी हो जाया करती है। जैसे एक दिन मैने कहा था कि बुद्ध के शिष्य आनन्द ने चाण्डाल कन्या के हाथ का पानी पिया था, तो किसी ने समझ लिया कि आनन्द श्रावक ने ही पी लिया। बस, हलचल शुरू हो गई।

हाँ, तो रुपए के जीवित होने का अर्थ इतना ही है कि—जब रुपया हलचल मे आता है तो वह व्यक्ति, समाज एव राष्ट्र के लिए 'खाना' लाकर देता है। और मुर्दा होने का अर्थ है कि—जब वही रुपया चारो ओर से हटकर जमीन मे दब जाता है या तिजोरी मे बन्द हो जाता है तो वह किसी व्यक्ति के लिए, समाज के लिए या राष्ट्र के लिये भोजन नही ला सकता। यही रुपए का मुर्दापन है। इसीलिए गृहस्थ उसे चलता-फिरता रखना चाहता है। परन्तु रुपए को क्रिया-

शील वनाते समय यह ध्यान अवश्य रखना चाहिए कि मेरा रुपया अनीति और अन्याय के मार्ग पर न चले, न लगे। पर दुर्भाग्यपूर्ण कठिनाई यही है कि इस बात का ध्यान नही रखा जाता।

आपके पास जब एक सेठ आता है और कुछ रुपया चाहता है तो व्याज की दर कम हो जाती है। किन्तु जब एक साधारण आदमी आता है, जिसको रुपए की अनिवार्य आवश्यकता है, जो पैसे के अभाव मे खिन्न-चित्त और दुखी है, और यहाँ तक कि पैसे के विना उसका परिवार भूखो मर रहा है। उसने व्यापार किया है और उसमे उसे गहरी चोट लगी है। अव उसे पैसे की आवश्यकता पड गई है और न मिलने पर उसका परिवार वर्वाद हो सकता है और उसकी आबरू को धक्का लग सकता है। और यदि समय पर रुपया मिल जाता है तो अपनी और अपने परिवार की जिन्दगी वचा सकता है, और अपनी इज्जत भी कायम रख सकता हे। किन्तु खेद है, उसकी आवश्यकता को अनुभव करके आपकी तरफ से व्याज की दर वढ जाती है। इसका स्पष्ट अभिप्राय तो यह हुआ कि शक्तिशाली हाथी पर तो भार कम लादा जाता है, और अशक्त खरगोश पर ज्यादा से ज्यादा लादने की कोशिश की जाती है! इस प्रवृत्ति को आप या कोई भी विवेकशील व्यक्ति, क्या न्यायसगत कह सकता है?

जैन-धर्म एक वडा ही विवेकशील धर्म है। वह हर सत्य को तोलने के लिए अनेकान्त की तराजू लेकर चलता है।

अस्तु, इसी तराजू पर हमे ब्याज के धन्धे को भी तोलना है।

इस प्रसग पर हमे स्मरण रखना चाहिए कि समाज की कुरीतियो के कारण भी अनेक चीजे बुराई बन गई है। श्रीमत की अपेक्षा गरीब से दुगुना और तिगुना ब्याज लेना, और एक बार रुपया देकर फिर शोषण के रूप मे ब्याज चालू रखना, ब्याज के धधे की बुराइयाँ है। धनिक वर्ग की अर्थ-लिप्सा ने इस ब्याज व्याधि को प्रेरित किया और जब यह बहुत ज्यादा बढ़ गई तो सरकार को ब्याज के धन्धे पर अकुश लगाने की आवश्यकता अनुभव हुई और उसने अनेक प्रकार के अकुश भी इस पर लगाए है। साहूकार एक बार रुपया दे देता है और फिर इतना शोषण करता है कि मूल रकम तो सदैव बनी रहती है और कर्जदार वर्षो तक ब्याज मे फँसा रहता है। ब्याज के रूप मे जब तक किसी समर्थ का दुग्ध-दोहन किया जाता है, तब तक तो किसी हद तक ठीक है, किन्तु गरीब कर्जदार के रक्त को चूसना, कैसे ठीक कहा जा सकता है ?

गाय पाली जाती है और उसे भूसा भी खिलाया जाता है। अस्तु, यह तो ठीक है कि कोई भी गोपालक बदले मे गोबर ही लेकर सन्तोष नही मान सकता, वह गाय का दूध भी लेना चाहता है। हाँ, तो जहाँ तक गाय से दूध लेने का सवाल है, गोपालक का अपना हक है। और इससे कोई भी इन्कार नही कर सकता। परन्तु गाय को दुहते-दुहते जब दूध न रहे तो उसका रक्त दुहना अनुचित ही नही, अनैतिक भी है। ऐसा करने मे न तो आर्यत्व ही है और न इन्सानियत ही, बल्कि स्पष्ट नर-पशुता है।

आपने गाय की सेवा की है, उसे खिलाया-पिलाया है, रहने को जगह दी है, यदि वह बीमार हुई तो उसकी सेवा भी की है। इस प्रकार उसकी सुख-सुविधा का सारा उत्तरदायित्व भी आपने अपने ऊपर ले रखा है। और जब उसके दुहने का प्रसग आता है तब भी सारा का सारा दूध नही दुह लेते हो, किन्तु उसके बच्चे के पोषण के लिए भी कुछ छोड देते हो। यही उदार वृत्ति व्याज के सम्बन्ध मे भी होनी चाहिए। जब आप किसी को व्याज पर रुपया दे, तो अपने हिस्से का न्याय-प्राप्त धन-दूध यथावसर उससे ले सकते है, परन्तु उसके परिवार के भरण-पोषण के लिए भी कुछ अवश्य बचने दे। यहाँ तक तो व्याज का धधा अक्षम्य नही समझा जाता, किन्तु उसके परिवार के लिए यदि आप एक घूँट भी नही बचने दे, तब तो वह अवश्य ही अक्षम्य हो जाता है।

मैने सुना है, भारत के कुछ प्रान्तो मे तो नौ रुपया सैकडा तक व्याज लिया जाता है। फिर भी गरीब रुपया लेने को तैयार हो जाता है। आवश्यकता पडने पर वह रुपया ले लेता है, पर जब परिस्थितियो से लडकर भी वह रुपया अदा नही कर पाता, तो सूदखोर साहूकार उसका माल-असबाव और घर तक नीलाम करा लेता है। इस तरह गाँव के गाँव वर्बाद हो जाते है।

एक भारतीय राजर्षि ने राजा को राज-धर्म बतलाते हुए कहा है :—

"हे राजन्! तेरी प्रजा तेरी गाय है। तू उसका दूध दुह सकता है, क्योकि तू उसकी रक्षा करता है और समय-

समय पर उसे अन्याय से बचाता है, और जब लुटेरे उसे लूटते है तब तू देश को लूटमार से बचाता है। इस प्रकार जब तू प्रजा की सेवा करता है तो इसका प्रतिफल तुझे टैक्स के रूप मे मिलता है। जब तक दूध आता है, तू अवश्य दुह ले, किन्तु जब दूध के बजाय रक्त आने लगे, तो तुझे दुहने का हक नही है।"

नीतिकार ने यह बात राजा से कही है। राजा तो राजा है, किन्तु व्यापारी उससे भी ऊँचे है। कहा जाता है कि पहला नम्बर शाह का है और बाद मे बादशाह का। अभिप्राय यह है कि व्यापारी, सेठ या और भी, लेन-देन का धन्धा करने वाला एक तरह से शाही धधा करता है और समय पडने पर राजा भी उससे भीख माँगता है। इस प्रकार उसके व्यापार के हाथ ऐसे है कि व्यापारी का स्तर ऊँचा माना जाता है और राजा का नीचा।

जब साहूकार को इतना ऊँचा दर्जा मिला है तो उसे सोचना चाहिए कि उसके कर्जदार की क्या हालत है? कर्जदार की आर्थिक स्थिति जब तक ठीक है, तब तक उससे न्याय-नीति पूर्वक अपना हिस्सा लिया जाए। परन्तु जब उसकी स्थिति ठीक न हो, तो उसे और अधिक देना चाहिए तथा व्यवसाय का लाभप्रद उपाय बताना चाहिए, जिससे कि अमुक ढग से कार्य करने पर उसका घर भी बन जाएगा और जब उसका घर बन जाएगा तो आप भी कमा लेगे। यह पद्धति ठीक नही कि किसी को रुपया तो दे दिया, किन्तु फिर कभी यह मालूम ही नही किया कि वह किस अनुचित एव हानिकारक

ढग पर लगाया जा रहा है। कर्जदार आपत्ति-सागर मे से ऊपर उभर कर आ रहा है, या अधिकाधिक गहराई मे डूबता जा रहा है ?

रुपया दिया जाता है, तो उसके साथ मानवीय उदारता तथा प्रेम भी दिया जाना चाहिए। और प्रेम-दान का सच्चा अर्थ यह है कि वह कर्जदार भी आपके परिवार का एक सदस्य वन गया है। और जव सदस्य वन गया है तो वह आपका एक अभिन्न अङ्ग वन चुका है। इस तरह, जैसे आपको अपने परिवार की चिन्ता रहती है, वैसे ही उसकी भी समान रूप से चिन्ता रहनी चाहिए और उसके काम-धन्धे आदि के सम्वन्ध मे वरावर पूछताछ करते रहना चाहिए।

अभिप्राय यही है कि अन्यान्य व्यापार-धन्धो की तरह व्याज का धन्धा भी जव तक न्याय और नीति की मर्यादा मे रहता है, तव तक वह श्रावक के लिए दूषण नही कहा जा सकता। परन्तु नीति-मर्यादा को लाँघकर जव वह शोषण का रूप धारण कर लेता है, तव वह एक प्रकार से अत्याचार एव लूट कहलाता है, और नीतिशील श्रावक के लिए वह अनैतिक दूषण वन जाता है।

आपने रायचन्द भाई के जीवन की एक घटना सुनी होगी। वह एक वडे दार्शनिक और योगी पुरुष हो गए है। गाँधीजी ने कहा है कि मैने किसी को अपना गुरू नही वनाया, किन्तु मुझे यदि कोई गुरू मिले है, तो वह रायचन्द भाई है। रायचन्द भाई पहले वम्वई मे जवाहरात का व्यापार करते थे। उन्होने एक व्यापारी से सौदा किया कि इतना जवा-

हरात, अमुक भाव मे, अमुक तिथि पर देना होगा। इसके लिए जो पेशगी रकम देनी पडती है, वह भी दे दी गई। परन्तु किसी कारणवश जवाहरात का भाव चढने लगा और इतना चढ़ गया कि बाजार मे उथल-पुथल मच गई। नियत तिथि पर व्यापारी से यदि वह नियत जवाहरात ले लिया जाता तो उसका घर तक नीलाम हो जाता। प्राय दूसरी चीजो मे तेजी-मदी कम होती है, परन्तु जवाहरात मे तो वह लम्बी छलाँगे मारने लगती है। बाजार की इस हालत को देखकर व्यापारी सकपका जाता है, और उसके होश-हवाश उडते दिखलाई देते है।

जब बाजार के चढते भावो के समाचार रायचन्द भाई के पास गए और तदनुसार व्यापारी की स्थिति का चित्र सामने आया तो वे उस व्यापारी की दूकान पर पहुँचे। उन्हे आता देखकर व्यापारी सहम गया। उसने सोचा—जवाहरात लेने आ गए है। उसने रायचन्द भाई से कहा—मै आपके धन का प्रबन्ध कर रहा हूँ। मुझे खुद को चिन्ता है और चाहे कुछ भी हो, आपका रुपया जरूर चुकाऊँगा। भले ही मेरा सर्वस्व चला जाय, पर आपका रुपया हजम नही करूँगा। आप किंचित् भी चिन्ता न करे।

रायचन्द भाई बोले—मै चिन्ता क्यो न करूँ ? मुझे तुमसे अधिक चिन्ता लग गई है। आपकी और मेरी चिन्ता का मुख्य कारण तो यह लिखा-पढी ही है न ? फिर क्यो न इसे खत्म कर दिया जाए ! और व्यर्थ की चिन्ता से मुक्ति पाई जाए।

व्यापारी दयाभिलाषी भाव से बोला—आप ऐसा क्यों करेंगे ? मै कल-परसो तक अवश्य अदा कर दूंगा।

उसका इतना कहना समाप्त भी नही हुआ था कि रायचन्द भाई ने उस इकरारनामे के टुकडे-टुकडे कर दिए और फिर दृढ उदार भाव से वह बोले—

"रायचन्द दूध पी सकता है, खून नही। मै भली-भाँति समझता हूँ कि तुम वायदे से बँध गए हो। पर अब परिस्थितियाँ बदल गई है और मेरा तुम पर चालीस-पचास हजार रुपया लेना हो गया है। परन्तु मै यह रुपया लूंगा तो तुम्हारी भविष्य मे क्या स्थिति होगी ? मै तुम्हारी वर्तमान स्थिति से अनभिज्ञ नही हूँ। मै अब एक पाई भी नही ले सकता।"

यह कहकर रायचन्द भाई ने जब कागज का आखिरी पुर्जा भी फाड डाला तो वह व्यापारी उनके चरणो मे गिर पडा और सजल नेत्रो से उसने कहा—आप मानव नही, मानवता की साक्षात् प्रतिमा है ! मनुष्य नही, देवता है !!

इस प्रकार समय पर लेना और देना भी होता है, किन्तु कभी-कभी परिस्थिति-विशेष के उग्र रूप धारण करने पर रायचन्द भाई की तरह आपके हृदय मे दया और करुणा की लहर पैदा होनी ही चाहिए। इस मानवीय उदारता के द्वारा यदि आप किसी भी गिरते हुए भाई को समय पर बचा लेते है तो इस रूप मे समाज का अनैतिक शोषण बन्द हो सकता है। परन्तु ऐसा होता कहाँ है ? हम तो यही समझते है और प्रतिदिन के व्यवहार मे देखते भी है कि हिंसा और अहिंसा की मीमासा आज के मानव-समाज के लिए

एक प्रकार से मनोरजन की बाते है। ऐसी अशोभनीय बातो से जैन-धर्म उच्चता के अभीष्ट शिखर पर कदापि नही पहुँच सकता, अपितु वर्तमान स्तर से शनै-शनै नीचे खिसक कर एक दिन हृदय-हीनता की निम्नतर पृष्ठ-भूमि पर चला जाएगा।

वस्तुत अहिसा का सच्चा साधक वही है जो अपने जीवन व्यापार के प्रत्येक क्षेत्र मे हर प्रकार की हिसा से बचने का प्रयत्न करता है। क्या मकान और क्या दुकान, सभी उसके लिए धर्म-स्थान होते है। उसके जीवन व्यापार मे और प्रत्येक दशा मे, एक प्रकार की सुसगति रहनी चाहिए।

तृतीय खण्ड

कृषि-उद्योग

और

अहिंसा तत्त्व

प्रगति राष्ट्र के जीवन-तरु की,
है उद्योग-प्रगति पर निर्भर।
किन्तु वही उद्योग हितकर,
जिसमे बहे अहिसा-निर्भर ॥

—: १ :—

मानव-जीवन और कृषि-उद्योग

जैन-धर्म अति विशाल और प्राचीन धर्म है। उस पर हमे गर्व है कि उसने हजारो ही नही, लाखो और करोडो मानवो का पथ-प्रदर्शन किया है। उसने जनता को जीवन की सच्ची राह बतलाई है। और भूले-भटके अनगिनत पथिको को जो गलत राह पर चल रहे थे, कहा कि—तुम जिस राह पर चल रहे हो, वह जीवन की सच्ची राह नही है, वल्कि अन्तत उस सत्य की सीधी राह पर चलने से ही तुम्हारा विकास हो सकेगा और तुम अपनी मजिल तक पहुँच सकोगे।

हाँ, तो तथाकथित जैन-धर्म और उसकी सर्वविदित महत्ता के सम्बन्ध मे आज दिन जनता के मन मे एक भ्रामक प्रश्न चल रहा है कि—यह केवल आदर्शवादी है या यथार्थवादी भी है ? यह आदर्शो के सुनील आकाश मे ही उडता है, या जीवन-व्यवहार की सत्य भूमि पर भी कभी उतरता है ?

अनेक वार हम देखते है कि आदर्श, आदर्श वनकर रह जाते है और ऊँचाइयाँ, ऊँचाइयाँ ही वनी रहती है। वे जीवन की गहराइयो को और उसकी समस्याओ को हल करने वाले वास्त-

विक समाधान की भूमिका पर नही उतरती। कुछ सिद्धान्त ऐसे होते है, जो प्रारम्भ मे तो बहुत ऊँची उडान भरते है और आकाश मे उडते दिखलाई देते है, किन्तु व्यावहारिक जीवन के सुनिश्चित धरातल पर नही उतरते, क्योकि उनमे जनता की समस्याओ का उचित समाधान करने की क्षमता नही होती।

इसके विपरीत कुछ सिद्धान्त यथार्थवादी होते है। वे जनता की आवश्यकताओ का, समस्याओ का सीधे ढग से समाधान करते है। आज दिन बच्चो, बूढो, युवको और महिलाओ की क्या समस्याएँ है ? भूखी-नगी जनता की क्या समस्याएँ है। इन सब पर गहराई मे उतर कर विचार करना ही उनकी सैद्धान्तिक यथार्थता का सर्वोत्कृष्ट लक्ष्य है।

हाँ, तो समाज फिर किस पृष्ठ-भूमि पर टिकेगा ? वह कोरे कथोपकथन और कागजी आदर्शवाद पर जीवित नही रह सकता। जब उसे व्यावहारिक यथार्थवाद मिलेगा, तभी जिन्दा रहेगा ! इस सम्बन्ध मे एक आचार्य ने कहा भी है —

> "बुभुक्षितैर्व्याकरणं न भुज्यते,
> पिपासितैः काव्यरसो न पीयते।"

अर्थात्—एक आदमी भूखा है और भूख के ताप से छटपटा रहा है। ऐसी स्थिति मे व्याकरण के महत्वपूर्ण सिद्धान्तो से उसका पेट नही भरेगा।

काव्य का रस बडा मीठा है। जब कविता पाठ होता है तो लोग मन्त्र-मुग्ध होकर जम जाते है और घण्टो तक जमे

रहते है, अमृत-पान जैसा आनन्द भी अनुभव करते है। किन्तु प्यास से व्याकुल यदि कोई प्यासा, वहाँ आए और पानी माँगे, किन्तु उससे यह कहा जाय कि—'भाई, यहाँ पानी नही है। यहाँ काव्य है, जोकि बहुत ही मधुर है, उसमे अमृत जैसा मधुर रस है। इसी को पीकर अपनी प्यास बुझा लो।' तो क्या पानी के प्यासे की प्यास, काव्य-रस से बुझ सकेगी? क्या, वह काव्य का रस पी भी सकेगा?

इसीलिए व्यावहारिक जीवन के सम्बन्ध मे यथार्थवादी आचार्य कहते है कि जीवन-व्यापार की समस्याएँ न तो अलकारो से सुलझ सकती है, न साहित्य से और न कविताओ से ही। उन्हे सुलझाने के लिए तो कोई दूसरा ही सही हल खोजना पडेगा।

दो-चार दिन का भूखा एक आदमी आपके सामने आता है। वह आपसे चार कोर भोजन पाने की इच्छा रखता है और माँग करता है। आप उससे कहते है—'भाई, इस समय धर्म का भोजन तो तैयार है। दो दिन हो गए है, तो दो दिन का उपवास और कर लो। अरे, रोटियो मे क्या रखा है? अभी खाओगे, अभी फिर भूख लग आएगी। अनादिकाल से खाते आ रहे हो और अनन्त-अनन्त सुमेरु पर्वतो के बराबर रोटियो के ढेर खा चुके हो। फिर भी तुम्हारी भूख नही मिटी तो अब चार कौर से क्या मिटने वाली है? छोडो, इस पुद्गल की रोटी को। अब धर्म की रोटी ले लो, जिससे इस लोक की भी भूख बुझेगी और परलोक की भी भूख बुझ जाएगी।

आप ही कहिए, क्या सच्चे धर्म की यही व्याख्या है ? यह धर्म का उपदेश है या उसका मजाक ? यह एक ऐसा विचार है, जिससे जनता के मन को साधा नही जा सकता, बल्कि उसके हृदय मे काँटा चुभाया जाता है। क्या मानव-जीवन इस तरह चल सकेगा ?

इस प्रकार का कोरा आदर्शवादी दृष्टिकोण वास्तविक नही है। वह जीवन की मूलभूत और ठोस समस्याओ के साथ निष्ठुर उपहास करता है। वह, मर जाने के बाद तो स्वर्ग की बात कहता है, किन्तु जीवित रहकर इस ससार को स्वर्ग बनाने की बात कभी नही कहता। मरने के पश्चात् स्वर्ग मे पहुँचने पर ६४ मन का मोती मिलने की बात तो कहता है, परन्तु जिन्दा रहने के लिए दो माशा अन्न के दाने पाने की राह नही दिखलाता। वह स्वर्ग का ढिढोरा तो पीट सकता है, किन्तु जिस मृत-प्राय प्राणी के सामने ढिढोरा पीटा जा रहा है, उसे जीवित रहने के लिए जीवन की कला नही सिखलाता। इस प्रकार का हवाई दृष्टिकोण अपनाने वाला धर्म, चाहे वह कोई भी हो, जनता के काम का नही है। आज की दुनिया को ऐसे निस्सार धर्म की आवश्यकता भी नही है।

आखिर, कोई धर्म यह तो बताए कि मनुष्य को करना क्या है ? क्या धर्म, प्रस्तुत जीवन की राह नही बतला सकता ? क्या, मौत का रास्ता दिखलाने के लिए ही धर्म का निर्माण हुआ है ?

उधार का भी अपने आप मे मूल्य तो अवश्य है, परन्तु जिस दुकान मे उधार बिक्री का ही व्यापार चलता हो, और

नकद विक्री की बात ही न हो, क्या वह दुकान अपने को स्थिर रख सकेगी ? इसी तरह जो धर्म परलोक के रूप मे केवल उधार की ही बात करता हे और कहता है कि उपवास करोगे तो स्वर्ग मिल जाएगा ! धर्म-ग्रन्थो का अध्ययन और तदनुसार कठोर क्रियाकाण्ड करोगे तो स्वर्ग मिल जाएगा ! तीर्थ-स्थानो का पर्य्यटन करोगे तो स्वर्ग मिल जाएगा ! किसी से कलह-सघर्ष आदि नही करोगे तो मरने के वाद अमुक राज्य का वैभव रूप फल पा जाओगे । परन्तु जो धर्म यह नही वतलाता हे कि आप या हम, क्रमश श्रावक और साधु वनकर जो काम कर रहे है, उनका यहाँ क्या फल मिलेगा ? जो धर्म यह नही वता सकता कि वर्तमान कर्त्तव्य का पालन करोगे तो स्वर्ग यही पर और इस जीवन मे ही उतर आएगा—जिससे तुम्हारा समाज, परिवार और राष्ट्र स्वय ही स्वर्ग वन जायगा । फिर उस सारहीन धर्म का साधारण जनता क्या उपयोग करे ?

सचाई तो यह है कि स्वर्ग मे वे प्राणी ही जाएँगे, जिन्होने अपने सत्कर्म और सदाचार के द्वारा यही पर स्वर्ग वना लिया है । जो यहाँ पर स्वर्ग नही वना पाए है और जो यहाँ पर घृणा, भुखमरी और हाहाकार का नारकीय जीवन व्यतीत कर रहे है, उन्हे किसी धर्म के द्वारा यदि कभी स्वर्ग मिला भी, तो वह रो-रोकर ही मिलेगा । हँसते-हँसते कभी नही मिलने का ।

धर्म-सम्वन्धी व्याख्यान मे जो भी प्रकरण चल रहा हो, उसे आप केवल सुनने के लिए ही मत सुनिए, अपितु मनन

करने के लिए सुनिए। उसमे कोई बात अमुक ढग से चल रही है और शायद वह बात आप मे से बहुतो के गले नही उतर रही है, क्योकि पहले वह आपको दूसरे रूप मे सुना दी गई है जो अभी तक गले मे अटकी हुई है। वही पुराना प्लास्टर मेरी आज की बात को आपके गले मे नही उतरने देता है। फिर भी आपको इन बातो पर चिन्तन—मनन करना ही होगा। वस्तुत गम्भीर चिन्तन और मनन नही किया गया है। इसीलिए जैन-धर्म को बदनाम होना पड़ा है और अपने को 'जैन' कहने और समझने वाले आज के जैनो की आचार-विहीनता तथा विवेक-शून्यता के कुपरिणाम स्वरूप 'जैन-धर्म' के उज्ज्वल मुँह पर कालिख लग गई है।

परन्तु इस दुरवस्था को देखकर हम जैनो को अधीर होकर पतन के प्रवाह मे नही बहना है, बल्कि तत्त्व-ज्ञानियो से सदुपदेश ग्रहण कर भूत की भूल का प्रायश्चित्त करना है, और पतन के प्रवाह पर पवित्रता का प्रतिबन्ध लगाकर सदाचार के माध्यम से वर्त्तमान जीवन का पुनर्निर्माण करना है। ऐसा क्यो ? और किसके लिए ? अपने निहित स्वार्थो की सिद्धि के लिए नही, बल्कि सम्पूर्ण मानव-समाज की जीर्णता को दूर करने के लिए, और राष्ट्र की अभीष्ट समृद्धि के लिए !

हाँ, तो मध्यकाल मे हमारी चिन्तन-पद्धति विकृत हो गई थी, और उसके कारण जैन-धर्म के उज्ज्वल मुख पर कालिख लग गई है। उसे साफ करने का काम किसी परोक्ष देवी-देवता का नही है, आपका है। आप ही उस कालिख को

दूर कर सकते है। भगवान् महावीर के उज्ज्वल सिद्धान्तो पर काल-दोष से या भ्रान्त-बुद्धि से जो धूल जम गई है, उसे साफ करने का एकमात्र उत्तरदायित्व आज आप जैन कहलाने वाले भक्तो पर आ पडा है।

यदि आप आज भी यही सोचते है—अजी, क्या है! ससार तो यो ही चलता रहेगा। लोग भूखे मरे तो क्या? खाने को मिले तो खाओ, और यदि नही भी मिले तो ज्यो ही खाने के लिए काम किया या अन्न पैदा किया तो कर्मो का वध हो जाएगा। इस प्रकार खाने-पीने की वातो मे आत्मा का कल्याण नही होना है। ये सब ससार की कपोल कल्पित वाते है, और ससार की वातो से हमारा सम्वन्ध ही क्या है? जो ससार का मार्ग है वह वधन का ही मार्ग है, एक प्रकार से नरक का ही रास्ता है।

किन्तु आपको यह भी जानना चाहिए कि जीवन मे पेट की समस्या ही वहुत वडी समस्या है। जव कभी आपको भूख लगे और भोजन के लिए एक अन्न-कण भी न मिले, तव चिन्तन की गहराई मे अपनी बुद्धि का गज डालिए, उस समय पता लगेगा कि भूखो की क्या शोचनीय अवस्था होती है? उस समय धर्म-कर्म की मरहम पट्टी काम देती है या नही? जव मनुष्य भूख की पीडा से व्याकुल होता है, आँखो के आगे अँधेरा छा जाता है और मृत्यु का नगा नाच होने लगता है, उस हालत मे समता या दृढता का मरहम लगाने वाला सौ मे से एक भी शायद ही निकले, अन्यथा सभी घायल होकर सहज मे अकाल मृत्यु की भेट चढ जाते

है। अस्तु, जैन-धर्म कहता है कि जीवन मे सबसे बडी वेदना भूख की है।

जैन-शास्त्रो मे जो बाईस परीषह आते है, उनमे पहला परीषह क्षुधा का है। शेष ताडन या बध आदि क्रूर परीषहो का नम्बर बहुत दूर आता है। स्थूल हिंसा के रूप मे सोचने का जो ढग हमे मिला हुआ है या हमने जो ढग अपना रखा है, उसके अनुसार तो सबसे पहला परीषह वध-परीषह होना चाहिए था। कोई किसी को मार दे या बध कर दे, तो उसके बराबर तो क्षुधा-परिषह नही है। फिर बध को पहला परीषह न गिनकर भूख को ही पहला परीषह क्यो गिना है ?

हाँ, तो साहब ! आज भी हजारो आदमी ऐसे मिलेगे जो भूख से बुरी तरह छटपटा रहे है। वे चाहते है कि भूख की ज्वाला मे तिल-तिल करके भस्म होने की अपेक्षा यदि उन्हे कत्ल कर दिया जाय तो अधिक अच्छा हो। घुट-घुटकर रोज-रोज मरने, और एक-एक प्राण छिटकाकर नष्ट होने के बजाय एक साथ मर जाना, वे कही ज्यादा ठीक समझते है। वध और क्षुधा परीषह दोनो मे से एक को चुनने को कहा जाय तो वे लोग वध को मजूर करेगे। कई लोग रेलो के नीचे कटकर या कूप-तालाब मे गिरकर इसीलिए मरते है कि उनसे अपनी स्त्री और बच्चो की भूख की पीडा नही सही जा सकती। वे भूख की वेदना से छुटकारा पाने के लिए ही मरने की वेदना को सहसा स्वीकार कर लेते है। एक महान् आचार्य ने ठीक ही कहा है —

"खुहासमा नत्थि सरीरवेयणा।"

अर्थात्—"भूख की पीडा के समान और कोई पीडा नही है।"

मै समझता हूँ कि आप इस तथ्य को जल्दी अनुभव नही कर सकते है, क्योकि आपकी स्थिति दूसरे प्रकार की है। कोई भी व्यक्ति जब तक सुख और समृद्धि की स्थिति मे रहता है तब तक वह दु ख की भयकर स्थिति का ठीक-ठीक अनुभव नही कर सकता। किन्तु बगाल और बिहार के दुष्काल मे लोग जब भूख से छटपटाते हुए गिरते थे, तो अपने प्राणो से भी अधिक प्यारे बच्चो को दो-दो रुपये मे बेचते हुए नही हिचकते थे और दो रोटियो के पीछे स्त्रियाँ भी अपने सतीत्व को नष्ट कर देती थी। इस प्रमाण से आप समझ सकते है कि भूख के पीछे दुनिया के भारी से भारी दुष्कृत्य और पाप किये जाते है। जब भूख लगती है तो मनुष्य उसकी तृप्ति के लिए क्या नही कर गुजरता ? मरता, क्या न करता ? आचार्य ने कहा है —

"बुभुक्षित किं न करोति पापम् ?"

अर्थात्—"दुनिया मे वह कौन-सा पाप है, जो भूखा नही करता है ?" धोखा वह देता है, ठगी वह करता है, वह सभी कुछ कर सकता है। और तो क्या, माता और बहिने अपनी पवित्रता तक को बेच देती है ! किस लिए ? केवल रोटी के लिए।

भूख, वास्तव मे एक भयानक राक्षसी है। वह मनुष्य को नृशस और क्रूर बना देती है। जब वह अपने पूरे जोश मे होती है और उसे तृप्त करने के लिये दो रोटी भी नही

मिल पाती है, तो पति और पत्नी तक के सम्बन्ध का भी पता नही लगता है। और तो क्या, स्नेहशील माता-पिता भी अपने प्राण-प्यारे बच्चे के हाथ की रोटी छीनकर खा जाते है। जब ऐसी स्थिति है तो आचार्य ठीक ही कहते है कि भूखा आदमी सभी पाप कर डालता है।

एक जीवनदर्शी दार्शनिक ने कहा है—

"बुभुक्षित न प्रतिभाति किञ्चित्।"

अर्थात्—"भूख के मारे को कुछ भी नही सूझता है।" निरन्तर की भूख ने उसकी ज्ञान-शक्ति को नष्ट कर दिया है।

वह कौन-सी चीज थी ? जिसने मेवाड के ही नही, वरन् समूचे भारत के गौरवस्वरूप महाराणा प्रताप को भी अपनी स्वाधीनता की साधना के पथ से विचलित कर दिया था ? अपने बच्चो की भूख को सहन न कर सकने के कारण ही तो वे अकबर से सन्धि कर अपनी प्यारी जन्म-भूमि की स्वतन्त्रता को खो देने के लिए विवश हो गए थे। जब प्रताप जैसे दृढ-प्रतिज्ञ और कष्ट सहिष्णु व्यक्ति भी भूख के प्रकोप से अपने सुदृढ सकल्पो से गिरने लगते है और ऐसा काम करने के लिए तत्पर हो जाते है, जिसकी स्वप्न मे भी वे स्वय कल्पना नही कर सकते थे, तो आज के साधारण आदमियो का तो कहना ही क्या है ? आजकल तो एक दिन का उपवास भी दैवी प्रकोप जैसा अनुभव किया जाता है।

यदि हम इन सब बातो पर गम्भीरता पूर्वक विचार करे तो पता लगेगा कि भूख वास्तव मे कितनी बडी वेदना है।

गृहस्थ जीवन मे भूख की समस्या को आसानी से हल करने वाली एक चीज है—कृषि-अर्थात् खेती। कृषि से जो उत्पादन होता है, उसी से वहुत से पापो को, जो भयकर भूख के दरवाजे से सर्वसाधारण को आत्मा मे प्रवेश करते है, रोका जा सकता है। उन विभिन्न महापापो को रोकने के लिए अतीत काल मे भगवान् ऋषभदेव ने और दूसरो ने तो कृषि आदि के रूप मे अथक प्रयत्न किये है, किन्तु खेद के साथ कहना होगा कि उनमे आप महापाप और महान् आरम्भ की छाया देखते है। आप जीवन रक्षा के लिए तो अन्न खाएँगे, किन्तु जिस अन्न पर जन-जीवन निर्भर है, उसके उत्पन्न करने वाले को महापापी कहेगे। जो अन्न उत्पादन का कार्य कर रहे है, जव उन्हे महारम्भी-महापापी और उसके फलस्वरूप नरकगामी कहा जाता है, तो किसी भी सहृदय का मन तिलमिला उठता है और हृदय टूक-टूक हो जाता है।

हमारे शास्त्र कुछ कहते है, हमारी प्राचीन परम्परा कुछ कहती है, किन्तु आज हम दूसरा ही राग अलापते है। जैन-सस्कृति समाज को कहाँ ले जाना चाहती है, किन्तु कुछ लोग उसे समझे विना कही अन्यत्र ही भटक रहे है। जनहीन मैदान मे भटकने वाले यात्री की-सी दुर्दशा आज हमारी हो रही है।

हमारे विचारो की वात जाने दीजिए। मैं आपसे पूछता हूँ कि भगवान् ऋषभदेव ने क्या किया था ? क्या उन्होने उस समय के लोगो को महापाप और महान् आरम्भ का रास्ता वतलाया था ?

आप कहेगे कि तब वे भगवान् नही बने थे। किन्तु क्या आप यह नही जानते कि उन्हे ऽ मति, श्रुत और अवधि—ये तीन प्रकार के निर्मल ज्ञान प्राप्त थे। उनका अवधिज्ञान लूला-लँगडा या भूला-भटका, अर्थात् विभगज्ञान नही था। वह विशुद्ध ज्ञान था। उस स्थिति मे भगवान् ने जो कुछ भी किया, वह सब क्या था?

प्रागैतिहासिक काल के युगलियो* की जनता को खाना तो जरूरी था ही, पर काम नही करना था। सर्दी से बचने के लिए कपडा या मकान कुछ भी चाहिए, जो आवश्यक ही था, किन्तु वस्त्र या मकान नही बनाना था। जीवन तो जीवन की तरह ही बिताना था, परन्तु पुरुषार्थ की आवश्यकता समझ मे नही आई थी। इसी स्थिति मे चलते-चलते युगलिया-जन भगवान् ऋषभदेव के युग मे आ गए।

ऽ इन्द्रिय और मन के माध्यम से होने वाला ज्ञान 'मति' है। विशिष्ट चिन्तन मनन एव शास्त्र से होने वाला ज्ञान 'श्रुत' है। मूर्तिमान् रूपी पुद्गल पदार्थो का सीमा सहित ज्ञान 'अवधि' है। ये तीनो ही ज्ञान सम्यग् दृष्टि विवेकशील आत्माओ को होते हैं तो ज्ञान कहलाते है। और यदि मिथ्यादृष्टि अविवेकी आत्माओ को होते हैं तो अज्ञान, अर्थात् कुज्ञान हो जाते हैं।

* जैन-धर्म मानता है कि वर्तमान काल-चक्र की आदि मे मानव-जाति वन-सभ्यता मे रहती थी। नगर नही थे, उद्योग-धन्धे नही थे, किसी प्रकार का शासन भी नही था। सब लोग वृक्षो के नीचे रहते थे और भिन्न-भिन्न कल्पवृक्षो से ही अपनी भोजन, वस्त्र आदि की आवश्यकताएँ पूरी करते थे। ये लोग शास्त्र की भाषा मे यौगलिक यानी युगलिया कहलाते है।

इस युग मे कल्पवृक्षो के कम हो जाने से आवश्यकताओ की पूर्ति मे गडबड होने लगी, फलस्वरूप जनता भूख से आकुल हो उठी। पेट मे भूख की आग सुलगने लगी और तत्कालीन जनता उसमे भस्म होने लगी। उसे देखकर भगवान् के हृदय में अपार करुणा का झरना वह उठा और उन्होने जनता की भूख की सुलगती समस्या को शान्त किया। इसी सम्बन्ध मे आचार्य समन्तभद्र ने कहा है—

> "प्रजापतिर्य प्रथम जिजीविषु,
> शशास कृष्यादिषु कर्मसु प्रजा।"
>
> —बृहत्स्वयभूस्तोत्र

हाँ, तो भगवान् के कोमल हृदय मे अपार करुणा का झरना वहा और उन्होने देखा कि यह सारी जनता भूख की ज्वाला से पीडित होकर खत्म हो जाएगी, आपस मे लड-लडकर मर जाएगी, खून की धाराएँ वहने लगेगी, तो भनवान् ने उस अकर्मण्य प्रजा को कर्म की और पुरुषार्थ की नव-चेतना दी और अपने हाथो-पैरो से काम लेना सिखलाया। कर्त्तव्य विमूढ प्रजा को कर्मभूमि मे अवतरित किया और भुखमरी की समस्या को अपने हाथो सुलझाने की सही दिशा दिखलाई। दूसरे शब्दो मे कहे तो कृषि-कर्म करना सिखलाया।

अन्न का दाना और तन का कपडा—दोनो कृषि से प्राप्त होते है। जिन्दगी की प्रमुख आवश्यकताएँ केवल दो ही है—अन्न और कपडा। जनता के कोलाहल मे यही ध्वनि फूटती है कि 'रोटी' और 'कपडा' चाहिए। फ्रॉस का सम्राट्

लुई महलो मे आनन्द कर रहा था और हजारो की सख्या मे प्रजाजन भूख से छटपटाते नीचे से आवाज लगाते हुए गुजरे कि—"रोटी दो या गद्दी छोडो !"

यह आवाज सुनकर सम्राट् ने पास मे बैठे हुए महामत्री से पूछा—'क्या जनता ने बगावत कर दी है ?' महामत्री ने कहा—'यह बगावत नही, क्रान्ति है ।' और महामत्री के मुँह से निकले हुए 'शब्द' सारे ससार मे फैल गए कि—'भूख से बगावत नही, इन्किलाब होता है ।'

हॉ, तो भगवान् ऋषभदेव उस भूखी जनता को देखकर कोरे आदर्शवाद मे नही रहे, न उन सब भूखो को उपवास का उपदेश ही दिया, और न साधु बन जाने या सथारा* करने की सलाह ही दी । जैसा कि कुछ लोग कहते है —

"बलता जीव बिलबिल बोले, साधु जाय किवाड न खोले ।"

मकान मे आग लग गई है । उसके भीतर मनुष्य और पशु बिलबिला रहे है, फलत दयनीय कुहराम मच रहा है । ऐसे समय मे पत्थर के दिल भी मौम की भॉति पिघल जाते है । किन्तु कुछ महानुभावो का फरमान है कि जलने वाले जीवो को बचाने के लिए उस मकान का दरवाजा नही खोलना चाहिए । यदि कोई साकल खोल देता है तो उसे हिसा, असत्य आदि पाप लग जाते है !

---

* जब शरीर मरणासन्न हो, और जीवन-रक्षा के लिए कोई भी सात्विक उपचार कारगर न हो, तो आमरण उपवास करके अपने आपको परमात्म-भाव में लीन कर देना, और प्रसन्न भाव से मृत्यु का वरण करना, जैन-दर्शन में 'सथारा' कहलाता है ।

अब प्रश्न यह है कि ऊपरकथित भयङ्कर अग्नि काण्ड के समय यदि कोई साधु जी महाराज वहाँ विराजमान हो तो क्या करे ? उत्तर मिलता है कि—"सथारा कराएँ, आमरण उपवास कराएँ और उपदेश दे कि—सथारा ले लो और आगे की राह तलाश करो। यहाँ जीने की राह नही है।"

मै समझता हूँ, यदि कोई सचमुच मनुष्य है, और उसके पास यदि मनुष्य का दिल और दिमाग है, और वह पागल नही हो गया है तो कौन ऐसा है, जो मरते हुए जीवो को बचाने के लिए साँकल न खोल देगा ? और कौन यह कह सकेगा कि सथारा ले लो ? क्या यह धर्म का मजाक नही है ? ये ऐसी शोचनीय स्थितियाँ है, जिनके लिए प्रत्येक समझदार आदमी यह कहने का साहस जरूर करेगा कि यह आत्मा, समाज, धर्म और साधुपन का दिवाला निकाल देने वाली निराधार एव मनगढन्त मान्यता है।

भगवान् ऋषभदेव इस सिद्धान्त पर नही चले कि जो भूखा मर रहा है उससे कहा जाय कि—'सथारा कर लो, स्वर्ग तुम्हारी प्रतीक्षा कर रहा है। वहाँ जाकर सुगन्ध लिया करना और तुम्हारी भूख-प्यास की तृप्ति हो जाया करेगी।' उन्होने इस मार्ग को भूल से भी अगीकार नही किया। वे आचार-विचार से यथार्थवादी थे, और यथार्थवादी होने के नाते उन्होने सोचा कि जनता को यदि सही रास्ते पर नही ले जाया गया, तो वह महा-आरभ के रास्ते पर चली जाएगी और माँसाहार के पथ पर चलकर घोर हिसक हो जाएगी। एक बार यदि महा-हिसा के पथ पर चल पडी तो

तो फिर उसे मोडना मुश्किल हो जाएगा। अतएव उन्होने भूख के कारण महा-आरभ की ओर जाती हुई भोली-भाली जनता को अल्प-हिसा की ओर लाने का प्रयत्न किया। परिणाम यह हुआ कि भगवान् का सन्देश जहाँ-जहाँ पहुँचा और जिन व्यक्तियो ने उसे अपनाया, वे आर्य बन गए। और जहाँ वह सन्देश नही पहुँचा या जिन्होने उस सन्देश को स्वीकार नही किया, वे म्लेच्छ हो गए।

सम्भवत उस आदिकाल मे आप मे से भी कुछ भाई युगलिया रहे होगे, और आपके पूर्वज तो रहे ही है। एक दिन सारी भारत-भूमि मे अकर्म-भूमि की परम्परा थी और उस परम्परा के लोगो मे वैर-भाव नही था, घृणा नही थी, द्वेष नही था। वहाँ के पशु भी ऐसे थे कि किसी को बाधा और पीडा नही पहुँचाते थे। जहाँ के पशु भी ऐसे सात्विक वृत्ति वाले हो, तो फिर वहाँ के आदमी पशुओ को मारकर क्यो खाने लगे ? भगवान् ऋषभदेव ने उसी वृत्ति को कृषि आदि के रूप मे कायम रखा और मासाहार का प्रचलन नही होने दिया।

अभिप्राय यह है कि जहाँ-जहाँ कृषि की परम्परा चली और अन्न का उत्पादन हुआ, वहाँ-वहाँ आर्यत्व बना रहा और महारभ न होकर अल्पारभ का प्रचलन हुआ। परन्तु जहाँ कृषि की परम्परा नही चली, वहाँ के भूखे मरते लोग क्या करते ? तब आपस मे वैर जगा, और क्षुधाजन्य क्रूरता के कारण पशुओ को मारकर खाने की प्रवृति चालू हो गई। तात्पर्य यही है कि—'कृषि' अहिसा का उज्ज्वल प्रतीक है।

जहाँ भी कृषि अग्रसर हुई है, वहाँ के जन-जीवन मे उसने अहिसा के बीज डाले है। और जहाँ कृषि है, वहाँ पशुओ की जरूरत भी अनिवार्यत रहती है, फलत उनका पालन भी स्वाभाविक है। इस प्रकार कृषि अहिसा के पथ का विकास करती रही है। कृषि के द्वारा प्रवाहित होने वाली अहिसा की धारा मनुष्यो के अतिरिक्त पशुओ की ओर भी वही है। इस प्रकार जहाँ-जहाँ खेती गई, वहाँ वह अहिसा के सिद्धान्त को लेकर गई। और जहाँ कृषि नही गई, वहाँ अहिसा का सिद्धान्त भी नही पहुँचा।

मेक्सिको के निवासी मछली आदि के शिकार के सिवाय कोई दूसरा काम-धन्धा नही कर पाते है। कल्पना कीजिए—यदि कोई जैन सज्जन वहाँ पहुँच जाए, तो देखेगा कि लोगो के हाथ रात-दिन खून से किस तरह रगे रहते है, क्योकि जानवरो का मास, चमडा, चर्बी आदि का उपयोग किये बिना उनके लिए कोई दूसरा साधन ही नही है। ऐसी स्थिति मे यदि वह जैन उन्हे जैन-धर्म का कुछ सन्देश देना चाहे, उस हिसा को रोकना चाहे और यह कहे कि—मछली, हिरन, सुअर वगैरह किसी जीव को मत मारो, तो वे लोग क्या कहेगे ? तब वे उससे पूछेगे कि—फिर हम खाएँ क्या ? और जब यह प्रश्न सामने आएगा, तो वह क्या उत्तर देगा ? कल्पना कीजिए, यदि आप स्वय वहाँ पहुँच गए हो तो क्या उत्तर देगे ? यदि आप उन्हे अहिसक बनाना चाहते है तो क्या उपाय करेगे ? क्या आप उन्हे सदा के लिए आमरण सथारे के रूप मे 'वोसिरे-वोसिरे' करा देगे ? यदि नही,

तो वे भूखे जीवित रहकर क्या करेंगे—क्या खाएँगे ? तब यह प्रश्न कैसे हल होगा ? यदि जीवन के लिए कोई समुचित व्यवस्था नही करेंगे तो आप पागल बनकर ही लौटेंगे न ?

हम साधुओ को नाना प्रकार की रुचि और प्रवृत्ति वाले आदमी हर जगह मिलते रहते है। कोई वनस्पति-भोजी मिलते है तो कभी कोई मासाहारी भी मिल जाते हैं। जब मासाहारी मिलते है और हम उनसे मासाहार का त्याग कराना चाहते हे तो उनसे उनकी अपनी भाषा मे यही कहना होता है कि—"प्रकृति की ओर से धान्य का कितना विशाल भण्डार भरा मिला है !" यदि कोई कर्त्तावादी मिलता है तो उससे कहा जाता है कि—"ईश्वर ने कितनी शानदार फल, फूल आदि सुन्दर चीजे अर्पण की है ! ये सब चीजे ही इन्सान के खाने की है, मास नही।" यह कोई आवश्यक नही है कि यही शब्द कहे जाएँ, पर एकमात्र आशय यही रहता है कि उन मासाहारियो को किसी प्रकार समझाया जाए। साधु-भाषा के नाते यद्यपि हम लोग बहुत कुछ बचकर बोलते है, फिर भी घूम-फिरकर आखिर बात तो यही कही जाती है कि—त्रस जीव की हिंसा करना, पशुओ को मारना 'महा-आरभ' है और उसके बजाय खेती-बाडी से जीवन निर्वाह करना 'अल्पारम्भ' है।

इस प्रकार समझा-बुझाकर मैने सैकडो आदमियो को को मास खाने का त्याग करवाया है। दूसरे साधु भी इसी प्रकार की भावपूर्ण भाषा बोलकर मासाहारियो की हिंसा-वृत्ति छुडवाते हैं। इस सम्बन्ध मे आचार्यो ने भी शास्त्रो मे यही

कहा है कि—"जबकि ससार मे इतने अधिक निरामिप खाद्य-पदार्थ उपलब्ध है और वे सभी इन्सान के खाने की चीजे है। फिर भी जो पदार्थ खाने के योग्य नही है, वे क्यो खाए जाते है ?" तो अभिप्राय यही है कि फल, फूल, धान्य आदि वनस्पति के उपयोग से ही माँस-भक्षण जैसे महापाप को रोका जा सकता है और ये सब खाद्य-पदार्थ कृषि के बिना उपलब्ध नही होते।

अपने अहिसात्मक अमूल्य महत्व के नाते कृपि कितनी सुन्दर चीज है। फिर भी अनेक व्यक्ति कृषि को भी महारभ कहते है, जबकि कृपि 'अहिसा' का आदर्श लेकर चली है। उसने मानव-जाति को क्रूर वन्य पशु होने से रोका है, वन-वासी भील हाने से बचाया है और उसमे आदर्श नागरिकता के बीज डाले है। उससे मनुष्य की सामाजिक उन्नति हुई है और जहाँ कृपि नही फैली, वहाँ के लोग घोर हिसक, मास-भक्षी और नरमास-भक्षी तक, बन गए है।

ऊपरकथित मान्यता के सम्बन्ध मे, सम्भव है, प्रगतिवादी कहलाने वाले आज की पीढी के लोग कुछ और कहते हो, किन्तु आपको सूक्ष्म दृष्टि से देखना चाहिए कि जैन-धर्म क्या कहता है ? आप तो श्रेष्ठ बने है, उच्च बने है, और अन्य मानव बेचारे भील बन गए है, इसका क्या कारण है ? जैन सिद्धान्त के अनुसार परमात्मा ने आपको उच्च और उन्हे नीच नही बनाया है , बल्कि जिनको जीविका के साधन अच्छे मिल गए, वे 'आर्य' बन गए और श्रेष्ठ कहलाने लगे। किन्तु जिन्हे अच्छे साधन नही मिले, वे म्लेच्छ बन गए। कर्म-

भूमि से पहले अकर्म-भूमि पर निवास करने वाले जुगलियो मे 'आर्य' और 'म्लेच्छ' का मूलत कोई वर्ग-भेद नही था ।

हाँ, तो भगवान् ऋषभदेव ने तत्कालीन अभावग्रस्त यौगलिक जनता को 'महारभ' से 'अल्पारभ' की ओर मोडा, 'महा-सघर्ष' से 'अल्प-सघर्ष' की दिशा दी, और उनके दिलो मे दया की पावन गगा प्रवाहित की ।

जैन-शास्त्रो मे प्रस्तुत पचम काल के बाद आगे आने वाले आशिक प्रलय रूप छठे आरक का वर्णन है कि उसके आरभ मे सब वनस्पति एव वृक्ष आदि समाप्त हो जाएँगे । उस समय के मनुष्य भागकर गुफाओ मे चले जाएँगे और वहाँ अति दयनीय स्थिति मे जीवन यापन करेंगे । भोजन के लिए कन्द, मूल, पत्र, पुष्प, फल, अन्न कुछ भी प्राप्त न होगा, अत मत्स्य मास के आहार पर ही जीवन-निर्वाह करना होगा । धर्माचरण के रूप मे कुछ भी शेष न रहेगा । एक प्रकार से वन्य पशुओ की भाँति मानव-जाति की स्थिति हो जाएगी । वर्तमान काल-चक्र के अनन्तर जब उत्सर्पिणी काल का भी पहला आरक इसी दु ख पूर्ण अवस्था मे गुजर जाएगा और दूसरे आरक का आरभ होगा तब मेघ वरसेंगे, निरन्तर जल-वृष्टि होगी । और पृथ्वी, जो उक्त आरको मे लोहे के उत्तप्त गोले के समान गरम हो गई थी, शान्त हो जाएगी और फिर सारी वसुन्धरा वनस्पति-जगत् से हरी-भरी हो जाएगी ।

यह वर्णन मूल आगमो का है, कोई कल्पित कहानी नही है । उस समय गुफाओ मे रहने वाले मानव बाहर निकलेंगे । मासाहार के कारण जिनके शरीर मे कुष्ठ और खुजली आदि

अनेक बीमारियाँ हो चुकी होगी, वे जब बाहर निकलकर स्वच्छ एव शीतल हवा मे विचरण करेगे, वनस्पति का शुद्ध आहार करेगे और इससे जब उनके शरीर मे ताजगी आएगी तो सारी बीमारियॉ स्वत दूर हो जाएँगी।

भगवान् महावीर कहते है कि तब वे सब लोग जन-समुदाय को एकत्र करेगे और यह कहेगे कि—देखो, हमारे लिए प्रकृति की महती कृपा हो गई है और अत्यन्त सुन्दर एव रुचिकर फल, फूल, तथा वनस्पतियॉ पैदा हो गई है। आज से हम सब प्रण करे कि कभी कोई मास नही खाएँगे। और यदि कोई मास खाएगा तो हम अपने पर उसकी अपवित्र छाया का भी स्पर्श नही होने देगे।*

अब आप विचार कीजिए कि वनस्पति के अभाव मे क्या हुआ ? महारभ ने क्यो जन्म लिया ? और उन वृक्षो, फलो, वनस्पतियो और खेती-वाडी के रूप मे जो सात्विक पदार्थ प्रकट हुआ, उसने क्या किया ? स्पष्ट ही है कि उसने वह आदर्श कार्य किया कि जो मासाहार जनता मे चल रहा था, उसे छुडा दिया। यह प्रसग जैन परम्परा मे सर्वसम्मत है और आगम के मूल पाठ मे इस बात का स्पष्ट उल्लेख है।

हॉ, तो हम देखते है कि खेती-वाडी इधर (कर्म-भूमि के प्रारम्भ मे) भी महारभ से बचाती है और जब उत्सर्पिणी का काल-चक्र शुरू होता है तब भी वही महारभ से बचाती है। पत्र, पुष्प, फल और अन्न आदि वनस्पतियॉ आखिर किसके

---

*देखिए, जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति—दूसरा वक्षस्कार

प्रतीक है ? वे अल्पारभ के उज्ज्वल प्रतीक है और महारभ को रोकने के प्रामाणिक चिह्न है।

हाँ, तो इस प्रकार इधर और उधर—दोनो ही काल-चक्र मे जब वनस्पतियाँ पैदा हो जाती है और खेती विकसित होती है तो मानव-समाज महाहिंसा से बच जाता है।

जब ऐसा महान् आदर्श चल रहा है, प्रत्येक अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी मे ऐसा ही हुआ करता है, तो हम विचारते है कि क्या जैन-धर्म फल एव अन्न के उत्पादन को महारभ कहता है ? क्या, भगवान् ऋषभदेव ने जनता को महारभ का कार्य सिखाया था ? क्या, उन्होने नरक मे ले जाने वाला कार्य सिखाया था ? वस्तुत बात ऐसी नही है। हम आवेश मे यह बात नही कर रहे है। हमारे मन मे किसी प्रकार के एकान्त का आग्रह नही है, अपितु हमारा जो चिन्तन है और शास्त्रो को गहराई से अध्ययन करने के बाद हमारी जो सुनिश्चित धारणाएँ बनी है, उन्ही को आज हम आपके सम्मुख प्रस्तुत कर रहे है।

जैन-धर्म इतना आदर्शवादी तथा यथार्थवादी धर्म है कि उसने अन्तरङ्ग की बातो को भली-भाँति समझा और तदनुसार कहा है कि यदि किसी क्षुधार्त को अन्न का एक कण दे दिया तो मानो, उसे प्राणो का दान दे दिया —

"अन्नदान महादानम्।"

स्थानाग आदि शास्त्रो मे नौ प्रकार के विभिन्न पुण्यो का वर्णन है। उनमे भी सबसे पहले 'अन्न-पुण्य' बतलाया गया है और नमस्कार-पुण्य को सबसे आखिर मे डाल दिया

गया है, क्योकि जब पहले अन्न पेट मे पडे, तो पीछे नमस्कार करने की सूझे। जब पेट मे अन्न ही नही होता और उसके लिए हृदय तडफता रहता है, तो कौन किसको नमस्कार करता है ?

अत पुण्य-साधना के द्वार पर सबसे पहले अन्न-पुण्य ही खडा है, और दूसरे सब पुण्य उसके पीछे चले आ रहे है। अत अन्न के उत्पादन को भी महारभ और नरक का मार्ग बताना, बुद्धि का विकार नही तो और क्या है ?

वैदिक-धर्म के उपनिषदो और पुराणो का मैने गूढ अध्ययन किया है। उपनिषद् कहते है—'अन्न वै प्राणा' अर्थात्—"अन्न प्राण है।" इस सम्बन्ध मे सुविख्यात सन्त नरसी मेहता ने भी कहा है—

"भूखे भजन न होहि गुपाला,
यह लो अपनी कठी माला।"

कोई भूखा रहकर यदि माला पकडेगा भी, तो कब तक पकडे रहेगा ? भूख के प्रकोप से वह तो हाथ से छूटकर ही रहेगी। इसीलिए सन्त नरसी ने ठीक ही कहा है कि—गोपाल, अब भूखे से भजन नही होगा ! लो, यह अपनी कठी और लो, यह माला भी सँभालो। अब तो रोटी की माला जपूँगा और सबसे पहले उसी के लिए प्रयत्न करूँगा।

इस प्रकार वैदिक-धर्म 'अन्न को प्राण' कहता है और जैन-धर्म अन्न के दान को 'सबसे बडा दान'—सर्वप्रथम दान मानता है और भूख के परीषह की पूर्ति को पहला स्थान बतलाता है। इस तरह से एक-से-एक कडियाँ जुडी हुई

है। इस अन्न की प्राप्ति कृपि से ही होती है, और इसी कारण भगवान् ऋषभदेव ने युग की आदि मे जनता को कृषि-कर्म सिखाया और बताया। जैन-शास्त्रो मे कही भी साधारण गृहस्थ के लिए कृषि को त्याज्य नही कहा गया है।

कृषि-कर्म को महारभ बतलाने वाले भी एक दलील पेश करते है। किन्तु वह दलील अपने आप में कुछ नही, केवल दो शब्द है---'फोडी-कम्मे', जो पन्द्रह कर्मादानो मे आते है। इस दलील को जब मै सुनता हूँ तो मेरे आश्चर्य का ठिकाना नही रहता। 'फोडी-कम्मे' का वास्तव मे क्या अर्थ था और क्या समझ लिया गया है।

मै चुनौती देकर भी कह सकता हूँ कि 'फोडी-कम्मे' का अर्थ खेती नही है। उसका अर्थ कुछ और है, और उस पर आपको तथा मुझको गम्भीरता से विचार करना है। गम्भीर चिन्तन करने पर उसका अर्थ और अधिक स्पष्ट हो जाएगा।

समग्र प्रमाणभूत जैन-साहित्य मे कही एक शब्द भो ऐसा नही है कि जहाँ कृषि को महारभ बतलाया गया हो। पन्द्रह-पन्द्रह सौ वर्षो के पुराने आचार्य हमारे सामने है। उन्होने 'फोडी-कम्मे' का ऐसा सारहीन अर्थ कही नही लिखा, जैसा कि आप समझते है। यह भ्रामक अर्थ कुछ दिनो से चल पडा है, जिसे धक्का देकर निकाल दिया जाएगा और उसके सही अर्थ की पुन प्रतिष्ठा करनी होगी। जो गलत धारणाएँ आज दिन प्रचलित है, उन्होने हमे न इधर का रखा है, न उधर का रहने दिया है।

पन्द्रह कर्मादानो मे 'रसवाणिज्जे' भी आता है। उसका अर्थ समझ लिया—'घी और दूध का व्यापार करना, और जिसने यह व्यापार किया वह महारभी हो गया।' ऐसा कहने वाले शायद शराब को भूल गए। शब्दार्थ के अनुसार मुद्दे की चीज को तो भूल गए और घी-दूध के बहिष्कार में लग गए।

कुछ साथियो ने 'असईजण-पोसणिया कम्मे' का अर्थ कर दिया है—'असयत', अर्थात्—"असयमी जनो की रक्षा करना महारभ है।" किन्तु इसका वास्तविक अर्थ है—"वेश्याओ या दुराचारिणी स्त्रियो के द्वारा अनैतिक व्यापार करके आजीविका उपार्जन करना।" परन्तु उन लोगो ने इसकी व्याख्या करते हुए कहा—किसी गरीब को, भूखे कुत्ते को, और यहाँ तक कि अपने माता-पिता को भी रोटी देना महान् पाप एव अनाचार है! क्योकि वे भी असयमी ही ठहरे! इस तरह इसे भी पन्द्रह कर्मादानो मे शामिल कर दिया है।

लेकिन, इन सब सारहीन अर्थो को और भ्रामक धारणाओ को बहिष्कार का धक्का मिलना ही चाहिए। जब तक हम ऐसा नही करेगे, तब तक जैन-धर्म को न तो स्वय ही सही रूप मे समझ सकेंगे, और न दूसरो को ही समझा सकेगे। 'फोडी-कम्मे' की लम्बी चर्चा के लिए इस अवसर पर समय का अभाव है। कभी उपयुक्त अवसर मिलने पर इस गूढ विषय पर विस्तृत और स्पष्ट प्रकाश डाला जाएगा।

—: २ :—

अन्न का महत्त्व

कुछ दिनो से बराबर 'अहिसा' का ही प्रकरण चल रहा है। विस्तार के साथ अहिसा पर प्रवचन करने का अभिप्राय यही है कि आप लोग अपने जीवन की सही दिशा और सही राह को प्राप्त करले और इधर-उधर की भुलाने वाली पगडडियो से बचते हुए जन-कल्याण के सीधे निष्कटक मार्ग पर आगे बढ सके।

'अहिसा' आत्मा की खुराक है, तो 'रोटी' शरीर की खुराक है। जब आत्मा और शरीर साथ-साथ रह सकते है, तो अहिसा और रोटी भी साथ-साथ क्यो नही रह सकती है ? यदि ये दोनो साथ-साथ न रह सके, तो इसका अर्थ यह हुआ कि या तो हमे आत्मा की खुराक से वचित रहना चाहिए, अथवा शरीर को खुराक देना छोड देना चाहिए। इन दोनो मे से आप किस प्रयोग को पसन्द करेगे ? यदि आप शरीर को ही खिला-पिला कर पुष्ट करना चाहते है, और आत्मा को मरने देना चाहते है तो फिर जीवन का, और खासकर इन्सान के जीवन का कुछ अर्थ ही नही रह जाता। मनुष्य और पशु के जीवन मे फिर अन्तर ही क्या रह जाता

है ? और यदि आप आत्मा को खुराक देना चाहते है और अहिसा की सावना करना चाहते है तो आपको रोटी से वचित होना पडेगा, और रोटी से वचित होने का अर्थ है—जीवन से और प्राणो से वचित होना। यदि आप जीवन से वचित होना चाहते है, तो फिर अहिसा की आराधना कौन से साधन के द्वारा करेगे ?

तव हमारे सामने दूसरा विकल्प उपस्थित होता है कि आत्मा और शरीर, जैसे साथ साथ रहते है, क्या उसी प्रकार अहिसा और रोटी साथ-साथ नही रह सकती ? इसी प्रश्न पर हमे गहराई से विचार करना होगा। जहाँ तक साधु-वर्ग का सम्बन्ध है, उसके सामने कोई समस्या खडी नही होती, क्योकि उन्हे गृहस्थो के घर से सीधा भोजन भिक्षा के द्वारा प्राप्त हो जाता है। परन्तु गृहस्थो के लिए यह वात सुगम नही है। वे भिक्षा माँग कर अपना निर्वाह नही कर सकते। यदि सभी गृहस्थ भिक्षाजीवी बन जाएँ, तो उन्हे भिक्षा मिलेगी भी कहाँ से ? अतएव रोटी के लिए उन्हे कोई न कोई आजीविका स्वरूप धन्धा करना ही पडता है। परन्तु गृहस्थ का वह आजीविका पूरक धन्धा गृहस्थ की अहिसा के विरुद्ध न हो, ऐसा कोई उपयुक्त साधन खोज निकालना चाहिए।

हाँ, तो जीवन की वर्तमान भूमिका मे रोटी चाहिए या नही ? यह प्रश्न अधिक महत्व नही रखता। रोटी चाहिए, यह तो सुनिश्चित है। किन्तु रोटी कैसी चाहिए, किस रूप मे चाहिए, और वह कहाँ से आनी चाहिए ? यही प्रश्न महत्वपूर्ण

है। रोटी के साथ महारंभ-स्वरूप महा-हिंसा आई है, या सद्गृहस्थ के अनुकूल अल्पारंभ-स्वरूप अल्प-हिंसा आई है ? वह मर्यादित सात्विक प्रयत्न से आई है या बहुत बडे अत्याचार और अन्याय के द्वारा आई है ? रोटी तो छीना झपटी, लूटमार और डाका डालकर भी आ सकती है, और बेईमानियाँ करके भी आ सकती है। किन्तु वह रोटी, जिसके पीछे अन्याय और अनीति है—बुराई, छल-कपट, और धोखा है, वह आत्मा की खुराक के साथ कदापि नही रह सकती। वह रोटी, जो खून से सनी हुई आ रही है और जिसके चारो ओर रक्त की बूँदे पडी है, उसे एक अहिंसक कभी नही खा सकता। वह रोटी, उस खाने वाले व्यक्ति का भी पतन करेगी और जिस परिवार मे ऐसी रोटी आती है, उस परिवार का, समाज का और राष्ट्र का भी पतन करेगी। वहाँ न तो साधु का धर्म टिकेगा, और न गृहस्थ का ही धर्म स्थिर रह सकेगा। वहाँ धार्मिक जीवन की कडियाँ टूट-टूट कर बिखर जाएँगी।

और जहाँ ये दाग कम से कम होगे, वहाँ वह रोटी अमृत-भोजन बनेगी, जीवन का रस लेकर आएगी और उससे आत्मा और शरीर—दोनो का सुखद पोषण होगा। न्याय और नीति के साथ, विचार और विवेक के साथ, किन्तु महारंभ के द्वार से नही, अपितु अल्पारंभ के द्वार से आने वाली रोटी ही पवित्रता का रूप लेगी और वही अमृत-भोजन की यथार्थता को सिद्ध करेगी। वह अमृत का भोजन मिठाई के रूप मे भले ही न मिले, वह चाहे रूखा-सूखा टुकडा ही सही, तब भी वह अमृत का भोजन है। क्यो ?

इसलिए कि उस रूखी-सूखी रोटी को प्राप्त करने के लिए जो उद्योग किया गया था, वह न्याय, नीति और सदाचार से पूर्ण था।

चाहे दुनिया भर का सुन्दर भोजन थालियो मे सजा है, किन्तु यदि विवेक और विचार नही है, सिर्फ पेट भरने की ही भूमिका है, तो वह कितना ही स्वादिष्ट और मधुर क्यो न हो, वह अमृत-भोजन नही है, बल्कि विष-भोजन है। भारत की और जैन-सस्कृति की ऐसी ही परम्पराएँ रही है। दूसरे धर्मो को पढे तो ज्ञात होगा कि उनकी भी यही परम्परा रही है।

इस प्रकार हिसा और अहिसा, अल्पारभ और महारभ, छोटी हिसा और बडी हिसा, जीवन के चारो ओर फैली हुई है। हमे उसी मे से मार्ग तलाश करना है। हमे देखना है कि हम आत्मा और शरीर—दोनो को एक साथ खुराक किस प्रकार पहुँचा सकते है? हमे कौन-सा मार्ग लेना है कि जिससे न तो आत्मा को आघात पहुँचे, और न शरीर का ही हनन करना पडे?

रोटी तक पहुँचने के लिए हमारे सामने दो रास्ते है। पहला मार्ग वह है—जहाँ महारभ के द्वार मे से गुजर कर जाना होता है, जिससे खुद के भी और दूसरो के भी हाथ खून से सनते जाएँ और रोटी की तलाश मे जिधर भी निकले, हिसा का नग्न नृत्य दिखलाई पडे। दूसरा मार्ग है—गृहस्थ के अनुरूप अहिसा का, जिसके अनुसार अल्प-हिसा से, विवेक और विचार के साथ चलकर जीवन निर्वाह के लिए रोटी

प्राप्त कर ली जाय और अन्याय-अत्याचार न करना पडे, भयानक हत्याकाण्ड भी न करना पडे। ये दोनो मार्ग आपके समक्ष साकार रूप मे उपस्थित है। अब निर्दिष्ट प्रश्न पर विचार करना है कि आपको किस रास्ते पर जाना चाहिए ? कौन-सा मार्ग आर्य-मार्ग है, और कौन-सा अनार्य-मार्ग है ?

उपयोगिता के नाते कान सुनने के लिए है। उनसे गदी गाली भी सुनी जा सकती है, ससार के बुरे सगीत भी सुन सकते है, जिनसे मन और मस्तिष्क मे विकार उत्पन्न होते है। पारस्परिक निन्दा की असगत बाते भी सुनी जा सकती है। और वह आध्यात्मिक सगीत भी सुना जा सकता है, जो विकार वासनाओ मे एक जलती चिनगारी-सी लगा देता है उन्हे भस्म कर देता है। इस स्थिति मे इन्द्रियो के उपयोग के सम्बन्ध मे विवेक के साथ क्या कुछ निर्णय नही करना चाहिए ?

मुँह का उपयोग किया जाता है, एक ओर किसी दीन-दुखिया को ढाढस बधाने के लिए, प्रेम की मधुर वाणी बोलने के लिए, और दूसरी तरफ कठोर गाली देने के लिए और दूसरो का तिरस्कार व निन्दा करने के लिए भी। हाँ, तो मुँह बोलने के लिए मिला है। परन्तु उससे क्या शब्द बोलने चाहिएँ, और किस अवसर पर बोलने चाहिएँ ? यह निर्णय तो करना ही पडेगा।

ससार मे रहते हुए कानो से सुना भी जाएगा, मुँह से बोला भी जाएगा, और इसी प्रकार खाया-पिया भी जायगा। परन्तु धर्म-शास्त्र का उपयोग तो केवल इसीलिए है कि उसके सहारे हम यह विवेक प्राप्त करे कि हमे—क्या

सुनना चाहिए, क्या बोलना चाहिए और क्या खाना-पीना चाहिए ?

स्वर्ग मे जब कोई जीव देव-रूप मे उत्पन्न होता है, तो सैकडो-हजारो देवी-देवता उसके अभिनन्दन हेतु खडे हो जाते है । वहाँ चारो ओर से एक ही प्रश्न सुनाई पडता है, और उस प्रश्न का उत्तर उस नए देवता को देना पडता है । वह प्रश्न है —

"किं वा दच्चा, किं वा भुच्चा ?"

अर्थात्—तुम क्या देकर आए हो, और क्या खाकर आए हो ?

स्वर्ग मे उत्पन्न होते समय पूरी तरह सास भी न ले सकोगे और पहली अँगडाई लेकर उठते ही तुम से यह प्रश्न पूछा जाएगा कि क्या खाकर आए हो ? तब इस सम्बन्ध मे विस्तार पूर्वक उत्तर देना ही होगा कि मै न्याय-नीति के अनुसार अपना और अपने परिवार का भरण-पोषण करके आया हूँ । मैने महा-हिसा के द्वारा रोटी नही पाई है । एक विवेकशील गृहस्थ के रूप मे, श्रावक के योग्य जो भी खाया और खिलाया है, वह महारभ के द्वारा नही , किन्तु अल्पारभ के द्वारा खाया और दूसरो को खिलाया है । यही उपयुक्त उत्तर वहाँ देना होगा ।

मोक्ष और स्वर्ग की जो चर्चा होती है, वास्तव मे वह मोक्ष और स्वर्ग की चर्चा नही, अपितु जीवन-निर्माण की और सुनिश्चित मार्ग को ढूँढने की चर्चा है । वह चर्चा है—जीवन मे अमृत का मार्ग खोजने की ।

हाँ, तो प्रस्तुत प्रश्न के सम्बन्ध मे भी विवेक की आवश्यकता है। खेती-वाडी के रूप मे जो धन्धे है, वे किस रूप मे हैं और किस प्रकार के है ? भगवान् ऋषभदेव ने कहा है कि—"अनार्य मार्ग से रोटी मत पैदा करो। जहाँ दूसरो का खून बहाया जाता है, बिना विवेक-विचार के और महारौद्रभाव से वहाया जाता है, वे सब अनार्य कर्म हैं। शिकार खेलना, माँस खाना, जुआ खेलना आदि, सब अनार्य कर्म है। इन अनार्य कर्मो के द्वारा जो रोटी आती है, वह रोटी नही, अपितु रोटी के रूप मे पाप आता है। वह पाप तो जीवन का पतन ही करेगा।

हमारे यहाँ 'प्रासुक' कामो की बडी चर्चा चला करती है। 'प्रासुक' वे काम कहलाते है, जिनमे हिंसा न हो, या अत्यल्प हो। दो जुएबाज आमने-सामने बैठे है। ताश का पत्ता उठाकर फेंका कि बस हार-जीत हुई और हजारों इधर से उधर हो गए। ऊपर-ऊपर से तो ऐसा मालूम होता है कि इसमे कोई हिंसा नही हुई। यदि दुकान करते हैं तो हिंसा होती है, दफ्तर जाते है तो हिंसा होती है। जीविका के लिए जो कुछ भी कार्य करते है, तो भी हिंसा हुए बिना नही रहती। किन्तु जुआ खेलना ऐसा 'प्रासुक' काम है कि उसमे हिंसा नही है। बहुतो की ऐसी धारणा है, परन्तु विचार करना चाहिए कि यह महारंभ है या अल्पारंभ ? नीति है या अनीति है ? आप विचार करे या न करे, इस सम्बन्ध मे शास्त्रो ने तो निर्णय किया है और स्पष्ट बताया है कि—सात दुर्व्यसनो मे जुआ खेलना पहला दुर्व्यसन

है। मास खाने और मद्य पीने की गणना बाद मे की गई है, सबसे पहले जुए की ही गर्दन पकडी गई है। यद्यपि जुआ खेलने मे बाहर से कोई हिसा दिखाई नही देती, परन्तु अन्दर मे हिसा का कितना गहरा दूषण है, जो दूर-दूर तक न जाने कितने परिवारो को उजाड देता है, सिर्फ एक पत्ते के रूप मे। जुआरी का अन्त करण कितना सक्लेशमय रहता है, कितना व्याकुल रहता है, और जुए की बदौलत कितनी अनीति और कितनी बुराइयाँ जीवन मे प्रवेश करती है, इन समस्त दूपण-चक्रो को आप चाहे न देख सकते हो, परन्तु शास्त्रकार की दूरदर्शी सूक्ष्म दृष्टि से यह सब कुछ छिपा नही है।

इस प्रकार हम देखते है कि ससार के सोचने का ढग कुछ और होता है, और शास्त्रकारो का दृष्टिकोण कुछ और ही ढग का होता है।

हाँ, तो कथन का आशय यही है कि अन्न अपने आप मे जीवन की बहुत महत्वपूर्ण आवश्यकता है। कपडे की भी आवश्यकता है और दूसरी चीजो की भी आवश्यकता है, परन्तु पेट भरने की आवश्यकता सबसे पहली है। अन्न इतना महत्त्वपूर्ण है कि यदि ससार भर का धन एक तरफ पडा है और अन्न एक तरफ पडा है, तो तराजू मे अन्न का पलडा भारी रहेगा और दूसरी चीजो का हल्का।

जैनाचार्यों ने सम्राट् विक्रमादित्य का जीवन-चरित्र लिखा है। एक बार सम्राट् हाथी पर सवार होकर निकल रहे थे। मत्री और सेनापति पास मे बैठे थे। जब अनाज

की मडी मे से सवारी निकली तो सम्राट् ने अपने मत्री से कहा—'कितने हीरे बिखरे पडे है !'

मत्री ने इधर-उधर आँखे घुमाकर अत्यन्त सावधानी के के साथ देखा, किन्तु उसे कही हीरे नजर नही आए। तब वे बोले—अन्नदाता, हीरे कहाँ है ?

सम्राट् ने कहा—तुम्हे मालूम ही नही कि हीरे कहाँ पडे है ? इतना कहकर सम्राट् उछल कर हाथी से नीचे उतरे और धूल मे से अन्न के उन बिखरे कणो को उठाकर बडे प्रेम से खा गए।* फिर सम्राट् ने कहा—अन्न के ये दाने पैरो के नीचे कुचलने के लिए नही है। इन हीरो का महत्त्व-पूर्ण स्थान मुँह के सिवाय और कहाँ है ? यही इनके लिए तिजोरी है और सुरक्षित स्थान है।

सम्राट् ने फिर कहा—"जो देश अन्न का अपमान करता है, उसके विषय मे जितनी लापरवाही करता है, वह उतनी ही हिंसा करता है, उतनी ही दूसरो की रोटियाँ छीनता है, और दूसरो का गला घोटता है।" और कहते हैं—वह अन्न-पूर्णा देवी साक्षात् रूप मे प्रकट हुई और बोली—"राजन्, तुमने मेरा इतना आदर किया है, अत तुम अपने जीवन मे कभी अन्न की कमी महसूस नही करोगे। तुम्हारे देश मे अन्न का भण्डार अक्षय रहेगा।"

आरण्यक मे कहा भी गया है —

"अन्न न निन्द्यात्।"

अर्थात्—"अन्न की निन्दा मत करो, अवहेलना और

---

* देखिए, उपदेश-तरगिणी।

तिरस्कार न करो ।" यही कारण है कि भारत की सस्कृति मे जूठन छोडना पाप समझा जाता है । यानी जितना भोजन आवश्यक हो, उतना ही लिया जाए और जूठन छोडकर मोरियो मे व्यर्थ न बहाया जाए । जो जूठन छोडते है, वे अन्न देवता का जान-बूझकर अपमान करते है ।

इस तरह अन्न का एक-एक दाना सोने के दाने से भी महँगा है । सोने के दानो के अभाव मे कोई मर नही सकता, परन्तु अन्न के दानो के विना हजारो नही, लाखो ने छटपटा कर प्राण दे दिये है । परिस्थितियाँ आने पर ही अन्न का वास्तविक महत्त्व मालूम होता है । जिनके यहाँ अन्न का भण्डार भरा है, वे भले ही अन्न की कद्र न करे । परन्तु एक दिन ऐसा भी आता है, जब कि भडार खाली होते है और अन्न अपनी कद्र करा लेता है ।

यदि अन्न रहेगा—तो धर्म, ज्ञान, विज्ञान सभी जीवित रहेगे , और यदि अन्न न रहा—तो वे सब भी काफ़ूर हुए विना न रहेगे । आप भली-भाँति जानते है कि जैन-साहित्य (मूल आगम-साहित्य) का बहुत-सा भाग विच्छिन्न हो गया है । वह कहाँ चला गया, और कैसे चला गया ? इस सम्बन्ध मे आपने सुना होगा कि सुदूर अतीत मे बारह वर्ष का घोर अकाल पडा था । उस समय अन्न के एक-एक दाने के लिए मनुष्य मरने लगे थे । उस समय पेट का प्रश्न ही सब से बडा और महत्त्वपूर्ण बन गया था और उसके सामने स्वर्ग और मोक्ष तक के प्रश्न गौण हो गए थे । जैन इतिहास कहता है कि वह विशाल आगम-साहित्य, अन्न के अभाव मे, तत्का-

लीन भूख की भयानक ज्वालाओ मे भस्म हो गया।

उस दुर्भिक्ष के सम्बन्ध मे यहाँ तक सुना गया है कि—लोग हीरे और मोतियो के कटोरे भर कर लाते थे। वह कटोरा अन्न के व्यापारी को अर्पण करते और हजारो मिन्नते करते थे, और साथ ही आँसुओ के मोती भी अर्पण कर देते थे। तब कही मोतियो के बराबर ज्वार के दाने मिलते थे। उन्ही दानो पर किसी तरह गुजारा किया जाता था। जब ऐसी भयानक स्थिति थी तो वह ज्ञान, विज्ञान, विचार और विवेक कहाँ ठहरता ? बडे-बडे सन्त, त्यागी और वैरागी, जिनको जाना था, वे तो सथारा करके आगे की दुनिया मे चले गए। परन्तु जो नही जा सके, वे लोग भूख के मारे घबरा गए। तनिक उस समय की परिस्थिति पर विचार तो कीजिए। जो साधक एक दिन बडी शान से साम्राज्य को भी ठुकरा कर आए थे, आज वे ही अन्न के थोडे-से दानो के अभाव मे—रोटी न मिलने पर—डगमगाते दिखाई देते है।

वास्तव मे यह जीवन का जटिल प्रश्न है। जब इसका ठीक तरह से अध्ययन करेगे, तभी तो हमे सही राह मिलेगी। अन्यथा चिन्तन के अभाव मे सही दिशा नही मिल सकती। सही चिन्तन करने पर आपको स्पष्टतया मालूम हो जाएगा कि वास्तव मे भाग्यशाली वही है, जिसकी अन्न-सम्बन्धी आवश्यकता पूर्ण हो जाती है, और जिसकी यह आवश्यकता पूर्ण नही होती, उसके भाग्य का कोई अर्थ नही रहता।

परन्तु आजकल लोगो ने पुण्य की कसौटी दूसरी ही बना रखी है। वे जीवन के पुण्य को हीरे, जवाहरात, सोने

और चाँदी से तोलते है। जहाँ हीरो का ज्यादा ढेर लगा हो, वहाँ ज्यादा पुण्य समझा जाता है। परन्तु जब पुण्य को इस अर्थवाद की तराजू पर तोलना शुरू किया, तभी जीवन मे सबसे पहले गडबड शुरू हुई। अस्तु, आपको विचारना है कि इस सम्बन्ध मे शास्त्रकार क्या कहते है, आप क्या कहते है, और हमारे दूसरे साथी क्या कहते है ?

थोडा-सा विचार कीजिए और गम्भीर होकर सोचिए। एक गृहस्थ है, उसके यहाँ खेती-बाडी का धन्धा होता है। वह कठोर परिश्रम के द्वारा रोटी कमाता है और गरीब होते हुए भी न्याय-नीति की मर्यादा मे रहता है। दूसरा परिवार एक कसाई का है। उसके यहाँ प्रतिदिन हजारो पशु काटे जाते है और इस धन्धे के कारण उसके यहाँ हीरे और जवाहरात के ढेर लगे हैं। अब यदि किसी को जन्म लेना है तो इन दो परिवारो मे से किस परिवार मे जन्म लेना पुण्य है ? उसका धर्म उसे किधर ले जाएगा ? अगला जन्म वह किसान के यहाँ लेगा या कसाई के यहाँ ? धर्मनिष्ठ किसान गरीब तो है, परन्तु शास्त्रकार की तत्त्वदर्शी दृष्टि मे असली पुण्य उसी दरिद्रनारायण की झौपडी मे है और वही पुण्यानुबंधी सच्चा पुण्य है—जो यहाँ भी प्रकाश देता है, आगे भी प्रकाश देता है और उसी प्रकाश से सारी वसुधा प्रकाशमान होती है।* मारवाडी भाषा मे कहते है—'उससे सुखे सुखे मोक्ष प्राप्त होता है।'

---

*देखिए, उत्तराध्ययन सूत्र ३, १७

पापाचार के द्वारा रुपए, पैसे, अठन्नियाँ और चवन्नियाँ ज्यादा मिल गई तो किस काम की ? यदि रूखी-सूखी रोटी विवेक, विचार और नीति के साथ मिल जाती है, तो वही पुण्य का सीधा मार्ग है। दुनिया भर के अत्याचारो के बाद और निरीह प्राणियो का खून बहाकर अगर हीरे और मोती मिल भी जाएँ तो हमारे यहाँ वह पुण्य का मार्ग नही माना जाता है।

अब आप क्या निर्णय करते है ? किस परिवार मे जन्म लेना पसन्द करते है ? हमारे यहाँ एक श्रावक ने, जोकि एक बडे विचारशील हो चुके है, यह कहा है कि मुझे अन्याय और अत्याचार के सिहासन पर यदि चक्रवर्ती का साम्राज्य भी मिले तो उसे ठुकरा दूँगा और अनन्त-अनन्त काल तक उसकी कल्पना भी नही करूँगा। मेरे सत्कर्मो के फलस्वरूप, मेरी तो यही भावना है कि मुझे अगला जन्म लेना ही न पडे। यदि जन्म लेना ही पडे तो मै किसी ऐसे परिवार मे ही जन्म लूँ, जहाँ विवेक हो, विचार हो, न्याय और नीति हो, फिर चाहे उस परिवार मे जूठन उठाने का ही काम मुझे क्यो न करना पडे !

वस्तुत यही निर्णय ठीक है और आदर्श-जीवन का प्रतीक है। आपके पूर्वजो का यह आदर्शपूर्ण निर्णय, भारत की मूल सस्कृति का द्योतक है और यह वह प्रतीक है जिसे जैन-धर्म ने अपना गौरव माना है। इसमे जो उमग, उत्साह और आनन्द है, वह अन्यत्र कहाँ ?

मै आप से पूछता हूँ—दो यात्री चले जा रहे है। बहुत बडा मैदान है, सैकडो कोसो तक गाँव का नाम नही है।

दोनो यात्री भयङ्कर रास्ते से गुजर रहे है। उन दोनो को भूख लग आई। भूख के मारे छटपटाते हुए, व्याकुल होते हुए चले जा रहे है। अकस्मात् उस समय वे एक तरफ दो थेले पडे हुए देखते है। उन्हे देखकर वे अपने को भाग्यशाली समझते हैं और आपस मे फैसला करते है कि यह थैला तेरा, और वह मेरा। अर्थात्—वे दोनो उन थैलो का बँटवारा कर लेते है। वे दोनो थेलो के पास पहुँचते है और अपने-अपने थेले को खोलते है। एक मे भुने चने निकलते हे और दूसरे मे हीरे और मोती। अब आप ही निर्णय दीजिए कि वास्तव मे भाग्यशाली कौन है ? यहाँ किसके पुण्य का उदय हुआ है ? जिसे जवाहरात का थैला मिला है, वह उन्हे लेकर अपने सिर से मार लेता है और कहता है कि इनकी अपेक्षा यदि दो मुट्ठी चने मिल जाते तो ही अच्छा था ! उनसे प्राण तो बच जाते ! ऐसी स्थिति मे जीवन-रक्षा की दृष्टि से उन हीरो और मोतियो का क्या मूल्य है ?

जिसे अन्न का थैला मिला, वह वाग-वाग हो जाता है कि न जाने किस जन्म का पुण्य आज काम दे गया है।

इसके लिए मै तो यही कहूँगा कि शास्त्रो को भी टटोलने की जरूरत नही है, सिर्फ जीवन को ही टटोलने की जरूरत है और जीवन-सम्बन्धी यथार्थवादी दृष्टिकोण के अध्ययन की अनिवार्य आवश्यकता है।

भारतीय सस्कृति के एक आचार्य ने कहा है कि—"अन्न की निन्दा करना पाप है।" जूठन छोडना हमारे यहाँ हिंसा है, क्योकि वह अन्न का अपव्यय है, और कम

खाना पुण्य है। कम खाना पुण्य तो अवश्य है, परन्तु खाने को कम मिलना क्या है ? आपके सामने तीन चीजे है—ज्यादा खाना, कम खाना और कम खाने को मिलना। ज्यादा खाने के विषय मे तो आपने कह दिया कि ग्रन्थकारो के कथनानुसार ज्यादा खाने वाला अगले जन्म मे अजगर बनता है। और कम खाना धर्म माना जाता है। अपने यहाँ ऊनोदर तप माना गया है जो कि अनशन के बाद आता है, वह बडा उत्कृष्ट तप है। तपो मे एक के बाद दूसरा, और दूसरे के बाद तीसरा सूक्ष्म होता जाता है, अर्थात्—उत्तरोत्तर महत्त्वपूर्ण होता जाता है। एक आचार्य ने कहा है कि अनशन की तुलना मे ऊनोदर तप विशेष महत्त्व रखता है। इसका क्या कारण है ? अनशन तप के समय बिल्कुल ही नही खाया जाता, खाने की तरफ ध्यान ही नही दिया जाता, परन्तु ऊनोदर मे कम खाया जाता है। खाने के लिए बैठना और जब स्वादिष्ट मिष्टान्नो के खाने का आनन्द अनुभव हो तो भी अधूरा खाना मुश्किल होता है। भोजन करते समय भोजन के रस को बीच मे ही छोड देना, भोजन बिल्कुल ही न करने की अपेक्षा अधिक त्यागवृत्ति माँगता है। यह एक बडा एव पवित्र परिवर्तन है, आध्यात्मिक क्रान्ति है। इस प्रकार का कम खाना हमारे यहाँ धर्म माना गया है।

---

*जैन-धर्म मे अनशन आदि बारह तप माने गए हैं, उनमे ऊनोदर दूसरे नम्बर पर है। ऊनोदर का अर्थ है—जितनी भूख हो, उससे भी कुछ कम खाना। अर्थात्—पेट को थोडा खाली रखना।

परन्तु खाने को कम मिलना क्या है ? इसे पाप माना गया है। भारतीय सस्कृति कहती है कि कम खाना तो धर्म है, किन्तु खाने की मात्रा कम मिलना पाप है। जिस देश के बच्चो, बूढो, महिलाओ और नौजवानो को खाना नही मिलता है, उस देश की व्यवस्था करने वालो के लिए वह एक बडा गुनाह है। कम खाने की शिक्षा अवश्य दी गई है, पर खाना कम क्यो मिलना चाहिए ? खाने की मात्रा कम मिलना, अपनी व्यवस्था को दोषपूर्ण सिद्ध करना है, और अपने मे एक पाप को प्रकट करना है। और यह पाप ऐसी बुराई है, जो हजारो दूसरी बुराइयो को पैदा करती है।

इस विवेचन से यह स्पष्ट है कि धर्म को, पुण्य को या सत्कर्म को हीरो और मोतियो से तोलना गलत बात है। पर, दुःख तो इस बात का है कि गलत राह को सही मान लिया गया है। पुण्य और पाप को जीवन की उपयोगिता से और उपयोगिताओ की पूरक आवश्यकताओ से तोलना चाहिए। जीवन की किसी भी अनिवार्य आवश्यकता की परि-पूर्ति हीरो-जवाहरात की विद्यमानता से नही हो सकती। चाँदी सोने की 'रोटियाँ' खाकर, मोतियो का 'शाक' बनाकर और हीरे का 'पानी' पीकर कोई अपने प्राणो की रक्षा नही कर सकता। प्राणो की रक्षा तो केवल अन्न ही कर सकता है। अमीर हो या गरीब, दोनो को ही अन्न की सीधी-सच्ची राह पर चलना होगा। आखिर, जीवन तो जीवन की ही राह पर चलेगा। इस सम्बन्ध मे एक आचार्य ने कहा है —

"पृथिव्या त्रीणि रत्नानि, जलमन्न सुभाषितम्।
मूढै. पाषाण-खण्डेषु, रत्न-सज्ञा विधीयते ॥"

यह सस्कृत पद्य है, मैने हिन्दी मे इसका अनुवाद इस प्रकार किया है :—

"भूमडल मे तीन रत्न हैं, पानी-अन्न-सुभाषित वाणी।
पत्थर के टुकडो मे करते, रत्न-कल्पना पामर प्राणी ।।"

वास्तव मे इस पृथ्वी पर तीन ही रत्न चमक रहे है—ज़ल, अन्न और सुभाषित वाणी। नदी, तालाब या नहर मे जो जल वह रहा है, उसकी एक-एक बूँद की तुलना मोतियो और हीरो से भी नही की जा सकती। यदि कोई तोलता है तो वह गलती करता है। अन्न का एक-एक दाना चमकता हुआ रत्न है, जिसकी रोशनी हीरो की चमक को भी मात करती है। तीसरा रत्न है—सुभापित वाणी, अर्थात्—मीठा बोल। ऐमा बोल, जो लगे हुए घाव पर मरहम का काम करे, प्रेम का उपहार अर्पण कर दे। बेगानो को अपना बना दे और जब मुँह से निकले तो ऐसा लगे कि मानो फूल झर रहे है, ऐसा सुभाषित भी एक रत्न है।

जो मूढ है—यहाँ आचार्य 'मूढ' शब्द का प्रयोग कर रहे है तो मुझे भी करना पड रहा है, अर्थात्—अज्ञानी है, वे पत्थर के टुकडो मे रत्नो की कल्पना करते है। किन्तु पूर्वोक्त तीन रत्न ही वास्तविक रत्न है, और ये चमकते हुए पत्थर के टुकडे उनके समकक्ष कहाँ ?

रामायण काल की एक घटना है, जिसमे बहुत ही सुन्दर तथ्य का वर्णन है।* जब रामचन्द्रजी चौदह वर्ष का वनवास समाप्त कर रावण-बध के बाद सीता तथा वानरो

---

*देखिए, उपदेश—तरंगिणी।

सहित अयोध्या वापिस आए तो परिवार के लोग तथा राज्य के वडे-वडे सेठ साहूकार उनके स्वागत के लिए दौड पडे। हजारो की सख्या मे जनता अभिनन्दन के लिए वहाँ जा पहुँची। रामचन्द्रजी ने सवसे क्षेम-कुशल पूछते समय एक ही प्रश्न किया—घर मे सव ठीक है, धान्य की कमी तो नही है ?

कुछ लोग रामचन्द्रजी के प्रश्न का मर्म नही समझ सके। उन्होने सोचा—"मालूम होता है, महाराज भूखे आए है। तभी तो यह नही पूछा कि रत्न-भडार तो भरे है ? और यह भी नही पूछा कि घर मे कितना धन है ? वरन् यह पूछा कि घर मे धान्य की कमी तो नही है। महाराज के अन्तर मे आजकल रोटी ही समाई हुई है।

अस्तु, उपस्थित लोगो ने हँसते हुए कहा—"महाराज, आपकी कृपा है। अन्न की कुछ कमी नही है। अन्न के के भडार इतनी विशाल मात्रा मे भरे पडे है कि वर्षों खाएँ, तव भी खाली नही हो।" उक्त कथन मे स्पष्ट ही परिहास की ध्वनि सुनाई दे रही थी।

लोगो की इस भ्रान्त धारणा को समझने मे रामचन्द्र जी को देर नही लगी। उन्होने सोचा—जिनके पेट भरे हुए हैं, उनकी निगाह अन्न से हटकर अन्यत्र भटक गई है। इसीलिए ये सव लोग मेरे प्रश्न के महत्व को नही समझ सके और मुस्कराने लगे है।

स्वागत अभिनन्दन के वाद रामचन्द्रजी अयोध्या मे आ गए। एक दिन राज्य-भर मे यह सन्देश प्रसारित किया

गया कि महाराज रामचन्द्रजी वनवास की अवधि पूरी करके सकुशल लौट आए है, अतः नगर-निवासियो को प्रीतिभोज देना चाहते है। सारी प्रजा को निमत्रण दे दिया गया। अमुक समय निश्चित कर दिया गया और तदनुसार सब प्रजाजन आ पहुँचे।

निमत्रण सभी को प्रिय होता है। साधारण घर का मिले तो भी लोगो को वह बडी चीज मालूम होती है, फिर कही सम्राट् के घर का मिल जाए, तब तो कहना ही क्या है? आज जवाहरलाल नेहरू के यहाँ यदि किसी को एक गिलास सादा पानी ही क्यो न मिल जाए, फिर देखिए, वह अभिमान की तीरकमान से कैसी तीरदाजी दिखाता है।

हाँ, तो नियत समय पर सब लोग भोजन के लिए आ गए और पगत बैठ गई। रामचन्द्रजी ने कहा—"भैया, हम अपने हाथो से परोसेगे!" हीरे और मोतियो की भरी हुई डलियाँ आई। राम ने एक-एक मुट्ठी सब की थाली मे परोस दिए।

हमारी भारतीय परम्परा यह है कि भोजन कराने वाले की आज्ञा मिलने पर ही भोजन आरम्भ किया जाता है। लोगो ने सोचा कि हीरे आदि तो पहले-पहल भेट-स्वरूप परोसे गए है, भोजन तो अब आएगा। परन्तु रामचन्द्रजी ने हाथ जोडकर विनम्र निवेदन किया—"भोजन आरम्भ कीजिए।"

लोग पशोपेश मे पड गए कि खाएँ क्या? खाने की तो कोई चीज परोसी ही नही गई!

रामचन्द्र जी बोले—क्या हुआ ? एक-एक हीरा लाखो के मूल्य का है, और कुछ रत्न तो सर्वथा अनमोल है। आप सोच-विचार मे क्यो पडे है ? भोजन कीजिए न ?

प्रजाजन बोले—महाराज, अनमोल तो अवश्य है। इनसे जेब ही भरी जा सकती है, परन्तु पेट नही भरा जा सकता। पेट तो पेट के तरीके से ही भरेगा।

राम ने फिर कहा—बडी सुन्दर चीजे है ! ऐसी चीजे देखने मे भी कम आती है। ये तो पेट के लिए ही हैं।

प्रजाजन कहने लगे—महाराज, इन्हे पेट में डाले भी कैसे ? यह पेट की नही, जेब की खुराक है।

अब रामचन्द्रजी ने असली मर्म खोला। बोले—उस दिन जब मैने प्रश्न किया था कि—घर मे धान्य की कमी तो नही है ? तब आप लोग धन के प्रमोद मे हँसने लगे थे। आपकी आँखो मे तो धन का ही महत्त्व है ! आपको तो हीरे और मोती ही चाहिएँ ! धान्य की जरूरत ही क्या है ? बस, धन मिल गया तो ठीक है, उसी से जीवन पार हो जाएगा।

इसके बाद रामचन्द्रजी ने फिर कहा—अब आप भली-भाँति समझ गए होगे ! धन से पहला नम्बर धान्य का है। धान्य मिलेगा तो धन कमाने के लिए हाथ उठेगा, और धान्य नही मिला तो एक कौडी कमाने के लिए भी हाथ नही उठ सकता। आपके सकल्प गलत रास्ते पर चले गए है, अत सही स्थिति को आप नही समझ सके है। अन्न की उपेक्षा, जीवन की उपेक्षा है। अन्न का अपमान करने वाला राष्ट्र भी अपमानित हुए बिना नही रह सकता। जिस देश के लोग

अन्न को हीन दृष्टि से देखने लगे, फिर वह देश दुनिया के द्वारा हीन दृष्टि से क्यो न देखा जाए ?

अन्न की समस्या जीवन की प्रमुख समस्या है। इसीलिये भगवान् ऋषभदेव जब इस ससार मे अवतीर्ण हुए और उन्हे भूखी जनता मिली तो धर्म का उपदेश देने से पहले उन्होने आजीविका का ही प्राथमिक उपदेश दिया और उसमे कृषि ही एकमात्र ऐसी आजीविका थी, जिसका साक्षात् सम्बन्ध उदर पूर्ति से था। हजारो आचार्यो ने उनके उपदेश को ऊँचा उठा लिया और कहा कि उन्होने इतना पुण्य प्राप्त किया कि हम उसकी कोई सीमा बाँधने मे असमर्थ है। भगवान् ने जो आर्य-वृत्ति सिखलाई, उसका वर्णन आचार्यो ने भी किया है और मूल-सूत्रकारो ने भी किया है।

इस सम्बन्ध मे लोग शायद यह कह सकते है कि उस समय भगवान् गृहस्थ थे, इसीलिये उन्होने गृहस्थ का मार्ग सिखा दिया। बात तो ठीक ही है, सभी विचारक कृषि को गृहस्थ का और ससार का मार्ग कहते है। कौन कहता है कि वह मोक्ष का मार्ग है ? परन्तु प्रश्न तो नीति और अनीति का है। गृहस्थ की आजीविका दोनो तरह से चलती है। कोई गृहस्थ न्याय-नीति से अपना जीवन-निर्वाह करता है, और कोई अनीति से—जुआ खेलकर, कसाई खाना खोलकर, शिकार करके, चोरी करके, या ऐसा ही कोई दूसरा अनैतिक धन्धा करके निर्वाह करता है। आप इनमे से किसे अपेक्षाकृत अच्छा समझते हैं ?

जहाँ न्याय और नीति है, वहाँ पुण्य है। भगवान् ने तो

ससार को नीति ही सिखाई, अनीति नही। यदि शिकार खेलना सिखा देते तो वह भी एक आजीविका का मार्ग था, परन्तु वह अनीति का मार्ग है। अतएव भगवान् ने जनता को अन्याय का मार्ग जान-बूझकर नही सिखाया।

जम्बूद्वीप-प्रज्ञप्ति सूत्र मे, जहाँ युगलियो की जीवन-लीला का वर्णन है, और उसी म यह उल्लेख भी है कि—भगवान् ने उन्हे तीन कर्म सिखलाए , साथ मे यह भी कहा है—

"पयाहियाए उवदिसइ।"

अर्थात्—प्रजा के हित के लिए, उनके कल्याण के लिए ये सब कलाएँ सिखलाई ।

भगवान् के द्वारा उन कलाओ का सिखाया जाना 'रिपट पडे की हरगङ्गा' नही था। एक बूढा, सर्दी के मौसम मे गङ्गा के किनारे-किनारे जा रहा था। उसका पैर फिसल गया और वह गङ्गा मे गिर पडा। जब गिर पडा तो कहने लगा—'हर गगा, हर गगा।' इसी को 'रिपट पडे की हर गगा' कहते है। सर्दी के कारण गगा-स्नान करने की इच्छा नही थी, किन्तु जब गगा मे गिर ही पडे तो गगा-स्नान का नाटक खेलने लगे।

हाँ, तो भगवान् के द्वारा इस तरह बिना समझे-बूझे कलाएँ नही सिखाई गई। उन्होने विवेक को साथ मे लेकर और विचार के मापक से नीति को सही दृष्टिकोण से नापकर प्रजा के कल्याण की कल्पना की थी। लोगो को नरक के द्वार पर पहुँचाने के लिए नही, वरन् कल्याण के मार्ग पर

अग्रसर करने के लिए , मानव को दानव बनाने के लिए नही, वरन् इन्सान की इन्सानियत को कायम रखने के लिए, कृषि आदि आदर्श कलाओ का सत् शिक्षण दिया था ।

—: ३ :—

श्रावक और स्फोट कर्म

हिंसा और अहिंसा का प्रश्न इतना जटिल है कि जब तक गहराई मे पहुँच कर, हम इस पर विचार नही कर लेते, तब तक उसकी वास्तविक रूप-रेखा हमारे सामने नही आ सकती। प्राय देखा जाता है कि लोग शब्दो को पकड कर चल पडते है, फलत उनके हाथ मे किसी तत्त्व का केवल एक खोखा मात्र ही रह जाता है और उसका रस प्राय निचुड जाता है। जिस फल का रस निचुड जाता है और केवल ऊपरी खोखा ही रह जाता हे, उसका कोई मूल्य नही होता। वह तो केवल भार है। हिंसा और अहिंसा के सम्बन्ध मे भी आजकल यही दृश्य देखा जाता है। प्राय लोग हिंसा-अहिंसा के शब्दो को ऊपर-ऊपर से पकड कर बैठ गए है, इस कारण उक्त शब्दो के भीतर का मर्म उनकी समझ मे नही आ सका।

हिंसा और अहिंसा का वास्तविक मर्म समझाने के लिए बहुत दिनो से सामूहिक प्रवचन एव व्यक्तिगत चर्चाओ द्वारा स्पष्ट प्रयत्न किए जा रहे है। किन्तु इन प्रयत्नो का उपयोग

केवल मनोरजन के रूप मे नही करना है। हमारा मूल आशय तो यह है कि अहिसा की स्पष्ट रूप-रेखा जनता के सामने प्रस्तुत की जानी चाहिए और जब तक वह सही रूप मे नही आएगी, तब तक हम धर्म के प्रति, समाज के प्रति और राष्ट्र के प्रति भी प्रामाणिक नही हो सकेगे। अतएव वारीकी से सोचना चाहिए कि हिसा और अहिसा का वास्त-विक रूप क्या है ?

यह एक लम्बी चर्चा है। प्राय लोग जव इस प्रश्न पर विचार करने के लिए शास्त्रो के पन्ने पलटते हैं तो पहले से ही कुछ सकल्प रख कर चलते है। और जब इस तरह चलते है तो उनका सकल्प एक ओर टकराता है और शास्त्रो की आवाज दूसरी ओर सुनाई देती है। ऐसी स्थिति मे प्राय सकल्प की आवाज तो सुन ली जाती है और शास्त्रो की आवाज के स्वर दूर जा पडते हैं। परन्तु इससे सचाई हाथ नही आती, वास्तविकता का पता नही चलता, सिर्फ आत्म-सन्तोष मात्र थोडे-से कल्पित विश्वास को पोपरग मिल जाता है। अतएव यह आवश्यक है कि किसी भी तत्त्व पर विचार करते समय हमारी बुद्धि निष्पक्ष हो, क्योंकि तटस्थ बुद्धि के द्वारा ही सच्चा निर्णय प्राप्त हो सकता है।

एक न्यायाधीश है। वादी और प्रतिवादी उसके न्यायालय मे उपस्थित है। किन्तु न्यायाधीश यदि किसी एक के पक्ष मे पहले से ही बुद्धि को स्थिर कर लेता है तो वह जज की कुर्सी या न्याय के सिहासन का उत्तरदायित्व पूरी तरह नही निभा सकता। आपको ज्यो ही यह वात मालूम पडती है, आप उस

न्यायालय को छोडकर दूसरे न्यायालय मे जाने की प्रार्थना करते है। यद्यपि यह ठीक है कि फैसला किसी एक के ही पक्ष मे होगा, किन्तु निर्णय देने से पहले ही यदि निर्णय कर लिया जाता है और दिमाग मे पहले ही पक्ष-विशेष का भाव भर लिया जाता है तो न्याय का उत्तरदायित्व ठीक-ठीक अदा नही किया जा सकता। पक्षपात के पक मे कर्त्तव्य के कदम विना सने रह नही सकते। ठीक, यही वात शास्त्रो के सम्वन्ध मे भी है। अत जव हम किसी भी शास्त्रीय विषय पर गहराई से विचार करने के लिए उद्यत हो तो पहले अपनी बुद्धि को निष्पक्ष अवश्य वना ले, और तटस्थ भाव जरूर रखे। यदि निष्पक्ष बुद्धि रखकर चलेगे तो सिद्धान्त और जीवन को सही-सही परख सकेगे, और साथ ही समाज एव राष्ट्र के प्रति अपने कर्त्तव्यो को भी समझ सकेगे। अन्यथा व्यर्थ ही शास्त्रो की गर्दन मरोडते रहेगे और अपने जीवन को भी नही परख सकेगे। इस सम्वन्ध मे आचार्य हरिभद्र ने एक वडी ही सुन्दर वात कही है —

"आग्रही वत निनीषति युक्ति, तत्र यत्र मतिरस्य निविष्टा।
पक्षपात रहितस्य तु युक्तिर्यत्र तत्र मतिरेति निवेशम्॥"

जब कदाग्रही और पक्षपाती मनुष्य किसी सिद्धान्त पर विचार करता है तव वह शास्त्रो को, दलीलो को तथा युक्तियो को भी खीचकर घसीटता हुआ वही ले जाता है, जहाँ उसकी बुद्धि ने पहले से ही कदम जमा लिया है। ऐसे लोग शास्त्र के आशय तथा औचित्य को भी नही देख पाते। बस, उनका मुख्य ध्येय यही होता है कि किसी प्रकार मेरी

मनगढन्त धारणा को पुष्टि मिले। किन्तु जो पक्षपात से रहित होता है वह अपनी धारणा को वही ले जाता है, जहाँ युक्ति या शास्त्र का कथन उसे ले जाने की प्रेरणा देते है।

पक्षपात किसे कहते है? पक्ष का अर्थ 'पख' है। पक्षी जब उडता है तो उसके दोनो पख ठीक और सम रहने चाहिए। तभी वह ठीक तरह से गति कर सकता है, ऊँची उडान भर सकता है और लम्बे-लम्बे मैदानो को शीघ्रता से पार कर सकता है। किन्तु यदि उस पक्षी का एक पख टूट जाय तो वह उड नही सकता। इसी प्रकार जहाँ पक्षपात हुआ, और मनुष्य एक पक्ष का सहारा लेकर चला तो वहाँ सिद्धान्त, विचार और चिन्तन ऊपर नही उठ सकते, बल्कि वे रेंगते दिखाई पडेगे। तो पक्षपात का स्पष्ट अर्थ है—सत्य के पख टूट जाना। आवश्यकता इस बात की है कि जब हम सिद्धान्त के किसी विषय पर विचार करे तो अपना दिल और दिमाग साफ रखे और गम्भीर विचार-मथन के द्वारा सत्य का जो मक्खन निकले, उसे ग्रहण करने को सदैव तैयार रहे।

पहले हमारी बुद्धि विकसित थी तो हम आग्रह को, अहंकार को और किसी भी व्यक्ति-विशेष को महत्व न देकर केवल सत्य को ही महत्व देते थे और सत्य की ही पूजा करते थे। जहाँ सत्य की पूजा होती है, वहाँ ईश्वर की प्रतिष्ठा है। किसी देवालय मे नारियल चढा देना, नैवेद्य चढा देना या मस्तक झुका देना सच्ची ईश्वरोपासना नही है, किन्तु मन-वचन-कर्म से सत्य की पूजा करना ही ईश्वर की सच्ची आराधना है।

जो मनुष्य तटस्थ भाव से आगे वढता है और अपनी वद्धमूल मान्यताओ के आग्रह को ठुकरा देता है और उसके वदले मे सामने आने वाले सत्य के समक्ष नतमस्तक हो जाता है, वही मर्म को पा सकता हे, वही अपने जीवन को कृतार्थ कर सकता है। चाहे वह तरुण हो या वूढा, गृहस्थ हो या साधु, वह अपने आप मे वहुत ऊपर उठ सकता है। उसके जीवन की गति ईश्वरीय प्रगति है। वह अपनी महत्ता को अधिकाधिक ऊँचाई पर ले जाता है और गिरावट की ओर अग्रसर नही होता।

परन्तु सत्य का मार्ग सुगम नही हैं। वह वडा कठिन, पेचीदा और टेढा है। इतना कठिन और टेढा कि जिसके लिए भारत के एक सन्त ने कहा है —

> "क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया,
> दुर्गं पथस्तत् कवयो वदन्ति।"
>
> —कठोपनिषद्

अर्थात्—छुरे की धार पर चलना कठिन है। जिस मार्ग मे छुरे विछे हो और तलवारो की नोके ऊपर को उठी हो, उस मार्ग पर चलने वाला, नृत्य करने वाला, कितनी सावधानी से, कितनी वडी तैयारी के साथ एक-एक कदम रखता है और कितनी तटस्थता रखता है और आखिर नृत्य को पूरा कर ही जाता है। परन्तु सत्य का मार्ग छुरे की धार से भी तेज और टेढा है और विद्वान् उसे दुर्गम भी वताते है। वडे-वडे विद्वान् भी वहाँ चलते-चलते धीरज छोड देते है।

किन्तु इसमे किसी से घृणा या द्वेष करने की आवश्यकता नही है। यह तो मार्ग ही ऐसा है कि डिग जाना, फिसल जाना या विचलित हो जाना कोई बडी बात नही है। गीता मे योगिराज कृष्ण ने भी कहा है :—

"कि कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिता ।"

अर्थात्—कर्म क्या है, और अकर्म क्या है ? धर्म क्या है, और अधर्म क्या है ? पुण्य क्या है, और पाप क्या है ? इसके निष्पक्ष निर्णय मे बड़े-बडे विद्वान भी भ्रमित हो जाते है।

अतएव इस मार्ग पर पॉडित्य का भार लादकर भी नही चला जा सकता। इस पर तो सत्य की दृष्टि लेकर, अपने आपको सत्य के चरणो मे समर्पित करके ही चला जा सकता है। यदि व्यर्थ के पॉडित्य का भार लादकर चलेगे तो निष्पक्ष निर्णय नही कर सकेंगे। सत्य के प्रति गद्गद् भाव और सहज भाव लिए हुए साधक चलेगा तो सम्भव है उसे सत्य का पता लग सकता है। इसके अभाव मे विद्वान भी सत्य की झॉकी नही पा सकता।

आपका अध्ययन कितना ही अल्प क्यो न हो, यदि सत्य को ही आपने अपना लक्ष्य बना लिया है और सहज भाव से उसे ग्रहण करने के लिए आप तैयार है तो अवश्य ही आप सत्य के निकट पहुँच सकते है। इसके विपरीत बडे-बडे विद्वान् भी अहकार और पाण्डित्य के प्रमाद को साथ लेकर सत्य के द्वार तक नही पहुँच सकते।

इस सम्बन्ध मे हमारे आचार्यो ने श्रेष्ठ-से श्रेष्ठतर बाते कह दी है, वे अधिक ऊँचाई पर है, परन्तु हमारे विचारो के

हाथ इतने छोटे है कि हम ऊँचाई को छू भी नही सकते ।

परन्तु सत्य के महत्व के सामने वडे से वडा व्यक्तित्व भी हीन है । हम व्यक्ति को महत्व तो दे देते है, किन्तु विचार करने से विदित होगा कि उसे वह महत्त्व सत्य के द्वारा ही मिला है । अपने आप मे व्यक्ति का क्या महत्त्व है ? वह तो हड्डी और माँस का स्थूल ढाँचा है । परन्तु जव वह सत्य की पूजा के लिए सन्मार्ग पर चल पडता है, सत्य की ही परिधि मे रहता है और सत्य के साम्राज्य मे ही विचरण करता है, तभी उसकी पूजा की जाती है, उसका स्वागत और सम्मान किया जाता है । वह पूजा, वह आदर और वह सम्मान, उसकी सुन्दर मानव-आकृति का नही, अपितु उसकी मत्य-निष्ठा का है ।

कल्पना कीजिए—एक लम्वा आदमी सीधा दण्डायमान खडा होता है और उसका सिर यदि मकान की छत से छू जाता है तो उसकी हड्डियो की ऊँचाई, देखने वालो को तमाशा जरूर वन सकती है, पर वह हमारी श्रद्धा एव भक्ति का पात्र नही हो मकता । किन्तु जीवन की सार्थकता के लिए विचारो की और सत्य की जो ऊँचाई है, वही आदर एव सम्मान की उपादेय वस्तु वनती है । यह ऊँचाई तमाशे की वस्तु नही, अपितु चरणो मे झुकने और समर्पित होने की श्रद्धा की वस्तु है ।

इसीलिए हमारे आचार्यो ने यह कहा है कि—आप व्यक्ति को क्यो महत्त्व देते है ? हमारे गुरु ने ऐसा कहा या वैसा कहा, इस प्रकार कहकर आप एक ओर तो लाठियाँ

चलाते है और दूसरी ओर सत्य, जो तटस्थ भाव से सन्मार्ग का निर्देशन कर रहा है, उसकी पुकार तक नही सुनते ! इस शोचनीय स्थिति को देखकर दुःख होता है कि यह कैसी गडबड चल रही है। अतएव हमे भली-भाँति समझ लेना चाहिए कि सत्य का महत्त्व सर्वोपरि है और उसकी तुलना मे व्यक्ति का जो महत्त्व है, वह केवल सत्य की ही बदौलत है। सम्प्रदाय का, समाज का और व्यक्ति का महत्व एकमात्र सत्य के ही पीछे है। सत्य का बडप्पन ही व्यक्ति को बडप्पन देता है।

इस सम्बन्ध मे जैनाचार्य हरिभद्र बहुत बडी बात कह गए है। आचार्य हरिभद्र बडे ही बहुश्रुत विद्वान् हो चुके है, जिनकी विद्वत्ता को महाकाल की काली छाया भी धुँधला नही बना सकी। उनकी अमर वाणी हम आपके आमने रख रहे है। वे कहते है—

"पक्षपातो न मे वीरे, न द्वेष कपिलादिषु ।
युक्तिमद्वचन यस्य, तस्य कार्य परिग्रह ॥"

भगवान् महावीर के प्रति हमे पक्षपात नही है। वे हमारी जाति-बिरादरी के नही और सगे-सम्बन्धी भी नही है। किन्तु सत्याचरण और कठिन साधना से आखिरकार वे भगवान् के पद पर प्रतिष्ठित हो चुके है, अत उनकी वाणी के सम्बन्ध मे हम जो भी विचार करते है, वह किसी तरह का पक्षपात लेकर नही। और कपिल आदि जो अन्य महर्षि हो चुके है, उनके प्रति हमे लेशमात्र भी द्वेष और घृणा नही है। जो भी सत्य के उपासक आज तक प्रकाश मे

आए है, हम उन सब के विचारो का तटस्थ वृत्ति से अध्ययन करते है, उन सब की वाणी का चिन्तन, मनन और विश्लेषण करते हैं। जिसके विचार सत्य की निष्पक्ष कसौटी पर खरे उतरते है, उसी के विचारो को नि शक भाव से स्वीकार करते हैं और उसी का आदर-सम्मान भी करते है।

ऐसा मालूम पडता है कि आचार्य ने भगवान् को भी परीक्षा की तराजू पर रख दिया है। कदाचित् आचार्य उस सत्य को तोल रहे है, जो शतियो से और सहस्राब्दियो से बराबर तोला जा रहा है। यदि इस तराजू पर किसी सम्प्रदाय-विशेष को तोला जाए तो वह तोल पर पूरा नही उतरता है। क्योकि जितने भी सम्प्रदाय है उनमे प्राय सत्य की अपेक्षा स्वार्थ की प्रधानता होती है, अत जहाँ स्वार्थ की प्रधानता है, वहाँ सत्य का साक्षात्कार दुर्लभ है। अस्तु, एकमात्र सत्य को ही लक्ष्य-बिन्दु मान कर तोलने चलोगे तो वही तोल ठीक होगा।

आखिर, आपको सोचना चाहिए कि आप भगवान् महावीर की पूजा क्यो करते हैं? उनका सत्कार और सम्मान क्यो करते है? आखिर, उनमे ऐसा क्या चमत्कार है, जो हम अपने को उनके चरणो मे समर्पित करते हैं। उनके जीवन का जो परम सत्य है, वही तो उनकी पूजा और उनका सत्कार सम्मान करवाता है। भगवान् की पूजा, उनके गुणो की पूजा है। इस पूजा से उनके शरीर का, रूप सौन्दर्य का और बाह्य ऐश्वर्य का कोई सम्बन्ध नही है।

भारत के एक बडे आचार्य ने तो स्वय भगवान् के ही

मुँह से कहलाया है —

"तापाच्छेदान्निकषात्सुवर्णमिव पण्डितैः ।
परीक्ष्य भिक्षवो ! ग्राह्य, मद्वचो न तु गौरवात् ।"

भगवान् ने अपने सभी शिष्यो को सम्बोधन करते हुए कहा था—"हे भिक्षुओ ! मेरे वचनो को भी परीक्षणात्मक दृष्टि से सत्य की कसौटी पर जाँचो, और परखो। अच्छी तरह से जाँचने और परखने के पश्चात् यदि वे तुम्हें ग्रहण करने योग्य प्रतीत हो तो ग्रहण करो। केवल मेरे बडप्पन के कारण ही मेरे वचनो को मत मानो। सत्य के पक्ष को प्रधानता न देकर केवल गुरु के पक्ष पर ही अडे रहना किसी प्रकार उचित नही है, क्योकि व्यक्ति-विशेष का व्यक्तित्व सत्य के अस्तित्व से किसी भी अग मे ऊँचा नही है।

देखिए, कितनी निष्पक्ष एव आदर्श बात कही है ! जो सत्य का निर्णय करने चले है, वे व्यक्ति-विशेष को अधिक महत्व नही देते, अपितु सत्य को ही अधिक महत्व देते है। सत्य की प्रधानता के सम्बन्ध मे स्पष्ट रूप से कहा भी गया है —

"न तेन वृद्धो भवति येनास्य पलित शिर ।"

अर्थात्—"सिर के बाल पक जाने से ही कोई बडा नहीं हो जाता। बडा वह है, जिसके विचार स्पष्ट हो गए है, फिर भले ही वह वय की अपेक्षा छोटा ही क्यो न हो। जिसके विचारो मे कोई स्पष्टता नही आई है, यदि उसका सारा सिर बगुले की तरह सफेद भी हो जाए, तब भी वह बडा नही कहा जा सकता।

जो चर्चा चल रही है, उसके सम्बन्ध मे सही निर्णय

पर पहुँचने के लिए इतनी विस्तृत भूमिका देना आवश्यक ही है। तभी हम सत्य के किनारे पर पहुँच सकेंगे।

अब प्रश्न यह है कि—'क्या हिंसा और अहिंसा अपने आप में दो अलग-अलग चीजें हैं? जैन-धर्म क्या सिखाता है? वह हिंसा से अहिंसा की ओर जाने की राह बतलाता है, या अहिंसा से हिंसा की ओर जाने की? जैन-धर्म अन्धकार से प्रकाश की ओर ले जाता है या प्रकाश से अन्धकार की ओर? जो धर्म अथवा धर्मोपदेशक प्रकाश से अन्धकार की ओर ले जाता है—वह धर्म नहीं हो सकता, न वह गुरु ही हो सकता है और न भगवान् ही। यदि आप इस बात को स्वीकार करते हैं तो आपको यह भी स्वीकार कर लेना चाहिए कि भगवान् ऋषभदेव, तत्कालीन जनता को अन्धकार से प्रकाश की ओर ले गए थे, प्रकाश से अन्धकार की ओर कदापि नहीं।

यह माना कि भगवान् ऋषभदेव ने प्रारम्भ में जो कुछ भी शिक्षा दी, वह गृहस्थ अवस्था में दी थी। परन्तु उस समय उन्हें कौन-सा सम्यक्त्व* प्राप्त था? शास्त्रों के अनुसार उन्हें क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्त था। इसका अर्थ यह है कि

---

*जैन-दर्शन में विचार-शुद्धि की विकास-भूमिका को सम्यक्त्व कहते हैं। इसके क्षायिक, क्षयोपशम आदि अनेक भेद हैं। जब विचार-दर्शन सर्वथा शुद्ध होता है, सत्य-निष्ठा सर्वथा पवित्र होती है, तब क्षायिक सम्यक्त्व होता है। यह 'विचार-शुद्धि' की सर्वोत्कृष्ट भूमिका है। क्षयोपशम में जैसे अतिचार दूषण लग जाते हैं, वैसे क्षायिक में नहीं लगते। वह सर्वथा निर्दूषण है।

उनकी विचार-सृष्टि मे लेशमात्र भी मैल नही था। जहाँ कही भी थोडी-बहुत मलिनता होती है, वहाँ क्षयोपशम-सम्यक्त्व होता है। मलिनता की न्यूनाधिकता के कारण क्षयोपशम सम्यक्त्व अनेक प्रकार का होता है, परन्तु क्षायिक सम्यक्त्व पूरी तरह पवित्र और निर्मल होता है। और जहाँ पूर्णता है, वहाँ भेद नही होता। यही कारण है कि मतिज्ञान आदि क्षायोपशमिक ज्ञानो के जहाँ सैकडो भेद गिनाए गए है, वहाँ क्षायिक-ज्ञान अर्थात्—'केवल-ज्ञान' एक ही प्रकार का बताया गया है।

इसी प्रकार क्षायोपशमिक सम्यक्त्व के भी असख्य भेद है, जबकि क्षायिक सम्यक्त्व अखण्ड है। आखिर क्षायिक सम्यक्त्व मे यह विशिष्टता क्यो आई ? यदि इसमे मिथ्यात्व मोहनीयजन्य विकारो का जरा भी मैल होता तो अवश्य ही किसी न किसी अश मे भेद प्रकट हो जाता। जहाँ अपूर्णता है, वहाँ भिन्नता अनिवार्य है और जहाँ अभिन्नता एव अखण्डता है, वहाँ पूर्णता विद्यमान है। क्षायिक सम्यक्त्व की भूमिका इतनी विशुद्ध है कि वहाँ दर्शन-सम्बन्धी विकारो का मैल अणुमात्र भी नही है। और जब मैल नही रहा तो वह अखण्ड-निर्विकल्प हो जाता है।

हाँ, तो भगवान् को निर्मल क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्त था। आप तनिक अनुमान कीजिए कि उसके लिए कितनी अनुकम्पा होनी चाहिए ? सम, सवेग, निर्वेद, अनुकम्पा और आस्तिक्य, ये सब सम्यक्त्व के ही लक्षण है। किन्तु जो गुण सब से अधिक चमकता हुआ है और जिससे सम्यक्त्व की परख की

जाती है, वह है 'अनुकम्पा'।

भगवान् के हृदय मे कितनी दया, कितनी करुणा और कितनी अनुकम्पा थी ? उनके अन्त करण मे करुणा का सागर लहरा रहा था। वे जो भी प्रवृत्ति करते, उसमे भले ही अनिवार्य हिसा हो, परन्तु उस हिसा के पीछे भी करुणा छिपी रहती थी। कदाचित्, आप कहेगे कि अन्धकार और प्रकाश को एक किया जा रहा है ? किन्तु ऐसा नही है। हिसा तो अशक्य परिहार स्वरूप आचार मे होती है, परन्तु विचार मे तो दया और करुणा का निर्मल झरना वहता रह सकता है।

अस्तु, कथन का आशय यही है कि दूसरे सम्यक्त्व मे तो विचार-सम्बन्धी आशिक मैल चल सकता है, परन्तु क्षायिक सम्यक्त्व मे अणुमात्र भी नही खप सकता। भगवान् ऋषभदेव की प्रवृत्ति क्षायिक सम्यक्त्व की भूमिका से आरम्भ हुई है। और जहाँ क्षायिक सम्यक्त्व है, वहाँ असीम अनुकम्पा है। ऐसा तो कभी हो ही नही सकता कि सम्यक्त्व तो प्रकट हो, परन्तु अनुकम्पा प्रदर्शित न हो ? यह कदापि सम्भव नही है कि सूर्य हो, परन्तु प्रकाश न हो, मिश्री की डली हो, किन्तु मिठास न हो। ऐसी असगत बात कभी वनने वाली नही है। तो निष्कर्ष यही निकला कि सम्यक्त्व के साथ अनुकम्पा का अविच्छिन्न सम्बन्ध है, अर्थात्—अनुकम्पा के विना सम्यक्त्व टिक नही सकता। अनुकम्पा के अभाव में सम्यक्त्व की कल्पना भी नही की जा सकती।

जव इस दृष्टि से विचार करेगे तो स्पष्ट अनुभव होगा

कि भगवान् की जो भी प्रवृत्तियाँ हुई है, उनके पीछे अनुकम्पा तो अवश्य ही रही होगी। दया का झरना तो निरन्तर बहता ही रहा होगा और उस बहाव के साथ ही सारी क्रियाएँ भी हुई होगी। तो उस युग की तत्कालीन परिस्थितियो मे, जब कि जनता पर विपत्ति के घने बादल छाये हुए थे, भयानक सकट मुँह बाये खडा था और लोगो को अपने प्राण बचाने दुर्लभ थे, आँखो के सामने साक्षात् मौत नाच रही थी, उस सकट काल मे भगवान् ऋषभदेव ही एकमात्र सहारे थे, वे ही जनता के लिए आशा की प्रकाश-किरण थे। करुणानिधि भगवान् ने जनता को उस भीषण सकट से उबारने के लिए ही कृषि सिखलाई, उद्योग-धन्धे सिखलाए और शिल्प-कार्य बतलाए। तो भगवान् की यह प्रवृत्ति किस रूप मे हुई ? वस्तुत वह हिसा के रूप मे नही हुई, जनता को गलत राह पर भटकाने के लिए भी नही हुई। भगवान् तत्कालीन जनता को अन्धकार से प्रकाश की ओर ले गए। उन्होने जनता को प्रकाश से अन्धकार की ओर नही ढकेला, शास्त्रकार इस बात को भूले नही है। इसीलिए जहाँ जम्बूद्वीप-प्रज्ञप्ति सूत्र मे युगलियो का वर्णन किया गया है और उस वर्णन मे पृष्ठ के पृष्ठ भर दिए, तो साथ मे एक महत्त्वपूर्ण पद भी जोड दिया गया है —

"पयाहियाए उवदिसइ।"

अर्थात्—"प्रजा के हित के लिए यह सब उपदेश दिया।" शास्त्रकार ने इतना कहकर भगवान् की जो भी मर्यादाएँ थी, वे सभी व्यक्त कर दी। इस प्रकार भगवान् ने जो भी

कार्य किया, उसके पीछे अनुकम्पा थी , और जहाँ अनुकम्पा
तथा हितभावना है, वहाँ अहिसा विद्यमान है ।

'पयाहियाए'—इस एक पद ने भगवान् की उच्च भावना
को स्पष्ट रूप से व्यक्त कर दिया है । जब तक यह पद सुर-
क्षित है—और हम चाहते है कि वह भविष्य मे भी चिर
सुरक्षित रहे—उससे भगवान् की दया का प्रामाणिक परिचय
मिलता रहेगा ।

अब आप समझ सकते है कि भगवान् ने कृषि आदि
की जो शिक्षा दी, उसके पाछे उनकी क्या दृष्टि थी ? वे
जनता को हिसा से अहिसा की ओर ले गए । वे चाहते थे
कि लोग महान् आरम्भ की ओर न जाकर, अल्पारभ की
ओर ही जाएँ । यदि वे अल्पारभ मे महारभ की ओर ले
जाते, तो इसका अर्थ होता—'प्रकाश मे अन्धकार की ओर
ले गए ।' उन्होने भोली, भूखी और सत्रस्त जनता को ऐसा
कर्त्तव्य वताया कि वह महारभ से बच जाए और साथ ही
पेट की जटिल समस्या भी हल कर सके और अपनी जीवन-
पद्धति का मानवोचित्त प्रशस्त पथ भी अच्छी तरह ग्रहण
कर ले ।

आज भी उद्योग-धन्धो के रूप मे जो हिसा होती है,
उससे इन्कार नही किया जा सकता । जैन-धर्म छोटी से छोटी
प्रवृत्ति मे भी हिसा वताता है । गृहस्थो की बात जाने भी
दे और केवल ससार-त्यागी साधुओ की ही बात ले, तो उनमे
भी—क्रोध, मान, माया और लोभ के विकार युक्त अश
मौजूद रहते हैं और इसीलिए उन्हे भी पूर्णतया अहिसा

का प्रमाण-पत्र नही मिल जाता है। साधु-जीवन मे भी 'आरंभिया'* और 'मायावत्तिया' क्रिया चालू रहती है। जब पूर्ण अप्रमत्त अवस्था आती है तो आरंभिया क्रिया छूट जाती है, किन्तु हिंसा फिर भी बनी रहती है और आगे भी जारी रहती है, यद्यपि उस हिंसा मे आरम्भ छूट जाता है। उस दशा मे हिंसा रहती है, पर आरंभ नही रहता, यह एक मार्मिक बात है। इस मर्म को बराबर समझने की कोशिश करनी चाहिए। इसका अर्थ यह है कि वहाँ गमनागमनादि प्रवृत्ति मे द्रव्य-हिंसा तो है, किन्तु अन्तर्मन मे हिंसा के भाव न होने से भाव-हिंसा नही है। ज्यो ही साधक जागृत होता है, त्यो ही उसमे अप्रमत्त भाव उत्पन्न हो जाता है। जब अप्रमत्त भाव होता है, तब भी बाह्य क्रिया स्वरूप द्रव्य-हिंसा तो बनी रहती है किन्तु उसमे आन्तरिक भाव-हिंसा नही रहती।

अब देखना चाहिए कि जीवन के क्षेत्र मे, श्रावक जब उद्योग-धन्धे के रूप मे कोई काम करता है तो वहाँ उसकी कार्य-विधि एकान्त हिंसा की दृष्टि से ही रहती है या उसमे उद्योग-धन्धे की दृष्टि भी कुछ काम करती है? उसके व्यवसाय का उद्देश्य केवल जीवो को मारना होता है या उद्योग-धन्धे के ही मूल उद्देश्य को लेकर व्यापार करना होता है?

---

* प्राणिहिंसा-मूलक दोष 'आरंभिया' क्रिया कहलाती है। और क्रोध, मान, माया—दम्भ एव लोभ-मूलक दोषो को 'मायावत्तिया' क्रिया कहते हैं।

कृषि के सम्बन्ध मे भी यही दृष्टि रखकर सोचना चाहिए। देहात के सैकडो किसान बहुत सवेरे ही उठकर खेतो मे काम करने जाते है। हमने पजाब और उत्तर प्रदेश के जैन-किसानो को देखा है। वे कृषि का धन्धा करते है, और प्राय बडे ही भावपूर्ण और श्रद्धालु होते है। सम्भव है वह श्रद्धा आप व्यापारियो मे नही भी हो। किन्तु उनमें तो इतना प्रेम है और उनके हृदय प्रेम रस से इतने भरे होते है कि जिसका वर्णन नही किया जा सकता। यद्यपि वे पसीने मे तर खेतो से वापिस आए है, किन्तु ज्यो ही साधु को गृह-द्वार पर देखा तो झट मे उनके पास आते है और 'सामायिक' करवाने की प्रार्थना करने लगते है। वे बराबर 'सामायिक' और 'पोषध'* आदि करते है। जब साधु गोचरी के लिए निकलते है तो एक तूफान-सा मच जाता है। सब यही चाहते है कि पहले मेरे घर को पवित्र कर।

वे खेती का काम करने वाले लोग, जब प्रात काल हल लेकर चल पडते है, उस समय कौन-सी भावना उनके हृदय मे काम करती है? क्या वे इस दृष्टि से चलते है कि खेत मे जीव बहुत इकट्ठे हो गए है, अत चलकर शीघ्र ही उनको समाप्त

---

* 'सामायिक', जैन-धर्म की वह साधना है, जिसमे गृहस्थ दो घडी के लिए हिंसा, असत्य आदि पापाचरण का त्याग कर, अपनी अन्तरात्मा को परमात्म-भाव मे लीन करने का प्रयत्न करता है।

'पोषध' वह साधना है, जिसमे सूर्योदय मे लेकर अगले दिन सूर्योदय तक सब प्रकार मे हिंसा, असत्य आदि पापाचरण और भोजन का त्याग कर एकान्त स्थान में साधु जैसी वृत्ति का अभ्यास किया जाता है।

किया जाए ? नही, वहाँ तो उद्योग की दृष्टि होती है। यदि दृष्टि मे विवेक और विचार है तो वह कृषक आरभ मे भी अशत अनारभ की दशा प्राप्त कर लेता है। कहने का आशय यही है कि कृपक आरभ का सकल्प लेकर नही चला है। अस्तु, जब काम करता है तब यह वृत्ति नही होती है कि इन जीवो को मार डालूँ। हिसा करने का उसका सकल्प कदापि नही है, हिसा करने के लिए वह प्रवृत्ति भी नही करता है। उसका एकमात्र सकल्प 'धन्धा' करना है, जीवन-निर्वाह करना है और यदि उसमे विवेक है तो वह वहाँ भी जीवो को इधर-उधर बचा देता है।

विवेकशील बहिनें घरो मे झाड़ू लगाती है। ऐसा करने मे हिसा अवश्य होती है, किन्तु उनकी दृष्टि मूल मे हिसा करने की, अर्थात् जीवो को मारने की कभी नही होती। प्राय मकान को साफ-सुथरा रखने की ही भावना होती है, जिससे कि जीव-जन्तु पैदा न होने पाएँ।

जहाँ तक विचार काम देते है—'यावद्बुद्धि-बलोदयम्' ऐसा प्रयत्न करना चाहिए, जिससे कि जीव-जन्तु किसी-न-किसी प्रकार बच जाएँ। ऐसा विवेक हो तो आरभ* मे भी अश-विशेष के रूप मे कुछ-न-कुछ अनारभ की भूमिका बन ही जाती है।

जिस प्रकार विचारक और अविचारक की कलम के चलने मे अन्तर होता है, वैसे ही हल के चलने मे भी अन्तर होता है।

---

*जैन-दर्शन मे हिसा के लिए 'आरभ' और अहिंसा के लिए 'अनारभ' शब्द का प्रयोग भी होता है।

हमारे यहाँ 'कलम-कसाई' शब्द भी प्रचलित है। भला, बेचारी कलम कैसे कसाई हो गई ? नही, वह तो कसाई नही होती ! किन्तु किसी की गर्दन काटने के विचार से जो कलम चलाता है, वह अवश्य 'कलम-कसाई' हो जाता है। यदि कोई ईमानदारी के साथ हिसाब लिखता है तो वह 'कलम-कसाई' नही कहलाता। यही बात सब जगह है।

इस प्रकार यदि अपने दिमाग को साफ रखकर सोचा जाए तो प्रतीत होगा कि श्रावक को 'उद्योगी हिंसा' होती है, 'सकल्पी हिंसा' नही। जो श्रावक साल भर चोटी से एडी तक पसीना बहा कर दो-चार सौ रुपए पैदा करता है, उसी को यदि यह कह दिया जाय कि यह एक कीडा जा रहा है, इसे मार दो। मै तुम्हे हजार रुपया दूँगा। तो क्या वह कृषक श्रावक उसे मार देगा ? नही, वह स्पष्ट इन्कार कर देगा। जब खेती करने मे असख्य जीव मर जाते है, रात-दिन कठिन परिश्रम करना पडता है और फिर भी दो-चार सौ की ही कमाई होती है और इधर सिर्फ एक कीडा मारने से ही हजार रुपए मिल रहे है, तब भी वह कृषक कीडे को क्यो नही मारता ? श्रावक की अहिंसा निरपराध कीडे को मारने के लिए तैयार नही होती, और बडे से बडे प्रलोभन को ठुकरा देती है। आप कहेगे कि खेती मे तो वह प्रयोजन के लिए हिंसा करता है, तो यहाँ भी उसे हजार रुपए मिल रहे है। क्या यह प्रयोजन नही है ? परन्तु यहाँ तो वह प्रयोजन के लिए भी हिंसा करने को तैयार नही है। इसका कारण यही है कि हजार रुपए के प्रलोभन मे पड कर निरपराध कीडे को मारना 'सकल्पी हिंसा' है, और

श्रावक ऐसी सकल्पी हिसा नही कर सकता। किन्तु खेती-बाडी मे जो हिसा हो रही है, वह 'औद्योगिक हिसा' है। हम सकल्पी और औद्योगिक हिसा के भेद को यदि ठीक तरह समझ जाएँ तो बहुत-सी समस्याओ का निपटारा हो सकता है और अनेक प्रकार की भ्रान्तियाँ दूर हो सकती है।

राजा चेटक और कोणिक मे भयकर सहारक युद्ध* हुआ था। कदाचित् कोणिक यह कहता कि अच्छा, हार और हाथी हल-विहल के पास रहने दे, मै दोनो चीजे छोड सकता हूँ, परन्तु शर्त यह है कि तुम इस कीडे को मार दो, तो क्या राजा चेटक ऐसा करने के लिए तैयार हो जाते ? जिस ऊपरी दृष्टि से साधारण लोग देखते है, यह सौदा महँगा नही, सस्ता ही था। लाखो मनुष्यो के बदले एक कीडे की जान लेने से ही फैसला हो जाता। कितनी हिसा बच जाती ? परन्तु नही, वहाँ कीडे और मनुष्य का प्रश्न नही है। वहाँ प्रश्न है 'सकल्पी' और 'विरोधी' हिसा का । वहाँ न्याय और अन्याय का प्रश्न है। यदि सघर्ष और विरोध है तो वह चेटक और कोणिक के वीच है, उस बेचारे कीडे ने क्या गुनाह किया है कि उसकी जान ले ली जाए ? कीडे को मारने मे सकल्पजा हिसा है और वह भी निरपराध क्षुद्र जन्तु की। और उधर जहाँ लाखो मनुष्य मारे गए है, वहाँ

---

* मगधराज अजातशत्रु कोणिक के लघु-वन्धु हल-विहल, वडे भाई के अत्याचार से पीडित होकर चेटक राजा की शरण मे गए थे। कोणिक ने इस पर क्रुद्ध होकर वैशाली पर आक्रमण कर दिया, फलत चेटक को शरणागत की रक्षा के लिए युद्ध करना पडा।

सकल्पजा हिंसा नही है। जहाँ निरपराध की सकल्पजा हिंसा होगी, वहाँ श्रावक की भूमिका स्थिर नही रहेगी। इसी कारण युद्ध मे इतने मनुष्यो को मारने के बाद भी राजा चेटक का श्रावकत्व सुरक्षित रहा। और यदि वे सकल्प पूर्वक एक निरपराध क्षुद्र कीड़ा मार देते तो उनका श्रावकत्व खड-खड हो जाता।

यह हिंसा और अहिंसा का मार्मिक दृष्टिकोण है। इस पर गम्भीरता एव निष्पक्षता-पूर्वक विचार करना चाहिए।

खेती मे महारभ है, इस प्रकार का भ्रम कैसे उत्पन्न हो गया? समग्र जैन-साहित्य मे 'फोडीकम्मे'* ही एक ऐसा शब्द है, जिसने इस भ्रम को उत्पन्न किया है। पर, हमे 'फोडीकम्मे' के वास्तविक अर्थ पर ध्यान देना होगा। 'फोडी' शब्द सस्कृत के 'स्फोट' शब्द से बना है, जिसका अर्थ है धडाका होना। जब सुरग खोदकर उसमे बारूद भरी जाती है और तदुपरान्त उसमे आग लगाई जाती है तो धडाका होता है और बडी से बडी चट्टान भी टुकडे-टुकडे होकर इधर-उधर उछल कर दूर जा गिरती है। आज के अखबार पढने वाले जानते है कि अमेरिका और रूस आदि के वैज्ञानिक लोग जमीन के अन्दर बारूद बिछा देते है और जब उसमे

---

* जैन साहित्य में श्रावक के आचार का वर्णन करते हुए कहा है कि श्रावक को पदरह प्रकार के व्यापार या कर्म नही करने चाहिए, क्योकि उनमे महाहिंसा होती है। शास्त्रीय भाषा में उन्हे कर्मादान कहते हैं। 'फोडी-कम्म' उनमे से एक है, जिसे कुछ लोग भ्रातिवश खेती करना समझते हैं।

चिनगारी लगती है तो विस्फोट होता है। आशय यही है कि बारूद के द्वारा धडाका करना विस्फोट या स्फोट कहलाता है।

खेती करते समय विस्फोट नही होता। खेती मे बारूद भर कर आग नही लगाई जाती, न जमीन मे कोई स्फोट ही होता है और न बारूद से जमीन जोती ही जाती है, वह तो हल से ही जोती जाती है। जोधपुर से एक सज्जन आए थे। उनके साथ एक बच्चा भी था, जो सातवी कक्षा मे पढता था। उसने सातवी कक्षा का व्याकरण भी पढा था। मैने उस बालक से प्रश्न किया—किसान खेत मे हल चलाता है। इसके लिए जमीन को 'जोतना' कहा जायगा, या 'फोडना' कहा जायगा ? इन दोनो प्रयोगो मे से शुद्ध प्रयोग कौन-सा है ? उस बालक को भी 'जोतना' प्रयोग ही सही मालूम हुआ। आशय यह है कि हल के द्वारा जमीन जोती ही जाती है, फोडी नही जाती। हल से जमीन का फोडना तो दूर रहा, कभी-कभी तो जमीन खोदी भी नही जाती। खोदना तब कहलाता है, जब गहरा गड्ढा किया जाए। हाँ, हल से जमीन कुरेदी जरूर जा सकती है।

व्याकरण का मुझे अच्छा ज्ञान है। दावा तो नही करता, परन्तु व्याकरण के पीछे कई वर्ष घुलाए अवश्य हे। अत इस नाते मै बोलने का साहस कर रहा हूँ और चुनौती के साथ कहता भी हूँ कि—फोडना, खोदना और कुरेदना अलग-अलग क्रियाएँ है। खोदना—फावडे या कुदाल से होता है, हल से फोडना या खोदना नही होता।

सस्कृत भाषा के 'कृषि' शब्द को ही ले लीजिए। कृषि

का अर्थ होता है—विलेखन'। 'कृप्' धातु कुरेदने के अर्थ मे ही आती है। क्या पाणिनि-व्याकरण, और क्या शाकटायन व्याकरण, सर्वत्र 'कृप्' धातु का अर्थ 'विलेखन' ही किया गया है।

अस्तु, अभिप्राय यह है कि जमीन का जोतना 'फोडीकम्मे' के अन्तर्गत नही है। 'फोडीकम्मे' का सस्कृत रूप 'स्फोट-कर्म' होता हे और पूर्वोक्त प्रकार से यह स्पष्ट है कि जमीन मे हल चलाना, न तो स्फोट करना है और न खोदना ही, क्योकि जमीन जोतते समय न तो धडाका किया जाता है, और न गड्ढे ही किये जाते है।

वास्तव मे 'स्फोट-कर्म' तव होता है, जव सुरग खोदकर उसमे वारूद भरकर एव आग लगाकर धडाका किया जाता है। पहाडो मे खान खोदने का काम वहुत पुरातन युग से चला आ रहा है। हथोडो और साँवरो से विशालकाय पत्थर कहाँ तक खोदे जा सकते है ? अस्तु, उनमे छेद करके बारूद भर दी जाती है और ऊपर से आग लगा दी जाती है। जब वारूद मे आग भडकती हे तो चट्टाने टूट-टूटकर उछलती है। और जव वे उछलती है तो दूर-दूर तक के प्रदेश मे रहने वाले जानवर और इन्सान के भी कभी-कभी प्राण ले वैठती है। कितने ही निर्दोष प्राणियो के प्राण-पखेरू उड जाते है और कितने ही वुरी तरह घायल हो जाते है।

देहली की एक घटना है। एक बार हम शौच के लिए पहाड पर गए हुए थे। हम पहुँचे ही थे कि कुछ मजदूर दौड कर आए और वोले—महाराज, भागिए, दौडिए। जव मै विचार करने लगा तो उनमे से एक ने कहा—'बाबा, क्या

सोचता है, क्या मरेगा ? क्या यही पर हत्या देगा ?' तब तो हमने भी पीछे को तेज कदम बढाए। मै कुछ ही कदम पीछे हटा था कि इतने मे ही वहाँ बारूद फटी, जोर का धडाका हुआ और उसके साथ ही पत्थर के बडे-बडे भीमकाय टुकडे उछलकर आ गिरे। मै जरा-सा बच गया, वर्ना वही जीवन-नाटक समाप्त हो जाता।

ऐसे स्फोटो से पचेन्द्रिय जीवो की हिसा का भी कुछ ठिकाना नही रहता है। कभी-कभी जोरदार धडाके से पहाड भी खिसक जाते है, और न जाने कितने मनुष्य दबकर मर जाते है, जिनका फिर कोई पता ही नही चलता। तो ऐसा स्फोट-कर्म महारभ है, महा-हिसा है और मानव-हत्या का काम है।

मजदूर लोग काम करने के लिए सुरगो मे घुसते है और जब कभी गैस पैदा हो जाती है तो अन्दर ही अन्दर उनका दम घुट जाता है। अभी कुछ ही दिनो पहले हम खेतडी गाँव से गुजरे तो मालूम हुआ कि एक खान मे आदमी दब गए है। वे बेचारे खान मे काम कर रहे थे। पहाड धँसक गया और वे वही दबकर खत्म हो गए।

ऐसे कामो मे पचेन्द्रिय की, और पचेन्द्रियो मे भी मनुष्यो की हत्या का सम्बन्ध है। इसी कारण भगवान् महावीर ने स्फोट-कर्म को महान् हिसा मे गिना। श्रावक तो कदम कदम पर करुणा और दया की भावना को लेकर चलता है, अत उसे यह स्फोट-कर्म शोभा नही देता। भगवान् महावीर का यही दृष्टिकोण था, परन्तु दुर्भाग्य से आज उसका यथार्थ अर्थ भुला दिया गया है। इसके बदले कुछ इधर-उधर की

निरर्थक वाते लेकर चल पडे है। जन-हित के लिए कुँआ खुदवाना भी महारभ माना जाता है और यदि कोई दूसरा लोकोपकारी काम किया जाता है तो उसे भी महारभ वताया जाता है। इसका तो यह अर्थ हुआ कि यदि कोई जैन राजा हो जाए तो वह जनता के हित का कोई काम नही कर सकता, क्योकि महारभ हो जाएगा। और जनता के सम्वन्ध मे यदि वह कुछ भी विचार न करे तो वह एक प्रकार से निर्जीव मास का पिण्ड ही माना जायगा। मनुष्य खुद तो दुनिया भर के भोग-विलास करता रहे, किन्तु जनता के हित के लिए कोई भी सत्कर्म न करे, किमाश्चर्यमत परम्!

अभिप्राय यह है कि जैन-धर्म कोरे मिथ्या आदर्श या कल्पना पर चलने वाला धर्म नही है। यह तो पूर्णत यथार्थ-वादी धर्म है। वह आदर्श को अपने सामने रखता अवश्य है, पर उसकी दृष्टि सदैव व्यवहार और वास्तविकता पर रहती है। उसने स्फोट-कर्म किसे वताया था और हम उसे भूलकर क्या समझ वैठे है। जो लोग खेती कर रहे है, उन्हे महारभी कहने लगे। और कितने दु ख की वात है कि महारभी कहकर उन्हे भी पशु-हिसको की अधम श्रेणी मे रख दिया गया है। ऐसा करने वालो ने वास्तव मे कितना गलत काम किया? वे समझते हैं कि हम कृषि की आजीविका को गर्हित ठहरा रहे है। पर, वे वास्तव मे कसाई खाने की अजीविका की भयानकता एव गर्हितता को कम कर रहे है। पशु-वध और कृषि, दोनों को महारभ की एक ही कोटि मे रखकर कितनी वडी भूल की है। काश, कुछ सोचा तो होता।

एक कसाई और एक कृषक जब यह सुनता है कि कसाई-खाना चलाना भी महारभ है और कृषि भी महारभ है, तो कसाई को अपनी आजीविका त्याग देने की प्रेरणा नही मिल सकती। वह कृपक की कोटि मे अपने आपको पाकर दुगुने उत्साह का अनुभव करेगा और सन्तोष मानेगा। यदि पशु-बध को त्याग देने का विचार उसके दिमाग मे उठ भी रहा होगा, तब भी वह न त्यागेगा। दूसरी ओर जब कृपक यह जानेगा कि उसकी आजीविका भी कसाई की आजीविका के समान है और जब उसे इस बात पर विश्वास भी हो जाएगा तब कौन कह सकता है कि कृषि जैसे श्रमसाध्य धन्धे को त्याग कर वह कसाईखाने की आजीविका को न अपना ले ?

कितने खेद की बात है कि इस प्रकार भ्राति मे पडकर और गलत विवेचनाएँ करके हमने भगवान् महावीर के उपदेशो की प्रतिष्ठा नही बढाई, वल्कि क्षुद्र स्वार्थो मे फँसकर घटाई ही है।

एक गृहस्थ देहली मे दर्शन करने आए। मैने पूछा—कहिए, क्या बात है ? उसने कहा—"आपकी कृपा हे, बडे आनन्द मे हूँ। महाराज, मै पहले बहुत दुखी था। खेती का काम करता था तो महा-हिसा का काम होता था। अब जमीन बेचकर चाँदी का सट्टा करता हूँ। बस, कोई झगडा-टटा नही है। न जाने, किस पाप-कर्म का उदय था कि खेती जैसे महापाप के काम मे फँसा था। अब पूर्व पुण्य का उदय हुआ तो उससे छुटकारा मिला है। अब सट्टे का धधा बिल्कुल प्रासुक (निर्दोष) धधा है। न कोई हिसा है,

न कोई वडा पाप ।"

दो महीने वाद वही गृहस्थ एक दिन रोते हुए-से मेरे पास आए । पूछा—क्या हाल है ? उसने कहा—महाराज, मर गया । किसी काम का न रहा । सारी पूँजी गँवा वैठा ।

मैने कहा—"अरे, तुम्हारा तो पूर्व पुण्य का उदय हुआ था और प्रासुक काम की शुरूआत हुई थी । न कोई हिंसा और न कोई पाप ! फिर वर्वाद कैसे हो गए ।"

हाँ, तो जो गलत दृष्टिकोण जनता को मिल जाता है, उसमे महा-हिंसा को उत्तेजना मिलती है । यह न करो, वह न करो, इस तरह उसे मर्यादित चालू जीवन से उखाड कर दूसरे सट्टे आदि के कुपथ पर लगा दिया जाता है । फिर वह न तो इधर का रहता है, और न उधर का । वह वाह्य हिंसा के चक्र मे उलझा हुआ यह नही समझ पाता कि सट्टे के पीछे कितनी अनैतिकता रही हुई है ।

आज आवश्यकता इस वात की है कि हम जैन-धर्म की वास्तविकता को समझे, साफ दिमाग रखकर समझे और फिर मन-मस्तिष्क पर कोहरे की तरह घनीभूत छाए हुए भ्रमो को दूर कर दे ।

———

—: ४ :—

आर्य-कर्म और अनार्य-कर्म

जैन-धर्म की अहिसा इतनी विराट है कि ज्यो-ज्यो उस पर विचार करते है, वह अधिकाधिक गम्भीर होती जाती है। जैन-धर्म ने सूक्ष्म अहिसा के सम्वन्ध मे जितना विचार किया है, उतना ही विचार स्थूल अहिसा के सम्बन्ध मे भी किया है। यह बात नही है कि वह निष्क्रिय होकर पडे रहने की सलाह दे और जब कर्त्तव्य की वात सामने आए, जीवन-व्यवहार मे अहिसा को उतारने का प्रसंग चले, तो मौन हो जाए। यदि ऐसा होता तो जैन-धर्म आज दुनिया के सामने एक क्षण भी खडा नही रह सकता था। वह बालू रेत की दीवार के समान दूसरे धर्मो और मतो के मामूली झोको से ही ढह जाता। परन्तु वह ऐसा निष्प्राण और निराधार नही है। वह, क्या गृहस्थ और क्या साधु, सभी कर्त्तव्यो का स्पष्ट रूप से निर्देश करता है। दुर्भाग्य से हमारे कुछ साथियो ने जैन-धर्म का वास्तविक और मौलिक स्वरूप भुला दिया है, फलत कुछ ने तो स्पष्ट 'हाँ' या 'ना' न कहकर एकमात्र मौन मृत्यु की हो राह पकड ली है। पर, इस तरह बच-बच कर बात करने से कब तक काम चलेगा ? यदि कोई गृहस्थ

विद्यालय अथवा औपधालय आदि खोलता है, तो वह अपने इस कार्य के सम्वन्ध मे कुछ स्पष्ट निर्णय तो चाहेगा ही कि वह जो कार्य कर रहा है, वह धर्म है या पाप है ? गोल-मोल भाषा मे कहा जा सकता है कि विद्यालय या औषधालय खोलना -खुलवाना अच्छा है। पर, सोचना तो यह है कि वह केवल लोक-भाषा मे अच्छा है, या धार्मिक दृष्टि से भी अच्छा है ? हमे किसी स्पष्ट निर्णय पर आना ही पड़ेगा। केवल लोक-धर्म, राष्ट्र-धर्म या गृहस्थ-धर्म कहने से अब काम नही चल सकेगा।

कोरे मौन धारण करने से भी अब काम नही चल सकता, क्योकि समय प्रगति-पथ पर तीव्र गति से अग्रसर हो रहा है। जो व्यक्ति, समाज अथवा राष्ट्र व्यापक दृष्टिकोण से समय की गति देख लेता है और अपने विकास-साधककर्मो को समय के अनुकूल वना लेता है, समय उसी का समर्थन करता है। कोई कुछ पूछे और उत्तरदाता मौन हो रहे तो इसका अर्थ यही समझा जाएगा कि कही कोई गडवड है, दाल मे काला है और आप मे कही न कही दुर्वलता है। धर्म और दर्शन का अन्तर्मर्म खुल कर वाहर आना चाहता है। भला, कव तक कोई उसे दवाए-छिपाए रख सकता है।

इन सव उलझनो के कारण राजस्थान के एक पथ ने तो स्पष्ट रूप से 'ना' कहना शुरू कर दिया है। उसका कथन है—इन सासारिक वातो से हमे क्या प्रयोजन ? हमसे तो आत्मा की ही वात पूछो।

मै पूछता हूँ, वे केवल आत्मा की ही वात करने वाले

व्यक्ति भोजन क्यो करते है ? औषधालयो मे जा-जाकर दवाइयाँ क्यो लाते है ? चलते-फिरते क्यो है ? ये सब तो आत्मा की बाते नही है । केवल आत्मा-सम्बन्धी बाते करने वालो को ससार से कोई सम्बन्ध ही नही रखना चाहिए । वे शहरो मे क्यो रहते है ? जगल की हवा क्यो नही खाते ? लम्बे-लम्बे भाषण झाड़कर श्रोताओ का मनोरजन करने की उन्हे क्या आवश्यकता है ?

सच तो यह है कि चाहे कोई साधु हो या गृहस्थ, उदर-देव की पूर्ति तो सभी को करनी पडती है । ऐसा कभी नही हो सकता कि 'करेमि भते' का पाठ बोलते ही , अर्थात्—साधु-दीक्षा लेने ही कोई आजोवन अनशन कर दे, देहोत्सर्ग कर दे ।

यदि गृहस्थ अपनी उदर-पूर्ति करेगा तो वह उद्योग-धन्धा तो निश्चय ही करेगा । वह या तो खेती करेगा या कोई और व्यापार करेगा । भिक्षापात्र लेकर तो वह अपना जीवन निर्वाह कर नही सकता । साधु-जीवन मे भी आखिर भिक्षा-रूपी उद्योग करना ही पडता है । इस दृष्टि से साधु का जीवन भी एक प्रकार से उद्योग पर ही आश्रित है । अपनी भूमिका के अनुरूप प्रयत्न तो वहाँ भी करना पडता है । इस प्रकार गृहस्थ और साधु दोनो ही अपनी-अपनी मर्यादा के अनुसार प्रवृत्ति करते है । जैन-धर्म यदि साधुओ को भोजन बनाने का आदेश नही देता तो दूसरी ओर साधारण गृहस्थ को भिक्षा माँगकर निर्वाह करने का विधान भी नही करता । क्या जैन-धर्म कभी किसी गृहस्थ से यह कहता है कि भीख

माँग कर सीधी रोटी खाना धर्म है और कर्त्तव्य समर मे जूझकर रोटी खाना अधर्म है ? नही, जैन-धर्म ऐसा कभी नही कहता। परन्तु हमारे अनेक भाइयो ने यह समझ लिया है कि भिक्षा माँग कर खाना 'धर्म' है, और कर्त्तव्य करके जीवन निर्वाह करना 'पाप' है। परन्तु जो रोटी न्याय-नीतिपूर्वक पुरुपार्थ से और उत्पादन से प्राप्त की जाती है, क्या वह पाप की रोटी है ?

जो लोग ऐसी रोटी को पाप की रोटी बतलाते है, उनके सम्बन्ध मे मै साहस-पूर्वक कहता हूँ कि उन्होने जैन-शास्त्रो का अन्तस्तत्व छुआ तक नही है। वे गलतफहमी और सकुचित विचार-शृँखला मे उलझे पडे है। उनका कहना है कि गृहस्थ तो प्रवृत्ति मे पडा हुआ हे, इसलिए उसकी कमाई हुई रोटी पाप की रोटी है, और यदि वह भिक्षा माँग कर सीधा खाता है तो प्रासुक होने से वह धर्म की रोटी है। परन्तु जैन-धर्म के आचार्यो ने हाथ पर हाथ धरकर निष्क्रिय बैठे रहने वाले, परश्रमोपजीवी गृहस्थो को भिक्षा से निर्वाह करने का अधिकार कब और कहाँ दिया है ? ऐसे सामान्य गृहस्थो के लिए भिक्षा का विधान ही कहाँ है ? जो हट्टे-कट्टे होकर भी दूसरो के श्रम के सहारे माल उडाते है और भिक्षा करके सुखी जीवन बिताते है, उनकी भिक्षा को हमारे यहाँ 'पौरुपघ्नी' भिक्षा बतलाया गया है*। सामान्य गृहस्थ की भूमिका, श्रम करने की है, भिक्षा माँग कर खाने की नही।

---

* देखिए, आचार्य हरिभद्र का भिक्षाष्टक

इस प्रकार जीवन तो चाहे साधु का हो या गृहस्थ का, प्रवृत्ति के बिना चल नही सकता। इतना ही नही, प्रवृत्ति के बिना ससार मे क्षण भर भी नही रहा जा सकता। इस सम्बन्ध मे गीताकार कितनी आदर्शपूर्ण बात कहते है—

"न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।

अर्थात्—कोई भी व्यक्ति क्षण भर भी कर्म किए बिना नही रह सकता।

यदि सारा ससार भिक्षा-पात्र लेकर निकल पडे तो रोटियाँ आएँगी भी कहाँ से ? क्या रोटियाँ आकाश से बरसने लगेगी ? कोई देव आकाश से रोटियाँ नही बरसाएगा। उनके लिए तो यथोचित प्रवृत्ति और पुरुषार्थ करना ही पडेगा। प्रवृत्ति को कोई छोड ही नही सकता, वह तो सहज भूमिका आने पर और काल-लब्धि* पूरी हो जाने पर, स्वत ही छूट जाएगी। जब प्रवृत्ति छूटने का दिन आएगा, तब वह अपने आप छूटेगी।

भगवान् शान्तिनाथ आदि ने चक्रवर्ती राज्य को स्वय छोडा, या भोग्य कर्म समाप्त होने पर वह यथासमय अनायास ही छूट गया ?

आपको यह तो मानना ही पडेगा कि छोड़ने को भूमिका आने पर ही वह छोड़ा गया। जब तक छोडने की भूमिका नही आती, तब तक छोडा नही जाता। यदि छोडना ही था

---

* जैन-धर्म मे काल-लब्धि का अर्थ है—"किसी भी स्थिति परिवर्तन के योग्य समय का पूर्ण हो जाना। स्थिति-परिवर्तन मे स्वभाव, नियति, पुरुषार्थ आदि अनेक हेतु हैं, उनमे काल भी अपना महत्वपूर्ण स्थान रखता है।"

तो पहले ही क्यो नही छोड दिया ? क्या पहले राज्य मे आसक्ति की प्रधानता थी ? या उनमे छोडने की ताकत नही थी ? या उन्हे धर्म-निष्ठ जीवन की वास्तविकता ज्ञात नही थी ? नही, यह सब कुछ नही था। तब तक केवल काल-लब्धि परिपक्व नही हुई थी, इसलिए पहले नही छोडा गया।

वृक्ष मे फल लगता है। परन्तु जब तक वह कच्चा रहता है, तब तक डठल से बँधा रहता है—झडता नही है। जब वह पक जाता है तो अपने आप टूटकर गिर जाता है, उसे बलात् तोडने की आवश्यकता नही रहती।

त्याग भी दो तरह से होता है। एक त्याग हठ-पूर्वक होता है, जो किसी आवेश मे आकर किया जाता है। परन्तु उसमे त्यागी हुई वस्तु से, सूक्ष्म रूप मे, सम्बन्ध बना रहता है। ऐसे त्याग से पतन की सम्भावना बनी रहती है। दूसरा त्याग सहज-त्याग है, जो समुचित भूमिका आने पर अपने-आप हो जाता है। दार्शनिक भाषा मे हम इसे छूट जाना' कह सकते है, 'छोडना' नही।

आपने आर्द्रकुमार की कथा पढी है ? आर्द्रकुमार जब दीक्षित होने लगे तो आकाशवाणी होती है—"अभी तुम्हारा भोगावली कर्म पूरा नही हुआ है। अभी भोग का समय बाकी है, अत समय आने पर सयम लेना।" परन्तु आर्द्रकुमार ने आकाशवाणी की उपेक्षा की, और गर्वोद्धुर भाव से कहा—"क्या चीज होते है कर्म! मै उन्हे नष्ट कर दूँगा, तोड डालूँगा।" और उन्होने हठात् दीक्षा ले ली। तदुपरान्त वे साधना के पथ पर चल पडे। वास्तव मे वे बडे ही तपस्वी थे। साधना की

भट्टी मे उन्होने अपने शरीर को झौक दिया और समझने लगे कि आकाशवाणी झूठी हो जाएगी। किन्तु भोग का निमित्त मिलते ही उन्हे वापिस लौटना पडा। वे फिर उसी गृहस्थ दशा के स्तर पर वापिस आ गए और 'पुनर्मू षिको भव' वाली गति हुई। आर्द्र कुमार के अन्तर्जीवन मे से भोग-वासना की दुर्बलता समाप्त नही हुई थी। वह हठात् ग्रहण किए गए सयम के आवरण मे छिप अवश्य गई थी, किन्तु समय आते ही वह पुन प्रकट हुई और उन्हे सयम से पतित होकर फिर पहले की स्थिति मे आना पडा।

पहली कक्षा के विद्यार्थी को जब तीसरी कक्षा मे ले लिया जाता है तो वह उसके भार को सँभाल नही सकता। यही कारण है कि स्कूलो मे जब कोई विद्यार्थी किसी कक्षा मे अनुत्तीर्ण हो जाता है तो उसे उसी कक्षा मे रखा जाता है। उसके लिए यही उपाय विकास का माध्यम है।

इस प्रकार यदि गृहस्थी को छोडा जाय तो फल पकने पर, अर्थात्—परिपक्व स्थिति मे ही छोडा जाय। ऐसा न हो कि कर्त्तव्य के दायित्व से घबराकर भाग खडे हो और ऊपर की ओर व्यर्थ ही छलागे मारने-लगे।

हमारे यहाँ साधु-जीवन निस्सन्देह ऊँचा है और उसके प्रति धर्मनिष्ठ लोगो मे श्रद्धा भी है। पर, जो साधक गलत और अधूरी साधना करके ही आगे बढ जाते है, वे साधु-वेष लेकर भी फिसल जाते है और सहज-भाव मे नही रहते। साधु का जीवन तो सहज-भाव मे ही वहना चाहिए। अत जैन-धर्म किसी वस्तु को हठाग्रह-पूर्वक छोडने की अपेक्षा आत्म-भाव की

के उच्चता साथ सहज रूप से छूट जाने को ही अधिक महत्त्व देता है।

दुर्भाग्य से आज का श्रावक, साधु की भूमिका की ओर दौडता है , और साधु, गृहस्थ की भूमिका की ओर। जिसे प्रथम कक्षा मिली है, वह एम० ए० की कक्षा मे प्रवेश करने के लिए भागता है और जिसे एम० ए० की कक्षा मिली है, वह पहली कक्षा मे वैठने का प्रयत्न करता है ।

यदि किसी वीमार को स्वस्थ मनुष्य का पौष्टिक भोजन दे दिया जाए तो वह कैसे पचा सकता है ? ऐसा करने पर तो उसकी शक्ति का पूर्वापेक्षया अधिक ह्रास ही होगा। इसी प्रकार किसी स्वस्थ आदमी को यदि वीमार का खाना दे दिया जाए तो उसे क्या लाभ होगा ? वह भूखा रहकर थोडे ही दिनो मे दुर्वल हो जाएगा।

इस तरह आज हमारे यहाँ सारी वाते परिवर्तित-सी दिखलाई पडती है। इसका मुख्य कारण 'अज्ञान' है। अज्ञान से ही यह नारा लगने लगा कि—'यह सव ससार है, पाप है, अज्ञान मे पडना है!' कहा जाने लगा—'पहली कक्षा तो मूर्ख रहने की है! यहाँ क्या ज्ञान मिलेगा ? ऐसे नारे सुन-सुनकर सम्भ्रान्त व्यक्ति भी इस ससार (गृहस्थ जीवन) की कक्षा से खिसकने लगे। वे जल्दी से जल्दी निकल भागने की कोशिश करने लगे। यदि उस प्रथम कक्षा वाले से यह कहा जाता कि तुमने भी क्रान्ति की है, तुम्हारे भीतर भी इन्किलाव आ रहा है, तुम भी ठीक राह पर हो, तुमने भी कुछ न कुछ ज्ञान पा लिया है, खोया नही है। यदि इस तरह धीरे-धीरे विकास करते रहे तो एक दिन तुम अवश्य उच्च

कोटि के विद्वान् वन जाओगे। इस प्रकार प्रथम कक्षा वाले को भी अपनी कक्षा मे रस आता। उसे भी अपने जीवन का कुछ आनन्द आए बिना नही रहता।

पर, हमारे कुछ साधको ने भ्रान्त विचार-शृखलाओ मे फॅसकर और सत्यमार्ग से विचलित होकर जोरो के साथ यह वात फैला दी कि--पुत्र-पुत्रियो द्वारा माता-पिता आदि की सेवा करना एकान्त पाप है, यह ससारी काम है। इसमे धर्म का अश भी नही है। इस प्रकार की बाते कह-कहकर उन्होने गृहस्थ का मन गृहस्थ-धर्म की भूमिका से दूर हटा दिया है। फलत गृहस्थ अपने उत्तरदायित्व से दूर भाग खडा होता है। दोनो ओर से रह जाता है। न तो वह गृहस्थ धर्म का ही पूरी तरह पालन कर सकता है, और न साधु-जीवन के रस का ही पूरा आस्वादन कर पाता है। उसके विषय मे यह उक्ति चरितार्थ होती है --

"हलवा मिले न माडे, दोई दीन से गये पाडे।"

एक पाडेजी घर-बार छोडकर सन्यासी वने थे। यह सोचकर कि घर की रूखी-सूखी रोटियो से पीछा छूट जायगा और हलुवा-पूरी खाने को मिलेगा। पर, उन्हे वहाँ रूखी-सूखी रोटियाँ भी ठीक समय पर न मिलीं। "चौबेजी बनने चले थे छब्बे जी, रह गए दुब्बे जी।"

आज गृहस्थ-जीवन की पगडडियो पर चलने वालो ने अपना मार्ग अत्यन्त सकीर्ण बना लिया है। वे समझे बैठे है कि जो काम साधु करे, उसी मे धर्म है, और जो काम साधु न करे, उसमे पाप के सिवाय और कुछ नहीं है।

वहुतेरे लोगो के दिमाग मे ऐसी भ्रान्त धारणा वैठ गई है। इसीलिए उनका विश्वास हो गया है कि रोटियाँ खाई तो जाँए, पर उनके लिए कमाई न की जाय, कपडा पहना तो जाए, पर वुना न जाए, पति-पत्नी वना तो जाए, परन्तु एक-दूसरे की सेवा न की जाए, माता का पद तो लिया जाए, पर माता का काम न किया जाए, पिता वनने मे सौभाग्य समझते हैं, परन्तु पिता के दायित्त्व से वचना चाहते है।

इन भ्रमपूर्ण धारणाओ ने आज गृहस्थ-जीवन को विकृत कर दिया है। आखिर यह उलटी गाडी कव तक चलेगी? क्या जैन-धर्म ऐसी ही उलटी गाडी चलाने का आदेश देता है? वह यह कहाँ कहता है कि जो कुछ तुम वनना चाहते हो, उसके दायित्व से वचने की कोशिश करो।

जैन-धर्म जीवन की आवश्यक प्रवृत्तियो को एकान्तत वन्द करने के लिए नही आया है। वह इस सम्वन्ध मे एक सुन्दर सन्देश देता है, जो सर्वतोभावेन अभिनन्दनीय है।

खेती-वाडी, व्यापार-वाणिज्य आदि जितनी भी प्रवृत्तियाँ है, उन सवको वन्द करके चलोगे तो एक दिन भी टिक नहीं सकोगे। यही नही, अकर्मण्य होकर, आलसियो की पक्ति मे वैठ जाने मात्र से ही तुम प्रवृत्तियो से छुटकारा नही पा सकते। तुम्हारा मन, जो कि प्रवृत्तियो का मूल स्रोत है, अपनी उधेड-वुन मे निरन्तर लगा ही रहेगा। उसकी दुकान-दारी कभी वन्द न होगी। उसे कहाँ ले जाकर विठाओगे और किस कोने मे छिपाओगे? ऐसी स्थिति मे जैन-धर्म

कहता है---प्रवृत्तियाँ भले ही हो, पर उनमे जो विष का पुट है, उसे हटा दीजिए। उनके पीछे क्षुद्र स्वार्थ एव आसक्ति की जो विषाक्त भावनाएँ है उन्हे धक्का देकर बाहर निकाल दीजिए। यदि तुम दुकान पर बैठे हो तो अन्याय से धन न बटोरो, किसी गरीब का खून मत चूसो, दूसरो को मूँडने की ही दुर्वृत्ति मत रखो। तुम्हारी प्रवृत्ति मे से यदि अनीति और धोखाधडी का विप निकल जाएगा, तो वह तुम्हारे जीवन की प्रगति मे बाधक नही बनेगा, अपितु विकास की नई प्रेरणा प्रदान करेगा।

खेती-बाडी करने वाले को भी जैन-धर्म यही कहता है कि यदि तुम खेती करते हो तो उसमे अन्धाधुन्धी से प्रवृत्ति मत करो। खेती की प्रवृत्ति मे से अज्ञान और अविवेक का जहर निकाल दो। अपने उत्पादन किये अन्न को ऊँचे दामो मे बेचने के लिए दुर्भिक्ष पडने की गन्दी कामना न करो, बल्कि दूसरो के जीवन-निर्वाह मे सहायक बनने की करुणामयी पवित्र भावना रखो। बस, वही खेती आर्य-कर्म कहलाएगी। पवित्र एव करुणामयी भावना के अनुरूप कुछ अश मे पुण्य का उपार्जन भी किया जा सकेगा।

गृहस्थ जिस किसी भी कार्य मे हाथ डाले, यदि उसके पास विवेक का दिव्य-प्रकाश है तो उसके लिए वह आर्य-कर्म होगा। इसके विपरीत यदि असावधानी से, अविवेक से और साथ ही अपवित्र भावना से कोई कार्य किया जाएगा, फिर चाहे वह दुकानदारी हो या घर की सफाई करने का ही साधारण काम क्यो न हो, तो वह अनार्य-कर्म होगा।

जैन-धर्म आर्य-कर्म और अनार्य-कर्म की एक ही व्याख्या करता है, अर्थात्—विवेकपूर्वक, न्याय-नीतिपूर्वक किया गया कर्म 'आर्य-कर्म' है, और अन्याय से, अनीति से, छल-कपट से एव दुर्भावना से किया जाने वाला कर्म 'अनार्य-कर्म' है।

उदाहरणार्थ एक दुकानदार है। उसकी दुकान पर चाहे बच्चा आए, चाहे जिन्दगी के किनारे लगा हुआ बूढा आए, चाहे कोई भोली-भाली ग्रामीण बहिन आ जाए, यदि वह सभी को ईमानदारी के साथ सौदा देता है और अपना उचित मुनाफा रखकर सब को बराबर तोलता है, तो वह आर्य-कर्म की राह पर है। इसके विपरीत यदि दूसरा दुकानदार सभी को मूँडने की कोशिश करता है, दूसरो का का गला काटना प्रारम्भ कर देता है, नमूना कुछ और दिखाता है किन्तु देता कुछ और है, तो वह अनार्य-कर्म की पगडडी पर है।

अध्यापक का कर्त्तव्य है—बच्चो को सत् शिक्षा देकर उनका चरित्र निर्माण करना तथा विकास मार्ग पर प्रतिष्ठित करना। यदि वह अपने कर्त्तव्य के प्रति लापरवाह रहता है, विद्यार्थी पढे या न पढे, इसकी उसे कोई चिन्ता नही है, और थोडी-सी भूल होते ही वह विद्यार्थी पर बेते बरसाता है, तो वह अनार्य-कर्म की राह पर है। यदि कोई अध्यापक अपने काम मे पूर्ण विवेक रखता है, अपनी जवाबदेही भली-भाँति समझता है और उसे पूरी भी करता है तो उसका वह कर्म अमृत-कर्म होगा, वह उसका शुद्ध यज्ञ कहलाएगा। अन्याय, अनीति, अविवेक और अज्ञान

को निकाल कर जो कर्त्तव्य या कर्म किया जाता है, वही आर्य-कर्म है ।

जैन-धर्म से पूछा गया—आस्रव का काम कौन-सा है और सवर का काम कौन-सा है ? अर्थात् ससार का मार्ग क्या है और मोक्ष का मार्ग क्या है ? इस प्रश्न का उत्तर आचाराग सूत्र मे बडे ही सुन्दर ढग से दिया गया है —

'जे आसवा ते परिस्सवा जे परिस्सवा ते आसवा ।'

अर्थात्—"जिस प्रवृत्ति से आस्रव होता है, जो कर्मों के आगमन का हेतु है, उस प्रवृत्ति मे यदि विवेक का रस डाला गया है, अज्ञान को निकाल दिया गया है, न्याय-नीति और सयम की तन्मयता उसके पीछे रखी गई है, तो वही प्रवृत्ति सवर का हेतु बन जाती है । इसके विपरीत सामायिक दया, पौषध आदि जो प्रवृत्तियाँ सवर का कारण है , यदि उनमे विवेक नही है, ज्ञान की सुगन्ध नही है, सावधानी नही है, तो वे ही प्रवृत्ति 'आस्रव' का कारण बन जाती है । श्रावक एव साधु बन जाना सवर है, किन्तु कर्त्तव्य की पवित्र भावना यदि न रही, सदसत् का विवेक न रखा गया, तो वह ऊपर से दिखाई देने वाला सवर भी आस्रव है । वह रग-रोगन किया हुआ कागज का फूल है, जिसकी कलियो मे प्रेम, शील आदि सद्गुणो की सुवास नही है ।

यह है 'आस्रव' और 'सवर' के विषय मे जैन-धर्म का स्पष्ट दृष्टिकोण ! यह है 'आस्रव' और 'सवर' को नापने का जैन-धर्म का विशाल गज ! जिस धर्म ने इतना महान् मगल-सूत्र सिखाया हो, उसके अनुयायी वर्ग मे जब हम धर्म के प्रति

सकुचित और गलत दृष्टिकोण पाते है तो हमारे मन मे निराशा की लहर उठने लगती है। हम सोचते है कि जब जैन-धर्म ने अपने साधको को मार्ग खोजने के लिए प्रकाश-मान रत्न दे दिया है, फिर तो यह उन साधको की ही अपनी गलती है, जो ऐसा अमूल्य रत्न पाकर भी अन्ध श्रद्धा की दीवार मे सिर टकराएँ और व्यर्थ का वितण्डावाद बढाएँ। सचमुच जैन-धर्म ने 'आस्रव' और 'सवर' के कार्यो की लम्बी सूची नही बनाई है, सूची पूरी बनाई भी नही जा सकती। उसने थोडे से भेद गिनाकर उनके बाद विराम नही लगा दिया है। आर्य-अनार्य कर्मो के सम्बन्ध मे भी उसने कुछ महत्वपूर्ण कार्य गिनाकर ही समाप्ति की घोषणा नही कर दी है। उसने तो 'जे यावन्ने तहप्पगारा' लिखकर स्पष्ट कर दिया है कि—इस प्रकार के जो भी अन्य कार्य हैं, वे सभी आर्य-कर्म है। इसी प्रकार 'आस्रव' और 'सवर' के विषय मे भी उसने कहा है—"विवेकी पुरुष आस्रव मे भी सवर की स्थिति प्राप्त कर सकता है, और अविवेकी पुरुप सवर के कार्य मे भी आस्रव ग्रहण कर लेता है। देखिए, यह दृष्टिकोण कितना व्यापक एव शाश्वत है।

सामान्यतया कहा जा सकता है कि खेती आर्य-कर्म है, इस विषय मे प्रमाण क्या है ? सबसे पहले मै यही कहूँगा कि प्रश्नकार का विवेक ही प्रमाण है, उसके अन्त करण की वृत्तियाँ ही प्रमाण है। सबसे बडा प्रमाण मनुष्य का अपना अनुभव ही है। क्या तीर्थकर किसी बात के निर्णय

के लिए किसी ग्रथ, शास्त्र या महापुरुष के किसी वाक्य को खोजते फिरते है ? नही, क्योकि उनके पास ज्ञान का वह अनुपम सर्चलाइट है, जिसके समक्ष सभी प्रकाश फीके पड जाते है। उन्हे किसी भी ग्रन्थ या पोथे को टटोलने की जरूरत ही नही होती।

इसी प्रकार जिसके पास विवेक-बुद्धि है, उसे कही भी भटकने की आवश्यकता नही है। जिसकी दृष्टि यदि सम्यक् है और सत्य के प्रति सच्ची निष्ठा है तो वह किसी चीज के औचित्य का निर्णय स्वय कर सकता है। मै तो यहाँ तक कहता हूँ कि* 'केवल-ज्ञान' से भी पहला नम्बर आत्मा के 'सहज-विवेक' का है, क्योकि वही तो सबसे पहले जाग्रत होता है और अन्तत आत्मा को केवल-ज्ञान का प्रकाश देता है। जो साधक विवेक का सहारा न लेकर धर्म की ऊँची-ऊँची बाते करता है, वह बिना आत्म-प्रकाश के, अन्धकार मे टकरा कर गिर जाता है। धर्म का रहस्य विवेक के बिना समझ मे नही आ सकता। एक भारतीय ऋषि ने कहा भी है —

"यस्तर्केणानुसन्धत्ते स धर्म वेद नेतर ।"

अर्थात्—'जो तर्क से किसी बात का पता लगाता है, वही धर्म को जानता है, दूसरा नही।'

गणधर गौतम ने भी उत्तराध्ययन सूत्र मे कहा है —

"पन्ना समिक्खए धम्मतत्त तत्त विणिच्छिय ।"

---

* वह सर्वदर्शी सर्वोत्कृष्ट ज्ञान, जिसके द्वारा त्रिकालवर्ती अनन्तानन्त पदार्थों का एक साथ हस्तामलकवत् प्रत्यक्ष प्रतिभास होता है।

अर्थात्—"साधक की सहज बुद्धि ही धर्म-तत्त्व की सच्ची समीक्षा कर सकती है।"

वस्तुत जीवन का निर्माण विचार के आधार पर ही होता है। विचार के बाद ही हम किसी प्रकार का आचरण करते है, और विचार के लिए सर्वप्रथम विवेक की आवश्यकता होती है। अत खेती आर्य-कर्म है या अनार्य-कर्म ? इस प्रश्न पर विचार करने के लिए सर्वप्रथम अपने विवेक-शुद्ध अन्त करण से ही उत्तर माँगना चाहिए।

जो किसान दिन भर चोटी से ऐडी तक पसीना बहाता है, अन्न उत्पन्न करके ससार को देता है, अपना सारा समय, परिश्रम और जीवन कृषि के पीछे लगा देता है, ऐसे अन्नोत्पादक और अन्नदाता को यदि आप अनार्य-कर्मी कहे और उस अन्न को खाकर ऐश-आराम से जिन्दगी बिताने वाले आप स्वय आर्य-कर्मी होने का दावा करे, भला, इस निराधार बात को किसी भी विवेकशील का अन्त करण कब स्वीकार कर सकता है ? आप बुद्धि का गज डालकर जरा अपने को नाप-तौल कर देखे कि कृषि, क्या प्रत्येक स्थिति मे अनार्य-कर्म हो सकती है ?

स्वानुभव के अतिरिक्त शास्त्र-प्रमाणो की भी यदि आवश्यकता है तो उनकी भी कमी नही है।

उत्तराध्ययन सूत्र मे उल्लेख है कि जो साधक अपना जीवन साधना मे व्यतीत करता है, जो सदैव सत्कर्म के मार्ग पर चलता है और शुभ भावनाएँ रखता है, वह अपनी मानव-आयु समाप्त करके देवलोक में जाता है। देवलोक के जीवन

के पश्चात् वह कहाँ पहुँचता है ? यह बताने के लिए वहाँ ये गाथाएँ दी गई है —

खेत्त वत्थु हिरण्ण च पसवो दास—पोरुस ।
चत्तारि कामखधाणि, तत्थ से उववज्जइ ॥
मित्तव नाइव होइ, उच्चागोए य वण्णव ।
अप्पायके महापण्णे, अभिजाए जसो बले ॥

—उत्तरा० ३, १७-१८

उपर्युक्त गाथाओ मे कहा गया है कि जो साधक देवलोक मे जाते है, वे जीवन का पुन प्रकाश प्राप्त करने के लिए वहाँ से कहाँ जन्म लेगे ? उत्तर—जहाँ खेती लहलाती होगी। सब से पहला पद यह आया है कि उस साधक को खेत मिलेगा ! उसे खेत की उपजाऊ भूमि मिलेगी, जिसमे वह सोने से भी बढकर जीवनकण-अन्न उत्पन्न करेगा।

यहाँ सोने और चाँदी से भी पहले खेत की गणना की गई है। इस प्रकार जैन-परम्परा खेती-बाडी को पुण्य का फल मानती है। खेती-बाडी, खेत और जमीन यदि पाप का फल होता तो शास्त्रकार उसे पुण्य का फल क्यो बतलाते ?

'उत्तराध्ययन सूत्र मे आगे भी कहा है —

"कम्मुणा बभणो होई, कम्मुणा होइ खत्तिओ ।
वइसो कम्मुणा होइ, सुद्दो हवइ कम्मुणा ॥"

अर्थात्—कर्म से ही ब्राह्मण होता है, कर्म से ही क्षत्रिय होता है, कर्म से ही वैश्य होता है और कर्म से ही शूद्र भी होता है।

यहाँ कर्म से वैश्य होना बतलाया गया है, परन्तु उस कर्म का निर्णय आप कैसे करेगे ? कौन-सा दया, पौषध आदि है, जो आप मे से किसी को ब्राह्मण, किसी को क्षत्रिय, किसी

को वैश्य और किसी को शूद्र बनाता है? ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र के रूप मे बाँटने वाला कर्म कौन-सा है? धार्मिक नियम, और मर्यादाएँ तो सभी के लिए समान है और उनका फल भी सभी के लिए समान ही बताया गया है। कोई धार्मिक नियम या व्रत-कर्म ऐसा नही, जो किसी एक को ब्राह्मण और किसी दूसरे को वैश्य बनाता हो।

तब फिर यहाँ 'कर्म' से क्या अभिप्राय है? यह बात समझने के लिए हमे प्राचीन टीकाकारो की ओर नजर डालनी होगी। उत्तराध्ययन पर विस्तृत और प्राजल टीका लिखने वाले वादि-वेताल शान्त्याचार्य विक्रम की ग्यारहवी शताब्दी मे हुए है। उन्होने अपना स्पष्ट चिन्तन जैन जनता के सामने रखा है। उन्होने 'कम्मुणा वइसो होइ' पद पर टीका लिखते हुए कहा है —

'कृषि-पशु पालन-वाणिज्यादि कर्मणा वैश्यो भवति।"

भगवद्गीता मे भी यही बात स्पष्ट रूप से कही गई है —

"कृषि-गोरक्ष-वाणिज्य वैश्यकर्म स्वभावजम्।"

प्रामाणिक शास्त्रो का दिव्य-प्रकाश उपलब्ध होते हुए भी आज हम गलतफहमी के कारण कर्मों को समझने मे गडबडा गए है, लेकिन प्राचीन जैन और जैनेतर साहित्य स्पष्ट बताते है कि कृषि करना वैश्य वर्ण का ही कार्य था, जो आज एकमात्र शूद्रो या अनार्यो के मत्थे मढा जा रहा है।

भगवान् महावीर ने भी कृषि-कर्म करने वाले व्यक्तियों को वैश्य बतलाया है। भगवान् महावीर के पास आने

वाले और व्रत ग्रहण करने वाले जिन प्रमुख श्रावको का वर्णन उपासक दशाग सूत्र मे आता है, उनमे कोई भी ऐसा नही था, जो श्रावक अवस्था मे खेती-बाडी का धन्धा न करता हो। इससे आप स्वय अनुमान लगा सकते है कि हमारी परम्परा हमे खेती के विषय मे क्या निर्देश करती है ? वाणिज्य-व्यापार का नम्बर तो तीसरा है, वैश्य का पहला कर्म खेती और दूसरा कर्म पशु-पालन गिनाया गया है।

यहाँ एक बात ध्यान मे रखना चाहिए कि बारह व्रत-धारी श्रावक की भूमिका तक तो खेती का कही भी निषेध नही है। इससे ऊपर की भूमिका प्रतिमाधारी श्रावक की भूमिका है। क्रमश पहली, दूसरी, तीसरी आदि प्रतिमाओ को स्वीकार करने के बाद जब श्रावक आठ‌ी प्रतिमा को अगीकार करता है, तब आरम्भ के कार्यो का परित्याग कर कृषि का त्याग करता है। इस सम्बन्ध मे श्वेताम्बर और दिगम्बर-परम्परा के सभी आचार्य एक स्वर से समर्थन करते हुए कहते है* —

आरम्भ —कृष्यादि कर्म, तत्त्याग करोति।"

अर्थात्—यहाँ आरम्भ से कृषि-कर्म आदि समझना चाहिए। उसका त्याग आठवी प्रतिमा मे होता है। इस तरह प्रतिमाधारी श्रावक आठवी प्रतिमा मे स्वय कृषि करने का त्याग करता है और नौवी प्रतिमा मे कराने का भी त्याग कर देता है।

---

*देखिए—समन्तभद्र कृत 'रत्नकरण्डक श्रावकाचार' और प्रवचन-सारोद्धार की सिद्धसेनीया वृत्ति।

शास्त्रो का इतना स्पष्ट विवरण हमारे सामने मौजूद है और त्याग का क्रम भी स्पष्ट रूप से शास्त्र दिखा रहे है, दुर्भाग्य से फिर भी कुछ लोग भ्रम मे पड़े हुए हे। यह कितना आश्चर्यजनक एव खेदपूर्ण है कि जो वात आगे की भूमिका मे छोडने की है, उसे पहले की भूमिका मे छोड देने का आग्रह किया जाता ह, और जो विपय पहले की भूमिका मे त्यागने योग्य है, उमका ठिकाना ही नही है। धोती की जगह पगडी और पगडी की जगह धोती लपेट कर हम अपने आपको शेखचिल्ली की भाति दुनिया की दृष्टि मे हास्यास्पद वना रहे है।

आर्य और अनार्य कर्मों का विस्तृत विवरण प्रज्ञापना सूत्र मे भी आया है। वहाँ आर्य-कर्मो के स्वरूप का निर्देशन करते हुए कुछ थोडे से कर्म गिनकर अन्त मे 'जे यावन्ने तहप्पगारा' कहकर सारा निचोड वतला दिया है। इसका साराश यही है कि इस प्रकार के और भी कर्म है, जो आर्य-कर्म कहलाते है।

कुम्भकार के धन्धे को भी वहाँ आर्य-कर्म वतलाया गया है। इससे आप फैसला कर सकते हैं कि कृषि-कर्म को अनार्य-कर्म कहने का कोई कारण नही था। पर, इस गए गुजरे जमाने मे कई नए टीकाकार पैदा हुए हे, जो उन पुराने आचार्यो की मान्यताओ और भगवान् महावीर के समय से ही चली आने वाली पवित्र परम्पराओ को तिलाजली देने की अभद्र चेष्टा कर रहे है। जैन-जगत् के युगद्रष्टा एव क्रान्तिकारी आचार्य पूज्यपाद श्री जवाहरलालजी महाराज को, जिन्होने

प्राचीन परम्परा के आधार पर अपना स्पष्ट चिन्तन रखा, ऐसे ही कुछ टीकाकार उत्सूत्रप्ररूपी तक कहने का दुस्साहस करते है। खेती आर्य-कर्म नही है, इससे बढकर सफेद भूठ और क्या हो सकता है ?

शायद विक्रम की दूसरी या तीसरी शताब्दी मे आचार्य उमास्वाति हुए है, जिन्होने तत्त्वार्थ सूत्र पर स्वोपज्ञ भाष्य लिखा है। उन्होने आर्य-कर्मो की व्याख्या करते हुए कहा है —

"कर्मार्या यजनयाजनाध्ययनाध्यापनकृषिवाणिज्ययोनिपोषणवृत्तयः।"

यह चिन्तन कहाँ से आया है ? उपर्युक्त प्रज्ञापना सूत्र के आधार पर ही यहाँ चिन्तन किया गया है।

आचार्य अकलक भट्ट ने (आठवी शताब्दी) तत्त्वार्थ राजवार्तिक मे अपना विशिष्ट चिन्तन जनता के समक्ष रखा। उन्होने खेती-बाडी, चन्दन, वस्त्र आदि का व्यापार तथा लेखन-अध्यापन आदि उद्योगो को, सावद्य आर्य-कर्म बतलाया है। इसका कारण बतलाते हुए वे कहते है —

"षडप्येतेऽविरतिप्रवणत्वात्सावद्यकर्मार्याः।*"

यह छह प्रकार के आर्य अविरति के कारण सावद्य आर्य-कर्मी है, अर्थात्—व्रती श्रावक की भूमिका से पहले ये सावद्यकर्मार्य है। परन्तु बाद मे व्रती श्रावक होने पर जो मर्यादाबद्ध खेती आदि कर्म करता है, लिखने-पढने का

* आचार्य अकलक ने लेखन आदि के समान कृषि को सावद्यकर्म ही कहा है, महासावद्य नही। कृषि को महारंभ—महापाप कहने वाले सूक्ष्म दृष्टि से विचार करे।

व्यवसाय करता है, तो वह अल्पारभ की भूमिका मे है —

"अल्पसावद्यकर्मार्यश्च श्रावका ।"

खेती आदि कर्मो के आर्य-कर्म होने के सम्बन्ध मे इनसे अच्छे और क्या प्रमाण हो सकते है ? साराश यही है कि श्रावक की भूमिका ही अल्पारभ की भूमिका है। इसका रहस्य यही है कि श्रावक मे विवेक होता है। वह जो भी काम करेगा, उसमे विवेक की दृष्टि अवश्य रखेगा। श्रावक का हाथ वह अद्भुत हाथ है कि जिसे वह छू ले, बस, सोना बन जाए। श्रावक की भूमिका, वह भूमिका है, जिसमे विवेक का जादू है। यही जादू उसके कार्य को अल्पारम्भ बना देता है।

असली चीज तो विवेक है। जहाँ विवेक नही है, वहाँ खेती भी सावद्य कर्म है। यहाँ तक कि विवेक के अभाव मे लेखन तथा वस्त्र आदि का व्यवसाय करना भी अल्पारभ नही होगा।

इस तरह हमे जीवन के प्रत्येक प्रश्न पर आर्य-कर्म और अनार्य-कर्म तथा अल्पारभ और महारभ का निर्णय कर लेना चाहिए। विवेक को त्याग कर यदि किसी एक ही पक्ष के खूँटे को पकड कर हम चिल्लाते रहेगे तो हमारी समझ मे कुछ भी नही आएगा और हम जैन-धर्म को भी विश्व की दृष्टि मे हेय सिद्ध कर देगे।

—: ५ :—

कृषि अल्पारम्भ है

प्रत्येक व्यक्ति को हिंसा और अहिंसा का मर्म समझना चाहिए। मनुष्य को अपने जीवन के प्रत्येक कार्य की छान-बीन करनी चाहिए और देखना चाहिए कि कहाँ कितनी हिंसा हो रही है और कहाँ कितनी अहिंसा की साधना चल रही है।

साधारणतया साधको के जीवन के दो भाग होते है—एक गृहस्थ-जीवन और दूसरा साधु-जीवन। गृहस्थ को अपने आदर्श गृहस्थ-जीवन की ऊँचाइयाँ प्राप्त करना है, और साधु को अपने शाश्वत क्षेत्र मे जीवन के सर्वोच्च शिखर का स्पर्श करना है। ऐसी बात नही है कि साधु बनते ही उसके जीवन मे पूर्णता आ जाती है। महाव्रतो को ग्रहण करने की प्रतिज्ञा करते ही जीवन मे पूर्णता आ गई, ऐसा समझना सर्वथा भ्रमपूर्ण होगा। साधु भी अपने आप मे अपूर्ण है और उसे शाश्वत जीवन की पूर्णता प्राप्त करना है। वस्तुत पूर्णता हिमालय की सर्वोच्च चोटी है और साधु को वहाँ तक पहुँचने के लिए कठिन साधना अपेक्षित है।

यह ठीक है कि साधु, श्रावक की अपेक्षा कुछ आगे बढ गया है, कुछ ऊँचा भी चढ चुका है, मजिल की राह पर

दूर तक आगे कदम वढा चुका है और दूसरी ओर गृहस्थ अभी अपने क्षेत्र मे कदम वढाकर चला ही है। फिर साधु का जीवन भी तो ऊँचा-नीचा है। उसकी भी अनेक श्रेणियाँ है।

इसी प्रकार गृहस्थ-जीवन की भी अनेक कक्षाएँ है। और उन कक्षाओ के भी कई खड है। ऐसा नही है कि गृहस्थ छोटा है, अत. वह नगण्य है और विष का टुकडा है। परिस्थिति वश गृहस्थ, साधु की अपेक्षा नीचा होते हुए भी किसी विषय मे अपेक्षाकृत ऊँचा है। जो गृहस्थ जीवन के मैदान मे विवेक-पूर्वक चलता है, जिसके हृदय मे प्रत्येक प्राणी के लिए दया का झरना वहता है, जो महा-हिंसा से दूर रहकर अपनी जीवन-यात्रा तय कर रहा है, वह अपने श्रावक के कर्त्तव्यो को दृढता से पूरा कर रहा है। भले ही वह धीमे कदमो से चलता हो, पर अभीष्ट लक्ष्य की ओर उसकी गति नियमित और निरन्तर अवश्य है।

हमे अपनी पुरानी परम्परा की ओर भी दृष्टिपात कर लेना चाहिए। वह क्या कहती है? वह ऐसे गृहस्थ को, जो अपनी जीवन नौका के साथ-साथ दूसरो की जीवन नौका को भी पार करता है, कभी भी पापी और विप का टुकडा नही वतला सकती। कुछ लोगो का ऐसा विचार है कि गृहस्थ को अपनी रोटी कमानी पडती है, वस्त्र जुटाना पडता है, समय आने पर अपने पडौसी, समाज और राष्ट्र की रक्षा के लिए कठोर कर्त्तव्य भी अदा करना पडता है, इस-लिए वह तो पाप मे डूवा हुआ है। परन्तु हम यदि वुद्धि

की कसौटी पर गृहस्थ-जीवन को कसकर देखे तो विदित होगा कि विवेकवान् गृहस्थ यदि साधु के गुणस्थानो से नीचा है तो प्रथम चार गुणस्थानो से ऊँचा भी है। सकुचित दृष्टिकोण होने के कारण दुर्भाग्य से हमारा ध्यान निचाई की ओर तो जाता है, पर ऊँचाई की ओर कभी नही जाता।

इसीलिए कुछ लोगो ने एक मनगढन्त सिद्धान्त निकाला है कि साधु की अपेक्षा गृहस्थ का स्तर नीचा है, इसलिए उसका सत्कार-सम्मान करना, उसकी सेवा-शुश्रूषा आदि करना, दूसरे गृहस्थ के लिए भी ससार का मार्ग है। वह हिंसा, असत्य, चोरी और कुशील का निन्दनीय मार्ग है और पतन की पगडडी है। मेरे विचार से इस हीन विचार के पीछे अज्ञान चक्कर काट रहा है और विवेक की रोशनी नही है। सुपात्र और कुपात्र की अनेक भ्रमपूर्ण धारणाएँ भी इसी अज्ञान के कुपरिणाम हैं। गृहस्थ कुपात्र है, उसे कुछ भी देना धर्म नही है, साधु को देना ही एकमात्र धर्म है। इस प्रकार की कल्पनाएँ सकुचित विचारों द्वारा ही आ गई हैं। इस प्रकार एकान्तत. छोटे-बडे के आधार पर धर्म और अधर्म का निष्पक्ष निर्णय कभी नही हो सकता। आखिर साधु भी, जोकि छठे गुणस्थान मे है, सातवे गुणस्थान वाले से नीचा है। इसी प्रकार सातवे गुणस्थान वाला आठवे गुणस्थान वाले से नीचा है। केवल-ज्ञानी की भूमिका से तो सभी सामान्य साधु नीचे ही है। हाँ, तो मै पूछता हूँ कि तेरहवे गुणस्थान वाले अरिहन्त की भूमिका छोटी है या बडी ?

यदि वारहवे गुणस्थान से वह ऊँची है तो चौदहवे गुणस्थान से नीची भी है। तो इस प्रकार की अपेक्षाकृत ऊँचाई और निचाई भले ही रहे, परन्तु उसी को व्यर्थ की चर्चा का आधार बनाने मे कोई महत्त्व नही है। नीचे की भूमिकाओ को पार करके ऊँची भूमिका मे प्रतिष्ठित होना ही महत्त्वपूर्ण बात है। अस्तु, हमे देखना चाहिए कि जीवन ऊपर की ओर गतिशील है या नीचे की ओर ? साधक कही नीचे की ओर तो नही खिसक रहा है ?

अब तनिक श्रावक की भूमिका पर विचार कीजिए। वह मिथ्यात्व के प्रगाढ अधकार को वेधकर, अनन्तानुवधी रूप तीव्र कषाय की फौलादी दीवार को लाघ कर, अव्रत के असीम सागर को पार करके और अपरिमित भोगो की लिप्साओ से ऊँचा उठकर आया है। उसने मिथ्यात्व की दुर्भेद्य ग्रन्थियो को तोडा है और वह अहिसा एव सत्य के प्रशस्त मार्ग पर यथाशक्ति प्रगति कर रहा है। यह बात दूसरी है कि वह उच्च साधक की तरह तीव्र गति से दौड नही सकता, मन्द गति से टहलता हुआ ही चलता है।

सूत्रकृताग सूत्र मे अधर्म और धर्म-जीवन के सम्बन्ध मे एक बडी ही महत्वपूर्ण चर्चा चली है। वहाँ स्पष्ट शब्दो मे कहा गया है कि जो मिथ्यात्व और अविरति आदि मे पडे है, वे आर्य-जीवन वाले नही है, किन्तु जिन्होने हिसा और असत्य के वन्धन कुछ अशो मे तोड डाले है, जो अहिसा और सत्य को हितकारी समझते है और असत्य आदि के बन्धनो को पूरी तरह तोडने की उच्च भावना रखते हैं और क्रमश.

तोडते भी जाते है, वे गृहस्थ श्रावक भी आर्य है। उनका कदम ससार के शृ खलाबद्ध मार्ग की ओर है या मोक्ष के मुक्ति मार्ग की ओर ? सहज विवेक-बुद्धि से विचार करने वाला तो अवश्य ही कहेगा---मोक्ष की ओर। ऐसे गृहस्थ के विपय मे ही सूत्रकृताग कहता है ---

"एस ठाणे आरिए जाव सव्वदुक्खपहीणमग्गे एगतसम्मे साहू।*"

जो यह गृहस्थ-धर्म की प्रशसा मे आर्य एव एकान्त सम्यक् आदि की वात कही है, वही सर्व विरति साधु के लिए भी कही गई है।

कदाचित् आप कहेगे--कहाँ गृहस्थ और कहाँ साधु ? साधु की तरह गृहस्थ एकान्त आर्य कैसे हो सकता है ? इस प्रश्न का उत्तर देने के लिए मुझे आपसे एक प्रश्न करना होगा। मै पूछता हूँ---गृहस्थ श्रावक मर कर कहाँ जाता है ?

'देवलोक मे।'

'और साधु ?'

'छठे से ग्यारहवे गुणस्थान वाला साधु भी मरने के वाद देवलोक मे जाता है।'

इस प्रकार जैसे दोनो की गति देवलोक की है, उसी प्रकार दोनो मे एकान्त आर्यत्व भी है। इसका मूल कारण यही है कि श्रावक का दृष्टिकोण साधु की भाँति परम सत्य की ओर है, वधनो के पाश को तोडने की ओर ही है।

जवकि सूत्रकृताग के क्रिया स्थानक मे, जहाँ क्रियाओ का वर्णन है, गृहस्थ को साधु की भाँति ही एकान्त आर्य वताया

---

* सूत्रकृताग, द्वि० श्रुतस्कन्ध अ० २, सू० ३९

है, तब ऐसी स्थिति मे यदि साधु भोजनादि क्रियाएँ करे तो पाप नही, और यदि श्रावक वही विवेक-पूर्वक भोजनादि क्रियाएँ करे तो एकान्त पाप ही पाप चिल्लाना, भला किस प्रकार शास्त्र सगत हो सकता है ? वही कार्य करता हुआ श्रावक पापी और कुपात्र कैसे हो गया ? इस पर हमे निष्पक्षतापूर्वक विचार करना होगा।

पाप करना एक चीज है और पाप हो जाना दूसरी चीज है। पाप तो साधु से भी होना सम्भव है। वह भी कभी किसी प्रवृत्ति मे भूल कर बैठता है। पर, यह नही कहा जा सकता कि साधु जान-बूझकर पाप करता है। वास्तव मे वह पाप करता नही है, अपितु हो जाता है। इसी प्रकार श्रावक भी कुछ अगो मे तटस्थ वृत्ति लेकर चलता है। परिस्थिति-वश उसे आरभ करना भी होता है, परन्तु वह प्रसन्नभाव से नही, उदासीन भाव से, मूल मे हेय समझता हुआ, करता है। यद्यपि कोई गृहस्थ आसक्ति भाव से आरभादि पाप कर्म करता है, पाप कर्म के लिए उत्साहित होकर कदम रखता है तो वह अनार्य है, तथापि जो गृहस्थ काम तो करता है, पर उसमे मिथ्यादृष्टि जैसी आसक्ति नही रखता, वह उसमे से आसक्ति के विप को कुछ अगो मे कम करता जाता है, तो वह अनार्य नही कहा जा सकता। यदि ऐसा न होता तो भगवान् उसे एकान्त सम्यक् एव आर्य क्यो कहते ?

इतना समझ लेने पर अब मूल विषय पर आइए और विचार कीजिए। एक ओर भगवान् ने श्रावक के जीवन को

एकान्त सम्यक् आर्य-जीवन कहा है और दूसरी ओर आप खेती-वाडी का धन्धा करने वाले श्रावक को अनार्य समझते है। ये दोनो एक-दूसरे के परस्पर विरोधी वाते कैसे मेल खा सकती है ? आप दिन को दिन भी कहे और साथ ही उसे रात भी कहते जाएँ, भला यह असगत वात, बुद्धि कैसे स्वीकार कर सकती है ? श्रावक की भूमिका अल्पारभ की है, महारभ की नही। महारभ का मतलव है—घोर हिंसा और घोर पाप। महारभी की गति नरक है, यह वात शास्त्रो मे स्पष्ट रूप से कही है —

"महारभयाए, महापरिग्गहयाए, पचिंदियवहेणं, कुणिमाहारेण ।"

—औपपातिक सूत्र

यहाँ नरक-गति के चार कारणो मे पहला कारण महारभ कहा गया है। आप एक ओर तो श्रावक को अल्पारभी स्वीकार करते है और दूसरी तरफ खेती-वाड़ी करने के कारण उसे महारभी की उपाधि से भी विभूपित करते जाते है। भला, यह विपरीत भाव कैसे युक्ति सगत कहलाएगा।

आपको मालूम होगा, गृहस्थ-जीवन मे 'आनन्द' ने जो किया, वह एक आदर्श की चीज थी। 'आनन्द' जैसा उच्च एव आदर्श जीवन व्यतीत करने वाला श्रावक महारभ का कार्य नही कर सकता था। 'आनन्द' श्रावक-अवस्था मे भी खेती करता था, इस वात को अस्वीकार नही किया जा सकता। 'आनन्द' श्रावक था, अतएव अल्पारभी था। फिर भी वह खेती करता था, इसका फलितार्थ यही है कि खेती श्रावक के लिए अनिवार्यत. वर्जनीय नही है, वह अल्पारम्भ में ही है।

विचार प्रवाह मे यह भी कहा जा सकता है कि 'आनन्द' महारभी था और कृषि कार्य उसके परिवार का परम्परागत धन्धा था । किन्तु श्रावक वनने के वाद उसने कृषि-योग्य भूमि की मर्यादा निर्धारित की और शेष का त्याग कर दिया ।

इस कथन का स्पष्ट अभिप्राय यही हुआ कि खेती महा-रभ तो है, परन्तु उसकी मर्यादा की जा सकती है । परन्तु क्या कही महारभ की भी मर्यादा हो सकती है ? अथवा महारभ की मर्यादा करने के वाद भी क्या कोई अणुव्रती श्रावक की कोटि मे गिना जा सकता है ? महारभ की मर्यादा करने पर यदि श्रावक की कोटि प्राप्त की जा सकती है तो वध-शाला की मर्यादा करने वाला भी श्रावक की कोटि में आसानी से आ सकेगा । यदि भगवान् महावीर के पास कोई व्यक्ति आकर कहता—'प्रभो ! मै सौ कसाई खाने चला रहा हूँ और अभी तक श्रावक की भूमिका मे नही आ सका हूँ । अव मैं मर्यादा करना चाहता हूँ कि सौ से अधिक वध-शालाएँ नही चलाऊँगा । मुझे सौ से अधिक वध-शालाओ का त्याग करा दीजिए और अपने अणुव्रती श्रावक-सघ की सदस्यता प्रदान कीजिए ।' तो क्या भगवान् उसे अपने अणुव्रती श्रावक-सघ के सदस्यो मे परिगणित कर सकते थे ? कदापि नही । उस अवसर पर भगवान् यही कहते—अणुव्रती श्रावक का पद प्राप्त करने से पहले तुम्हे महारभ का पूरी तरह त्याग करना होगा । तात्पर्य यही है कि वध-शाला, जुए के अड्डे, वेश्यालय या शराव की भट्टियाँ चलाकर और उनकी

कुछ मर्यादा बाँध कर यदि कोई अणुव्रती श्रावक का स्थान प्राप्त करना चाहे तो वह प्राप्त नही कर सकता। ऐसा होना कदापि सम्भव नही है।

इस प्रकार की मर्यादाएँ तो प्राय होती ही रहती है। पजाब मे जब हम यात्रा करते है और कोई मासाहारी या शिकारी गृहस्थ मिलता है तो उसे मासाहार या शिकार को छोडने का उपदेश देते है। यदि वह पूरी तरह नही छोडता तो वृद्धि न करने की सलाह देते है। परन्तु क्या इससे उसका गुण-स्थान बदल गया ? एक हजार हरिण मारने वाला यदि पाँच-सौ हरिणो तक ही अपनी मर्यादा स्थापित कर ले, तो भले ही उसे कल्याण की धुँधली राह मिली हो, किन्तु इतने मात्र से उसको अणुव्रती श्रावक की भूमिका नही मिल सकती।

कृषि के सम्बन्ध मे विचार करते समय हमे भगवान् आदिनाथ को स्मरण रखना चाहिए। पहले कल्प-वृक्षो से युगलियो का निर्वाह हो जाता था। उस समय उनके सामने अन्न का कोई सकट नही था। भले ही युगलिया तीन पल्योपम की आयु वाले हो, परन्तु अन्तिम समय मे ही उनके सन्तान होती थी, अर्थात्—पहला जोडा जब विदा होने लगता, तब उधर दूसरा जोडा उत्पन्न होता था। इसलिए उनकी सख्या मे कोई विशेष अन्तर नही होता था। परन्तु भगवान् ऋषभ-देव के समय मे कल्प-वृक्ष, जो उत्पादन के एकमात्र साधन थे, घटने लगे और जन-सख्या बढने लगी। अतएव कल्प-वृक्षो से उनकी आवश्यकताओ की पूर्ति मे बाधा उपस्थित हो

गई। जहाँ उत्पादन कम है और खाने वाले अधिक हो जाते हैं, वहाँ सघर्ष अनिवार्य है।

नल पर पानी भरने के लिए तू-तू, मैं-मे क्यो होती है ? कारण यही है कि पानी कम आता है और उसके भी जल्दी बन्द हो जाने का डर रहता है और लोगो को आवश्यकता अधिक होती है। इसीलिए आपस मे लडाई-झगडे होते है और कभी-कभी भयकर दुर्घटना का रूप धारण कर लेते हैं। एक चाहता है, मै पहले भर लूँ और दूसरा चाहता है कि सबसे पहले मै भरूँ। परन्तु जल से परिपूर्ण कुओ पर ऐसा नही होता। वहाँ जितना चाहिए उतना पानी मिल सकता है, अतएव सघर्ष तथा दुर्घटना की स्थिति पैदा नही होती। जहाँ अभाव होता है और भरण-पोषण के साधन पर्याप्त नही होते, वही सघर्ष तथा दुर्घटनाएँ हुआ करती है। परन्तु जहाँ उत्पादन अधिक होता है और उपभोक्ताओ की सख्या कम हो, वहाँ अभावमूलक सघर्ष नही होता, न वहाँ विषमता ही प्रदर्शित होती है और न सग्रहवृत्ति ही पनपती है।

हाँ, तो हमे सोचना यह है कि भूखो मरते और सकट मे पडे हुए युगलियो को भगवान् आदिनाथ ने जो खेती करना और दूसरे धन्धे करना सिखाया, वह क्या था ? उत्पादन की कला सिखाकर उन्होने हिसा को बढाया, या अहिसा की राह बतलाई ? उन्होने ऐसा करके जीवन-दान दिया, या पाप-कर्म किया ?

इस सम्बन्ध मे मुझे आप से यही कहना है कि केवल दान देना ही अहिसा नही है, परन्तु यदि कोई रचनात्मक

मनोवृत्ति वाला व्यक्ति समाज के कल्याण तथा राष्ट्र की समृद्धि के लिए उत्पादन मे वृद्धि करता है, समाज और राष्ट्र की प्राथमिक आवश्यकताओ की पूर्ति मे सक्रिय सहयोग देता है भूख से तडपते त्रस्त व्यक्तियो के दुख-दर्द को मिटाने के लिए उत्पादन की कला बताता है, तो वह भी एक प्रकार का दान है और वह दान भी अहिंसा का ही एक सुनिश्चित मार्ग है।*

कल्पना कीजिए—एक मनुष्य नदी मे डूब रहा है। वह तैरना नही जानता, किन्तु आप तैरना जानते है और झटपट उसे निकाल देते है। इस प्रकार आप जब तब डूबते हुओ का का उद्धार करते रहते है, किन्तु किसी को तैरना नही सिखलाते है। एक दूसरा व्यक्ति है, जो तैराक है और डूबते हुए को देखते ही निकाल लेता है, साथ ही उसे तैरने की कला भी सिखाता है। इन दोनो मे किस का कार्य अधिक महत्वपूर्ण है?

'तैरना सिखाने वाले का!'

बिल्कुल ठीक है; क्योकि तैराक अपने सामने डूबते को तो निकाल सकता है, परन्तु यदि वह व्यक्ति फिर कही अन्यत्र डूब जाए तो कौन निकालने आएगा? वह कहाँ-कहाँ उसके पीछे लगा रहेगा? यदि वह तैरने की कला भी उसे सिखा देता है और स्वावलम्बी बना देता है तो वह कही भी नही डूबेगा और सदैव निर्भय रहेगा। वह स्वय तैर सकेगा, दूसरो को

---

* कलाद्युपायेन प्राप्तसुखवृत्तिकस्य चौर्यादिव्यसनासक्तिरपि न स्यात्।
—जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति टीका, २ वक्षस्कार

तैरना सिखाएगा और यथावसर यत्र-तत्र डूवते हुए अन्य व्यक्तियो को भी वचा सकेगा। यदि कोई तैराक दूसरो को तैरना न सिखाएगा और सिर्फ डूवने वालो को पकड-पकड कर निकाला ही करेगा तो डूवने वालो को वचाने की जटिल समस्या कभी हल न होगी।

आपके घर पर कोई स्वधर्मी भाई आया है। वह उस समय वडे सकट मे है, क्योकि उसके घर मे अन्न के लाले पड रहे है। और वह गरोवी से ग्रस्त है। उस अवसर पर आपने उसे तात्कालिक सहायता दी, अर्थात्—दो-एक वार भोजन करा दिया। पर, क्या इतना करने मात्र से उसके जीवन निर्वाह की समस्या हल हो गई ? उसके सामने दूसरे ही दिन फिर वही भूख की सकटपूर्ण समस्या खडी होगी। इसके विपरीत किसी भाई ने उसे दुखी देख कर और दया से प्रेरित होकर किसी काम पर लगा दिया, कोई व्यवसाय सिखा दिया और अपने पैरो पर खडा कर दिया। तो पहले की अपेक्षा दूसरा व्यक्ति अधिक उपकारक गिना जाएगा।

इसीलिये देश के नेतागण प्राय अपने भाषणो मे नवयुवको को अपने देश के महत्त्वपूर्ण उद्योग सीखने की प्रेरणा देते है। उद्योगो का विकास करते है और देश की आर्थिक तथा खाद्य समस्या को हल करते है। इसी को कहते है तैरने की कला सिखलाना।

वस्तुत भगवान् ऋषभदेव ने भी उन युगलियो को तैरने की कला सिखाई थी। उनके समय मे मनुष्यो की सख्या वढ रही थी। इधर माँ-वाप भी जीवित रहते थे और

उधर सन्तान की सख्या मे भी निरन्तर वृद्धि हो रही थी। केवल एक जोडा सन्तान उत्पन्न होने का प्राकृतिक नियम उस समय टूट गया था, फलत सन्ताने बढ चली थी। स्वय ऋषभदेव भगवान् के सौ पुत्र और बहुत-से प्रपुत्र थे। परन्तु दूसरी ओर कल्प-वृक्षो मे, अर्थात्—उत्पादन के साधन मे कमी होती जा रही थी। यदि उस समय का इतिहास पढेगे तो आपको मालूम होगा कि जिन युगलियो को पहले वैर-विरोध ने कभी छुआ तक न था, वे भी खाद्य के लिए आपस मे गाली-गलौज करने लगे, जिससे परस्पर द्वन्द्व होने लगे थे। लाखो वर्षो तक कल्प-वृक्षो का बँटवारा नही हुआ था, किन्तु अब वह भी होने लगा और वृक्षो पर अपना-अपना पहरा बिठाया जाने लगा। एक जत्था दूसरे जत्थे के कल्प वृक्ष से फल लेने आता तो सघर्ष हो जाता। एक वर्ग कहता—यह कल्प-वृक्ष मेरा है, मेरे सिवा इसे दूसरा कौन छू सकता है ? दूसरा वर्ग कहता—यह मेरा है, अन्य कोई इसके फल नही ले सकता। उस समय सब के मुख पर यही स्वर गूँज रहा था—मै पहले खाऊँगा। यदि तू इसे ले लेगा, तो मै क्या खाऊँगा ?

इस प्रकार सग्रह-वृत्ति बढने लगी थी। उस समय यदि भगवान् ऋषभदेव सरीखे मानवता के कुशल कलाकार प्रकट न होते, तो युगलिये आपस मे लड-झगड कर ही समाप्त हो जाते। भगवान् ने उन्हे मानव-जीवन की सच्ची राह बतलाई और अपने सदुपदेश से उनके सघर्ष को समाप्त करने का सफल प्रयत्न किया।

सकुचित दृष्टिकोण के कारण यह आशका की जा सकती है कि क्या भगवान् ऋषभदेव उन्हे भोजन नही दे सकते थे ? जबकि देव और उनका अधिपति स्वय इन्द्र उनकी आज्ञा मे था । वे आज्ञा देते तो उन्हे भोजन मिलने मे क्या देर लग सकती थी ? परन्तु ऐसा करने से भूखो की आवश्यकताएँ तब तक पूरी होती रहती, जब तक भगवान् रहते । इसीलिए भगवान् ने सोचा—मेरे जाने के बाद वही द्वन्द्व, सघर्ष, लडाई-झगडा और मारकाट मचेगी । फिर वही समस्या खडी होगी । अतएव भगवान् ने उन्हे हाथो से परिश्रम करना सिखाया । उन्होने कहा—'तुम्हारे हाथ स्वय तुम्हारी सृष्टि का सुन्दर निर्माण कर सकते हैं, और यह निर्माण तुम्हारे सुखद जीवन का आधार होगा ।

इस प्रसग पर मुझे अथर्व वेद-कालीन एक वैदिक ऋषि की बात याद आ रही है, जिसने कहा था —

"अय मे हस्तो भगवान्, अय मे भगवत्तर ।"

अर्थात्—"यह मेरा हाथ ही भगवान् है, बल्कि मेरा हाथ भगवान् से भी बढ कर है ।" वास्तव मे हाथ ही महान् ऐश्वर्य का भडार है, यदि उसकी उपयोगिता को भली-भाँति समझ लिया जाए !

इस प्रकार भगवान् ने युगलियो के हाथो से ही उनकी अपनी समस्या सुलझाई । मै तो यहाँ तक कहता हूँ—भगवान् ने केवल उन युगलियो की समस्या को ही नही सुलझाया, बल्कि आज के मानव-जीवन की जटिल समस्या को भी अधिकाशत· हल किया है । भगवान् की इस अपरिमित अनुकम्पा के प्रति

किन शब्दो मे कृतज्ञता प्रकट की जाए ? मानव-जाति के उस महान् त्राता की प्रतिभा और दयालुता का वर्णन किन शब्दो मे किया जाए ? जब तक मनुष्य जाति इस पृथ्वी तल पर मौजूद रहेगी और सारी मानव सृष्टि मासभोजी नही हो जाएगी, भगवान् की उस असीम दया के प्रति आभारी रहेगे।

प्राय हमारे कई साथी कहते है—खेती तो महारभ है। क्योकि भगवान् स्वय गृहस्थाश्रम मे थे, इसलिए उन्होने जनता को महारभ की शिक्षा दी।

पर, हमारा दिल इसे स्वीकार करने को तैयार नही है। गृहस्थाश्रम मे होने के कारण यदि उन्होने महारभ रूप खेती सिखाई तो वे पशुओ को मार कर खाने की शिक्षा भी दे सकते थे। फिर उन्होने क्यो नही कह दिया कि ये लाखो-करोडो पशु-पक्षी मौजूद है। इन्हे मारो और खा जाओ। उन्होने शिकार करके जीवन-निर्वाह कर लेने की शिक्षा क्यो नही दी ? पशु-पक्षियो को मारने और शिकार खेलने की तरह खेती को भी महारभ मानने वाले इस प्रश्न का क्या उत्तर देते है ?

पशुओ को मार कर खाना महारभ होने से नरक का कारण है और यदि खेती भी महारभ होने के साथ-साथ नरक-गति का कारण है तो भगवान् पशु-पक्षियो को मार कर खाने की, अथवा दोनो उपायो को यथा-आवश्यकता प्रयोग मे लाने की शिक्षा दे सकते थे। परन्तु भगवान् ने ऐसा नही किया। इसके पीछे कोई रहस्य होना चाहिए ? वह

यही है कि अहिसा की दृष्टि से वास्तव मे खेती महारभ नही है, अल्पारभ है । भगवान् ने अल्पारभ के द्वारा जनता की जटिल समस्या हल की । उन्होने सूक्ष्म दृष्टि से देखा—यदि ऐसा प्रयोग न किया गया, जनता को अल्पारभ का पेशा न सिखाया गया तो वह महारभ की ओर अग्रसर हो जाएगी । लोग आपस मे लड-झगड कर मर मिटेगे, एक-दूसरे को मार कर खाने लगेगे । इस प्रकार भगवान् ने महारभ की अनिवार्य एव व्यापक सम्भावना को खेती-वाडी सिखा कर समाप्त कर दिया और जनता को आर्य-कर्म की सही दिशा दिखाई । मास खाना, शिकार खेलना आदि अनार्य-कर्म भगवान् ने नही सिखाए, क्योकि वे हिसारूप महारभ के प्रतीक थे, जबकि कृषि-उद्योग अहिसारूप अल्पारभ का प्रतीक है ।

कई साथियो का यह भी कहना है—जिस समय भगवान् युगलियो को खेती करना सिखा रहे थे, उस समय दॉय करते वक्त (खलिहान मे धान्य के सूखे पौधो को कुचलवाते समय) वैल अनाज खा जाते थे । अत भगवान् ने वैलो के मुँह पर मुसीका (छीका) बाँधने की सलाह दी । उसी के कारण भगवान् को अन्तराय-कर्म का बन्धन हुआ, फलत उन्हे एक वर्ष तक आहार नही मिला । परन्तु यह एक कल्पना है । इसके पीछे किसी विशिष्ट एव प्रामाणिक ग्रन्थ का आधार भी नही मालूम होता । क्योकि विवेक के अभाव-वश मनुष्य की सोचने की बुद्धि प्राय कम हो जाती है, अत इस तरह की मनगढन्त कहानियाँ गढ ली जाती है । यदि भगवान् एक वर्ष तक खाने के फेर मे पडे रहते तो एकनिष्ठ तपस्या

कैसे कर पाते ?

आचार्य अमरचन्द्र ने पद्मानन्द महाकाव्य के रूप मे जो ऋषभ-चरित्र लिखा है, उसके एक-एक अध्याय को जब आप पढेगे तो आनन्द-विभोर हो जाएँगे। उन्होने लिखा है कि भगवान् ऋषभदेव के साथ चार हजार अन्य लोगो ने भी दीक्षा ली थी। उन्हे मालूम हुआ कि भगवान् तो कुछ बोलते नही है, कहाँ और कैसे भोजन करे, कुछ मालूम ही नही होता है। निस्पृह भाव से वन मे ध्यानस्थ खडे है। तब वे सभी घबराकर पथ-भ्रष्ट हो गए, साधना के पथ से विचलित हो गए। अस्तु, भगवान् ने देखा कि भूख न सह सकने के कारण सारे साधक गायब हो गए है। फलत मुझे अब आने वाले साधको के मार्ग-प्रदर्शनार्थ भोजन ग्रहण कर लेना चाहिए। यदि भगवान् चाहते तो क्या एक वर्ष के बदले दो वर्ष और तप साधना नही कर सकते थे ? पर, अन्य साधारण साधको के हित की दृष्टि से ही वे आहार के लिए चले*, क्योकि जनता महापुरुष का पदानुसरण करती है। गीता मे भी योगेश्वर कृष्ण के कहा है —

---

* गृह्णामि यदि नाहार, पुनरद्याऽप्यभिग्रहम्,
तनोमि तपसैव स्यात्, प्रशम कर्मणामिति।
तदा कच्छादय इव, निराहारतयाऽर्दिता,
भग्नव्रता भविष्यन्ति भविष्यन्तोऽपि साधव:।
एव विचिन्त्य चित्तेन, चिर प्रचलित प्रभु,
निर्दोषभिक्षामाकाड्क्षन् पुर गजपुर ययौ।

—पद्मानन्द महाकाव्य १३। २००-२०२

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जन ।
स यत्प्रमाण कुरुते लोकस्तदनुवर्त्तते ।।

अर्थात्—"श्रेष्ठ पुरुष जो आचरण करता है, जनता उसी को प्रमाण मान लेती है और उसी का अनुकरण करने लगती है।"

ग्रन्थो मे वर्णन आता है कि जिस तीर्थंकर ने अपने जीवन-काल मे अधिक से अधिक समय का जितना तप किया है, उसके अनुयायी साधक भी उतनी ही सीमा तक तप कर सकते हैं। भगवान् महावीर ने सबसे ज्यादा छह मास तक सुदीर्घ तप किया था, अत उनके शिष्य भी छह महीने तक का तप कर सकते है, उससे ज्यादा नही। भगवान् ऋषभदेव ने सब से बडा तप, अर्थात्–एक वर्ष तक का किया था। यदि एक वर्ष तक के तप की मर्यादा न होती तो आज वह 'वर्षी' तप कैसे प्रचलित होता? तनिक गहराई से विचार तो कीजिए—क्या, भगवान् महावीर सात महीने की तपस्या नही कर सकते थे? अवश्य कर सकते थे। पर, उन्होने सोचा-मै जितना ही आगे बढूँगा, मेरे शिष्य भी मेरा आग्रह-मूलक अनुकरण करेगे और वे व्यर्थ ही क्लेश मे पड जाएँगे। ऐसा सोचकर भगवान् महावीर ने छह महीने का तप किया।

इसी प्रकार भगवान् ऋषभदेव ने भी एक वर्ष का ही तप किया था। आहार के लिए भटकते नही रहे। यदि प्रति दिन आहार के लिए भटकते फिरते तो वह तप ही कैसे कहलाता? यह अन्तराय था या तप था? इस दृष्टि से, मै समझता हूँ, आपके मन का समाधान हो जाना चाहिए।

इतने विस्तृत विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि भगवान् ऋषभदेव ने खेती-वाडी आदि के जो भी उद्योग-धन्धे सिखलाए, वे सभी आर्य-कर्म थे, अनार्य-कर्म नही। उन्होने विवाह प्रथा तो चलाई पर वेश्यावृत्ति नही। खेती सिखाई, पर शिकार नही। इसके अतिरिक्त उन्होने जो कुछ भी सिखाया, वह सब प्रजा के हित के लिए ही था।

साराश मे यही कथन पर्याप्त समझता हूँ कि कोई भी अहिसावादी महापुरुष किसी भी परिस्थिति मे महारभ के कार्य की शिक्षा नही दे सकता। एक महापुरुष कहलाने वाला व्यक्ति यदि ऐसे कार्य की शिक्षा देता है तो अपने अनुयायियों के साथ वह भी नरक का राही बनेगा, क्योकि हजारो-लाखो व्यक्ति उसके अनुकरण मे तदनुरूप काम करते रहते है।

अस्तु, मै स्पष्ट रूप से चेतावनी देना चाहता हूँ कि व्यर्थ के कदाग्रह मे पडकर लोग भगवान् ऋषभदेव के उज्ज्वल चरित्र और महान् जीवन पर प्रकारान्तर से कीचड न उछाले। उन्हे महारभ का शिक्षक कहना, उनकी महानतम आसातना करना है। तीर्थङ्कर की आसातना करने से बढ कर दूसरा पाप-कर्म और क्या हो सकता है?

———
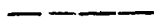
—: ६ :—

अहिंसा और कृषि

(प्रकीर्णक प्रश्न)

पिछले प्रकरणो मे जिस विषय की चर्चा की जा रही थी, और जिस विषय पर आपके साथ काफी विचार-विनिमय भी होता रहा है, उस विषय को लेकर यहाँ, और बाहर भी कुछ हलचल-सी दिखाई देती है। अत मन मे सोचने की कुछ गर्मी-सी पैदा हुई है। जब किसी भी शास्त्रीय विषय को लेकर, पक्ष या विपक्ष मे कोई चर्चा चल पडती है तो समझना चाहिए कुछ प्रतिक्रिया हो रही है। ऐसी चर्चा से और उत्तेजना से, यदि वह सही तरीके से हो, तो विचारो की जडता दूर होती है, विचारो मे गति आती है और ज्ञान की वृद्धि होती है।

कृषि के सम्बन्ध मे अब तक जो चर्चा की गई है उसे अब समाप्त करना चाहते है। यह जो नूतन प्रवचन या विवेचन है, वह व्याख्यान के सीधे तरीके पर नही होगा। आज मै उन छुटपुट प्रश्नो पर ही प्रकाश डालूँगा, जो अब तक की चर्चा करने से रह गए है। आप लोगो के दिमाग मे

भी जो प्रश्न आए हो, उन्हे आप नि सकोच भाव से व्यक्त कर सकते है, साक्षात् पूछ कर या पर्चे मे लिख कर आप उन्हे प्रकट कर सकते है । मै उन प्रश्नो पर भी चर्चा करूँगा । जिस किसी भी विचार को लेकर आपके मन मे शका रह गई हो, या कोई प्रश्न उलझा रह गया हो, उसे नि सकोच भाव से प्रकट कर देना चाहिए । किसी सकोच-वश यदि कोई शका अथवा भ्रम आपके मन और मस्तिष्क मे रह गया, तो वह नई उलझन पैदा करेगा ।

व्याख्यान का मतलब रिकार्ड की तरह लगातार बोलते जाना नही है कि आप कहे—ठहरिए, और मै बिना ठहरे बोलता ही चला जाऊँ । कम से कम मेरी स्थिति रिकार्ड जैसी नही है । मै बीच-बीच मे विचार भी करूँगा, नया प्रश्न सामने आने पर उसे सुनूँगा भी और उसका समाधान करने का भी प्रयत्न करूँगा ।

मेरे सामने आज एक प्रश्न उपस्थित किया गया है । यद्यपि वह एकदम नया नही है, उसके सम्बन्ध मे सामान्य रूप से चर्चा की जा चुकी है और मै अपना दृष्टिकोण या जैन-धर्म का दृष्टिकोण बतला भी चुका हूँ, फिर भी जब प्रश्न सामने आया है तो दुबारा उस पर चर्चा करना आवश्यक हो गया है ।

भगवान् ऋषभदेव ने कृषि तथा उद्योग-धन्धो की शिक्षा दी और विकट परिस्थिति मे उलझी हुई उस वक्त की सतप्त जनता को अपने हाथो अपना जीवन-निर्माण करने की कला सिखलाई । भगवान् ने उस समय जो कुछ सिखलाया, उसके लिए हम

आज गौरव का अनुभव करते है। जब ऐसे प्रसग पढते है तो आप और हम कलकित नही होते, अपितु गौरवान्वित ही होते है। जब कभी भी भारत के विद्वानो के सामने, चाहे वे राजनीतिक नेता रहे हो या सामाजिक नेता , इस प्रसग को छेडा है, तो उनके हृदय मे मैने जैन-धर्म के प्रति अगाध आदर और गौरव का भाव जागृत होते देखा है। विवेक और विचार की ज्योति चमकते देखी है। इस रूप मे मै कहता हूँ कि भगवान् ऋषभदेव का जीवन जैन-समाज को इतना गौरवशाली जीवन मिला है कि उसकी उद्घोषणा केवल वीस-तीस के सीमित दायरे मे ही नही करना चाहिए, अपितु अखिल विश्व मे घर-घर उस पवित्र वाणी को पहुँचाना चाहिए। जहाँ-जहाँ हमारी यह आवाज पहुँचेगी, हमे नीचा नही, ऊँचा ही दिखलाएगी। मै तो यहाँ तक मानता हूँ कि वह आपके गौरव को चार चाँद लगा देगी और उत्थान के उच्च शिखर पर प्रतिष्ठित कर देगी।

जो लोग मानव-जीवन का निर्माण करने और सुधारने की बात सोचते है, जब उन्हे जैन-धर्म की तरफ से यह प्रकाश मिलता है तो वे गद्गद् हो जाते है और मुक्त कठ से स्वीकार करते है कि जैन-धर्म ने समाज की रूढियो का उन्मूलन किया है, समाज को प्रगति के पथ पर प्रशस्त किया है, और भारत की महान् सेवाएँ की है।

जैन-धर्म गाँव की तलैया नही है। गाँव के बाहर की तलैया मे इधर-उधर से आकर गन्दा पानी जमा हो जाता है और फिर वह तलैया सडने लगती है। वह खुद सडती है

और अपनी सडाद से आस-पास के लोगो का सर्वनाश भी कर डालती है। हाँ, तो एक वह तलैया है, जिसे बस अवरुद्ध ही रहना है और निरन्तर सडते ही रहना है, कभी साफ निर्मल नही होना है। और दूसरी ओर गगा का वहता हुआ निर्मल पानी है। गगा जहाँ भी जाएगी, लोगो को सुख-सुविधा भेट करती जाएगी। उसे सडना नही है, वदबू नही फैलाना है, अपितु लोगो को सुखद जीवन ही देना है।

हाँ, तो जैन-धर्म गगा का वहता हुआ निर्मल प्रवाह है। यदि उसे चारो ओर से समेट कर, एकागी वनाकर एक सकुचित दायरे मे रोककर रखा जाएगा तो वह अवश्य सडेगा, फलत उसमे चमक एव स्वच्छता नही रह जाएगी। वह तो गगा के समान वहता हुआ पानी होना चाहिए और इतना स्वच्छ होना चाहिए कि जितना-जितना जनता के सामने ले जाया जाए, लोग प्रसन्न हो जाएँ और उसे इज्जत की निगाह से देखे। परन्तु ऐसा करते समय हम उसकी ठोस सचाइयो को अपने सामने रखे और उन्ही के वल पर उसे और अपने आपको आदर का पात्र वनाएँ।

भगवान् ऋषभदेव जैसा आदर्श जीवन यदि किसी दूसरे समाज के सामने होता तो धूम मच जाती और वह समाज उसके लिए गौरव का अनुभव करता। किन्तु वह आपको मिला है और उनको मिला है जो दुर्भाग्य से आज भी यह कहने को उतावले है कि भगवान् ऋषभदेव ने गृहस्थ दशा मे जो कुछ भी किया वह सव ससार का काम था। उन्होने कोई सत्कर्म नही किया। वे तो यहाँ तक कहने का दुस्साहस

करते है कि उन्होने गृहस्थ-दशा मे विवाह भी किया, राजा भी वने और ससार की समस्त क्रियाएँ भी की।

ऐसा कहने वाले घर में रखी हुई सुन्दर-सुन्दर वस्तुओ की ओर न देखकर गदी मोरियाँ ही तलाश करते है। यह कहना कितना अभद्र है कि भगवान् ने चूँकि गृहस्थवास मे ही यह कहा है, साधु होकर नही, इसलिए वह पाप था और गुनाह था। उनमे जो अनगिनत बुराइयाँ उस समय मौजूद थी, उनमे से यह भी एक थी। यह तो ससार का मार्ग है, जो भगवान् ने वता दिया है।

क्या यह भाषा जैन-धर्म की भाषा है? श्वेताम्बर, दिगम्बर एव स्थानकवासियो की भाषा है या किसी पडौसी समाज की भाषा है? यह जो कहने का ढग है वह आपका है या और किसी का है? क्या यह प्राचीन जैन-धर्म की सास्कृतिक भाषा है, या कुछ वर्षो से जो नई परम्परा चल पडी है, उसके वोलने की आधुनिक भाषा है?

खोज करने पर मालूम हुआ कि यह उन नए विचारको की भाषा है, जो कहते है कि यह तो भगवान् का जीतकल्प था, करना ही पडता। अव प्रश्न सामने आता है कि उन्होने जो वर्षी दान दिया, वह किस अवस्था मे दिया? उनका उत्तर है कि गृहस्थावस्था मे ही दिया और वह भी दिया क्या, देना ही पडा! मै 'पडा' शब्द को जैन-धर्म की ओर से न वोलकर उन नए विचारको की तरफ से वोल रहा हूँ, जो यह कहते है कि 'करना पडा' और 'वह उनका जीतकल्प था'। जव वे ऐसी असगत भाषा का प्रयोग करते है तो मै भी उनकी

ओर से मात्र निर्देशन ही कर रहा हूँ ।

वे तो ऐसा कहते ही है, पर क्या आप भी ऐसा ही कहते है ? आप तो तीर्थङ्करो के द्वारा दिए हुए वर्षी दान की महिमा गाते है, उसके प्रति गौरव का अनुभव करते है और मानते है कि भगवान् लगातार वर्ष भर दान देते रहे और इस रूप मे उन्होने जनता की बडी भारी सेवा की है। परन्तु वे उस दान को धर्म नही कहते। उनका कहना है, गृहस्थी मे रहते जैसे विवाह किया, राजा बने, वैसे ही दान भी दिया। विवाह करना धर्म नही है, राजा बनना धर्म नहीं है, उसी प्रकार दान देना भी धर्म नही है।

अतीत की कुछ बातो को आप प्राय सुनते रहते है और ठीक ही सुनते है कि भगवान् महावीर ने अपने माता-पिता की कितनी बडी सेवा की ? पर इसके लिए भी उनकी ओर से उसी भाषा का प्रयोग किया जाता है कि वे गृहस्थवास मे थे, अत सेवा करनी ही पडी। साथ ही यह भी कहते है कि माता-पिता की सेवा मे धर्म है, तो साधु बनकर भी क्यो नही की ? इससे सिद्ध है कि सेवा करना ससार का कार्य है और उससे पाप का ही बन्ध होता है।

यदि आप भी इसी भाषा का प्रयोग करते है, अर्थात् तीर्थङ्करो के वर्षी दान मे और माता-पिता की सेवा मे यदि आप भी एकान्त पाप मानते है तो यही कहना पडेगा कि फिर उनमे और आप मे क्या अन्तर है ? बस फिर तो झगडा सिर्फ ऊपर के शब्दो पर है किन्तु अन्दर मे बात एक ही है। आगे वे यह भी कहते है कि यदि एक वर्ष तक दान दिया

तो बारह वर्ष तक घोर उपसर्गों और परीषहो के रूप मे उसका कटुक कुफल भी भोगना पडा। इस प्रकार भगवान् महावीर को जो विभिन्न प्रकार के कष्ट सहने पडे, वे सब दान के फल उन्होने बतला दिए है। पर आपका मन्तव्य तो इससे सर्वथा भिन्न है न ?

जीव-रक्षा के सम्बन्ध मे भी उनका यही अभिमत है कि भगवान् महावीर ने जब गोशालक को बचाया, तब वे छद्मस्थ थे, केवल ज्ञानी होने पर नही बचाया। अत मरते जीव को बचाना भी एकान्त पाप है।

इसी प्रकार आप भी भूल से कहते है कि भगवान् ऋषभदेव ने कृषि आदि कलाओ का जो उपदेश दिया, वह गृहस्थवास मे ही दिया था, केवल-ज्ञानी होकर नही, अतएव कृषि मे महारभ है—घोर पाप है।

उपर्युक्त विचार विषमताओ का अध्ययन करने पर यही उचित जान पडता है कि इस सम्बन्ध मे साफ-साफ निर्णय हो जाना चाहिए। मेरे और दूसरे साथी विचारको के मन मे किसी प्रकार का सन्देह नही है। परन्तु आप एक भ्रान्त विचार शृंखला मे बद्ध है। छद्मस्थ-अवस्था मे किये हुए तीर्थङ्करो के कर्त्तव्यो को—दान को, माता-पिता की सेवा को और जीव-रक्षा आदि सत्कार्यो को—आप पाप नही मानते है। परन्तु जब कृषि का प्रश्न उपस्थित होता है तो तुरन्त पाप मानने वालो की पंक्ति मे खडे हो जाते है। क्या, यही निष्पक्ष निर्णय की स्थिति है ? नही है, आपको सही निर्णय पर आना चाहिए।

यदि तीर्थङ्करो ने एक वर्ष तक दान दिया तो बडा भारी पुण्य किया, सत्कर्म किया, किन्तु समस्त आगम-साहित्य मे एक भी ऐसा शब्द नही है कि उन्होने किस उद्देश्य से दिया। कोई विशेष स्पष्टीकरण भी नही है कि उक्त दान के पीछे उनका क्या लक्ष्य था, कौन-सा सकल्प था और क्या भावनाएँ थी ? अस्तु, हम आगम और आगमेतर साहित्य के विश्लेषण द्वारा जाँचते है कि उक्त वर्षी-दान की पृष्ठ-भूमि मे भगवान् की सद्भावना ही थी, दुर्भावना नही। और जब हम कहते है कि भगवान् के दान के पीछे जनता के हित की भावना थी, तो यह जैन-धर्म की प्रकृति के अनु-रूप हमारी ओर से किया हुआ प्रामाणिक अनुमान है, परन्तु कृषि के सम्बन्ध मे तो आगम मे स्पष्ट ही उल्लेख किया गया है।

इस सम्बन्ध मे जम्बूद्वीप-प्रज्ञप्ति का पाठ भी आपके सामने पेश कर चुका हूँ और वह पाठ है—'पयाहियाए उव-दिसई।' अर्थात्—भगवान् ने प्रजा के हित के लिए, सुख-सुविधा के लिए, कृषि आदि का उपदेश दिया था। फिर भी आप कृषि को महापाप मे गिनते है ? ऐसी स्थिति मे शास्त्र की आवाज कुछ और है और आपकी आवाज कुछ दूसरे ही ढग की है।

अभिप्राय यही है कि तीर्थंकरदत्त दान के सम्बन्ध मे आगम मे कोई ऐसा स्पष्टीकरण नही है कि—वह किस लिए दिया गया ? फिर भी उसे आप सत्कर्म या धर्म समझते है। किन्तु कृषि के सम्बन्ध मे, जबकि प्रामाणिक स्पष्टीकरण

मौजूद है, तव भी आप उसे स्वीकार करने को तैयार नही होते । यदि आपका निर्णय यही है कि तीर्थकरो ने छद्मस्थ दशा मे जो कुछ भी किया है, वह सव पाप था, अधर्म था और प्रजा के हित के लिए की हुई उनकी प्रवृत्ति भी पाप-मय थी, तव तो आपको निश्चित रूप से दूसरी कतार मे खडा हो जाना चाहिए । वामपक्ष वालो के लिए इसके सिवाय और कोई मार्ग नही है ।

परन्तु आपका यह निर्णय, निष्पक्ष निर्णय नही कहलाएगा । ऐसा मनमाना निर्णय कर लेना तीर्थकर भगवान् की पवित्र प्रेरणा पर प्रतिक्रियावादी प्रतिवन्ध लगाना है और उनकी विशुद्ध ज्ञानात्मा को अपमानित करना है । विचार विषमता और सकीर्णताओ से अपने मन एव मस्तिष्क को शुद्ध वनाकर आपको आस्तिक भाव से यह जान लेना चाहिए कि तीर्थकर की आत्मा अनेक जन्मो के सचित पवित्र सस्कारो को लेकर ही अवतीर्ण होती है , अस्तु उनके सम्वन्ध मे यह समझ लेना कि जनता के अहित के लिए वे प्रवृत्ति करते है या जगत् को पाप सिखाने के लिए कोई कुत्सित कार्य करते है, भीषण अज्ञान है । यह तीर्थङ्कर का अवर्णवाद है ।

गृहस्थावस्था मे उनके राजा वनने को एकान्त पाप वतलाना भी गलत है । विवेक वुद्धि से सोचना यह चाहिए कि यदि वे राजा वने तो किस उद्देश्य से वने ? दुनिया का आनन्द लूटने के लिए, भोग-वासना मे लिप्त होने के लिए, और सिहासन के राजसी सुख का आस्वादन करने के लिए

राजा वने ? अथवा प्रजा मे फैली हुई अव्यवस्था को दूर करने के लिए, नीति-मर्यादा को कायम करने के लिए, और प्रजा मे फैली हुई कुरीतियो का उन्मूलन करने के लिए ही राजा वने ?※

आचार्य हेमचन्द्र ने कहा है कि—जैसे वडी मछली छोटी मछलियो को निगल जाती है, उसी प्रकार कभी वडे आदमी भी अपनी स्वार्थ-क्षुधा मे छोटो को निगल जाते है। प्रश्न आता है, क्या तीर्थङ्कर भी मनुष्य समाज की इस विषमता को दूर करने के लिए राजा नही वने ? राज-सिहासन को स्वीकार करने मे जो धार्मिक दृष्टिकोण है, उसे तो आप ध्यान मे नही लाते और अपनी मनो-भावनाओ के अनुरूप यह कल्पना कर वैठते है कि वे राजा वने तो केवल भोग-विलास की परिपूर्ति लिए। उन लोकोत्तर महापुरुपो का राजदड ग्रहण करना, वर्त्तमान युग के राजा महाराजाओ से

※ शिष्टानुग्रहाय, दुष्टनिग्रहाय, धर्मस्थितिसग्रहाय च, ते च राज्य-स्थितिश्रिया सम्यक् प्रवर्तमाना क्रमेण परेपा महापुरुपमार्गोपदेशकनया चौर्यादिव्यसननिवर्तनतो नारकातिर्येर्यानिवारकतया ऐहिकामुष्मिकमुख-साधकतया च प्रशस्ता एवेति। महापुरुषप्रवृत्तिरपि सर्वत्र परार्थत्वव्यासा वहुगुणाल्प-दोपकार्यकारणविचारणापूर्विकैवेति । स्था-नाङ्गपञ्चमाध्ययनेऽपि—'धम्म च ण चरमाणस्स पच निस्सा ठाणा पण्णत्ता, तजहा—छक्काया १ गणे २ राया ३ गाहावई ४ सरीर ५ मित्याद्यालापकवृत्तो राज्ञो निश्रामाश्रित्य राजा नरपतिस्तस्य धर्मसहायकत्व दुष्टेभ्य साधुरक्षणादित्युक्तमस्तीति परम-करुणापरोतचेतस परमधर्मप्रवर्तकस्य ज्ञानत्रितययुक्तस्य भगवतो राजधर्मप्रवर्तकत्वे न क्वापि अनौचिती चेतसि चिन्तनीया। जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति टीका, दूसरा वक्षस्कार।

सर्वथा भिन्न था, अर्थात्—वे प्रजा के शोषक नही, पोषक थे ! शासक नही, सेवक थे !! उन्होने सिंहासन को स्वीकार करके प्रजा मे होने वाले अत्याचार और अन्याय का प्रतिकार किया, बडो के द्वारा होने वाले छोटे आदमियो के अनैतिक शोषण का अन्त किया और जनता की अनेक प्रकार से सेवाएँ की । इन सब बातो पर क्यो धूल फेंकने का दुस्साहस करते है ?

इस प्रकार अपने दृष्टिकोण को साफ करना होगा। भगवान् ने जब दान दिया, तब उनमे तीन ज्ञान थे, चौथा ज्ञान नही था । और जब कृषि का उपदेश दिया, तब भी तीन ही ज्ञान थे । इन पवित्र ज्ञानो के होते हुए वे कृषि या दान के रूप मे क्रोध, मान, माया या लोभ के वश प्रवृत्ति नही कर सकते थे । उन्होने इस ओर जो प्रवृत्ति की है, उसमें उनकी अपनी निजी वासना-पूर्ति का कोई लक्ष्य नही था, केवल प्रजा के कल्याण की ही पुण्यमयी भावना थी । ऐसी स्थिति मे जो लोग उनके दान को एकान्त पाप और कृषि को महारंभ कहते है, उन्हे गहरा विचार करना होगा ।

इस सम्बन्ध मे एक बात और भी ध्यान मे रखनी होगी। जो कार्य महारंभ या महापाप का होता है, उसका उपदेश करने वाला भी महारंभी और महापापी होता है । एक मांस खाने वाला है, और दूसरा मांस खाने का उपदेश देने वाला है । तो खाने वाला ही नही, उपदेश देने वाला भी महापापी है । अत जब खेती करने वाला महापापी है, तो उसका उपदेश देने वाला भी महापापी क्यो नही होगा ? बल्कि स्वयं मांस खाने की तो कोई सीमा हो सकती है, पर उपदेश की

या कर्त्तव्य का उपदेश देना, पति-पत्नी और अध्यापक के कर्त्तव्य का निर्देशन करना, यदि ये सब सासारिक कार्य है तो फिर इन सब बातो से भी साधु को क्या मतलब है ? फिर तो आप साधु को ही दान दिया करो, भले ही आपके माता-पिता भूखे मरते रहे और सडते रहे। साधु को ससार से क्या लेना है और क्या देना है ? जब ससार से कोई सम्बन्ध ही नही है, तो साधु इस रूप मे क्यो उपदेश देता है ? माता, पिता, भाई-बहन आदि की सेवा और स्वधर्मी की वत्सलता के सम्बन्ध मे क्यो कहता है ? परन्तु बात ऐसी नही है। साधु की एक मर्यादा है और वह सुनिश्चित है। वह विवेक को शिक्षा देता है कि अमुक कार्य क्या है, कैसा है ? कर्त्तव्य है या अकर्त्तव्य है ? साधु किसी व्यावहारिक काम को करने की साक्षात् प्रेरणा नही देता, परन्तु उस काम को करने का सुफल एव कुफल बताता है, क्योकि यह उसका कर्त्तव्य है।

साधु के सामने प्रश्न रखा जा सकता है कि मास खाना नैतिक है, अथवा फलाहार से गुजारा करना नैतिक है ? दोनो मे से किस मे ज्यादा, और किस मे कम पाप है ? यह प्रश्न उपस्थित होने पर, क्या साधु को चुप्पी साध कर बैठ रहना चाहिए ? कोई पूछता है—छना पानी पीने मे ज्यादा पाप है, या अनछना पानी पीने मे ? आप ही बताइए, साधु उक्त प्रश्न का क्या उत्तर दे ? वह मौन रहे क्या ? नही, ऐसा नही हो सकता। जिज्ञासु का स्पष्टत सही समाधान करना ही होगा।

हाँ, तो विवेक की व्यापकता को और जैन-धर्म की

वास्तविकता को तो बताना ही पडेगा कि अमुक कार्य मे ज्यादा पाप है और अमुक मे कम। पाप मे जितनी-जितनी कमी आएगी, उतना-उतना ही धर्म का अग वढता जाएगा। प्रश्न होने पर साधु को यह भी बतलाना होगा कि मासाहार मे ज्यादा पाप है और फलाहार मे कम। यह जो पाप की न्यूनता है, इस अर्थ मे वह क्या है—पाप या धर्म।

कल्पना कीजिए—किसी आदमी को १०४ डिग्री ज्वर चढा हुआ था। औपधि से या स्वभावत दूसरे दिन वह १०० डिग्री रह गया। किसी ने उससे पूछा—क्या हाल है ? तव वह कहता है कि आराम है। आप कहेगे, जव सौ डिग्री ताप है तो आराम कहाँ है ? हाँ, जितना ज्वर है उतना तो है ही, उससे इन्कार नही है, परन्तु जितनी कमी हुई है, उतना तो आराम ही हुआ, या नही ?

दुर्भाग्य से जो पाप है, उसकी तरफ तो हमारी दृष्टि जाती है, किन्तु जितना पाप कम होता जाता है, उतने ही अशो मे पाप से वचाव भी होता है, इस कमी की ओर हमारी दृष्टि ही नही है। एक आदमी मासाहार से फलाहार पर आजाता है तो उसमे भी पाप है, पर वह अल्प है। सिद्धान्तत माँसाहार नरक का द्वार है और फलाहार नरक का द्वार नही है। जव वह नरक का द्वार नही है तो उसमे उतने ही अशो मे पवित्रता आ जाती है, जैसे—१०४ से १०० डिग्री ज्वर रहने पर कथित रोगी को आराम होता है। इस तथ्य को स्वीकार करने मे हिचक क्यो होती है ?

यदि साधु को दुनिया से कोई मतलव नही, तो मुझे

व्याख्यान देने की क्या आवश्यकता है ? मै व्याख्यान नही दूंगा तो आप घर से यहाँ तक आएँगे भी नही, फलत आने-जाने का आरम्भ भी नही होगा। जब मै व्याख्यान देता हूँ तभी तो आप आते है। फिर तो यह आरम्भ मेरे व्याख्यान से ही सम्बन्धित हुआ न ? जब आप साधु-दर्शन को जाते है और प्रवचन सुनते है तो इस विषय मे क्या मानते है ? साधु के पास आने मे हिसा हुई है, किन्तु जो प्रवचन सुना है, उपदेश सुना है, उससे तो धर्म हुआ। उस धर्म का भी कोई अर्थ है या नही ?

भगवान् महावीर के दर्शन करने के लिए राजा श्रेणिक कितने समारोह के साथ गया था ? ऐसा करने मे यदि एक अश मे पाप भी हुआ, तो दूसरी ओर भगवान् के दर्शन करने के फलस्वरूप अपूर्व धर्म भी हुआ, यह भी तो बताया गया है। इसे क्यो भूल जाते हैं ?

मैने आप से शास्त्र स्वध्याय के लिए कहा और आप स्वाध्याय करने लगे। इस सत्प्रवृत्ति मे भी मन, वचन और काय की चचलता एव चपलता होती ही है न ? और जहाँ चचलता है, वहाँ आस्रव है, उस अश मे सवर नही है। यदि योगो का सर्वथा निरोध हो जाए तो चौदहवे गुणस्थान की भूमिका प्राप्त हो जाए, और तब तो मोक्ष प्राप्ति मे देर न लगे। ऐसी स्थिति मे विचार करना ही होगा कि शास्त्र स्वाध्याय करते समय जो योग है, वह शुभ योग है या अशुभ योग ? इसी तरह भगवान् ऋषभदेव ने जो कुछ भी सिखाया, वह शुभ योग मे सिखाया या अशुभ योग मे ? यदि वे अशुभ योग

मे सिखाते तो क्रोध, मान माया और लोभ की दुष्प्रवृत्ति होनी चाहिए थी। पर, शास्त्र तो यह वताता है कि उन्होने प्रजा के हित के लिए ही शिक्षा दी थी। ऐसी स्थिति मे शुभ योग आ गया।

जव आप शास्त्र-श्रवण करेगे या भगवान् की स्तुति करेगे, तव भी आस्रव का होना अनिवार्य है, परन्तु वह होगा शुभ अग मे ही। साथ ही यह भी ध्यान मे रखना होगा कि ऐसा करते समय धर्म का अश कितना है ?

आशय यही है कि जव कोई भी क्रिया की जाए, या किसी भी क्रिया के सम्वन्ध मे कहा जाए, तो उसके दोनो ही पहलुओ पर ध्यान देना चाहिए।

साधु जव कृषि के सम्बन्ध मे कुछ कहते है तो वे कृषि का समर्थन या अनुमोदन नही करते है। वे तो केवल वस्तु-स्वरूप का ही विवेचन करते है। वे यही वतलाते है कि खेती अल्पारम्भ है, महारम्भ नही है। जानवरो को मार कर जीवन-निर्वाह करना महारभ है और खेती करना उसकी अपेक्षा अल्पारम्भ है। श्रावक के लिए महारम्भ त्याज्य है और अल्पारम्भ का त्याग उसकी भूमिका मे सर्वथा अनिवार्य नही है। सभी जगह साधुओ की भाषा का ऐसा ही अर्थ होता है। हम व्याख्यान श्रवण का तो समर्थन करते है, किन्तु तदर्थ आने-जाने का समर्थन नही करते।

एक मनुष्य तीर्थकर के दर्शन के लिए जा रहा है और दूसरा वेश्या के यहाँ जा रहा है, तो कहाँ शुभ योग है और कहाँ अशुभ योग ? जाने की दृष्टि से तो दोनो ही जा

रहे है, किन्तु एक के जाने मे शुभ योग है और दूसरे के जाने मे अशुभ योग है। हाँ, तो जाना-आना मुख्य नही है, शुभ योग या अशुभ योग ही मुख्य है। अत इस प्रकार प्रवृत्ति करना, या न करना मुख्य नही है, किन्तु उस प्रवृत्ति के पीछे यदि शुभ योग है तो वह शुभास्रव है, पुण्य है, और प्रवृत्ति न करने पर भी यदि योग अशुभ है तो वहाँ अशुभास्रव है, पाप-बंध है।

देहातो मे अग्रवाल, ओसवाल, पोरवाड, जाट आदि अनेक जातियाँ जैन है। उनमे बहुत से व्रतधारी श्रावक भी हैं, और वे खेती का व्यवसाय करते है। अब आप उनको श्रावक कहना चाहेगे या नही ? हमारे सामने आज मुख्य प्रश्न एक ही है, और वह यह कि---क्या श्रावकत्व और खेती का परस्पर ऐसा सम्बन्ध है कि जहाँ खेती है, वहाँ श्रावकत्व नही रह सकता ? और जहाँ श्रावकत्व है, वहाँ खेती नही रह सकती ? यदि ऐसा ही है तो एक बात अवश्य आएगी कि उन जैन परम्पराओ के अनुयायियो को स्पष्ट रूप से कह देना होगा कि आपको इस भूमिका मे नही रहना चाहिए, क्योंकि खेती करना महारभ है। और जहाँ महारम्भ विद्यमान है वहाँ श्रावकत्व स्थिर नही रह सकता। अस्तु, मै उन साथियो से साफ-साफ कहूँगा कि वे दुनिया को धोखे मे क्यो रख रहे है ?

प्रतिवाद मे वे यह कह सकते है कि हम तो मर्यादा करा देते है। किन्तु उपासकदशांग सूत्र मे स्पष्ट कहा गया है कि—'पन्द्रह कर्मादानो मे मर्यादा नही है --

"पण्णरसकम्मादाणाइ जाणियव्वाइ, न समायरियव्वाइ ।"

अर्थात्—'पन्द्रह कर्मादान जानने योग्य अवश्य है, किन्तु आचरण करने योग्य नही है ।"

वस्तुत महारभ एव कर्मादान मे मर्यादा नही होती । और यदि खेती भी कर्मादान मे है, महारम्भ मे है, तो उसकी भी मर्यादा नही हो सकती । भगवती सूत्र के अनुसार पन्द्रह कर्मादानो का त्याग तीन करण से किया जाता है* । उनमे आशिक त्याग या मर्यादा की गुंजाइश ही कहाँ है ? अतएव जहाँ कर्मादान होगा, वहाँ श्रावकत्व स्थिर नही रह सकता । तब आप उन हजारो खेती करने वाले भाइयो से कह दीजिए कि आप श्रावक नही है ।

इस प्रकार खेती-वाडी को महारम्भ भी कहना, कर्मादान भी समझना और फिर उसके साथ अणुव्रती श्रावकत्व भी कायम रखना, कदापि सम्भव नही है । यदि कर्मादान की कोई सम्भव मर्यादा हो सकती है तब तो कसाईखाने चलाने की भी मर्यादा निर्धारित की जा सकती है ? एक कसाई किसी जैन-साधु के पास आता है और कहता है कि मै सौ कसाईखाने चला रहा हूँ । उन्हे ही चलाऊँगा, मर्यादा निर्धारित करा दीजिए । तो क्या वह कसाई अणुव्रतधारी श्रावक की कोटि मे आ सकेगा ? जिस प्रकार कसाईखाने की मर्यादा करने पर भी श्रावकत्व नही आ सकता, क्योकि कसाईखाना चलाना महारभ है, उसी प्रकार खेती करना भी यदि महारम्भ है, कर्मादान है, तो उसकी मर्यादा करने पर भी श्रावकत्व नही आना

* देखिए, भगवती सूत्र ८, ५

चाहिए। जबकि खेती करने वाले श्रावक होते है तो फिर खेती को कर्मादान और महारभ किस प्रकार कहा जा सकता है ?

इस कथन से आप यह भी भली-भाँति समझ सकते है कि जैन-साधु कृषि के सम्बन्ध मे क्या कहते है ? वे कृषि का समर्थन नही करते, किन्तु इस बात का समर्थन करते है कि खेती की गिनती कर्मादानो मे नही है, अत जो खेती करता है वह श्रावक नही रह सकता, यह धारणा बिल्कुल गलत और निराधार है।

'फोडीकम्मे' नामक कर्मादान का आशय क्या है ? यह पहले ही स्पष्ट किया जा चुका है। इस विषय मे एक भाई ने प्रश्न किया है—कोई मनुष्य स्वय खेती करता है और अपने खेत मे कुँआ भी खुदवाता है। कुँआ खुदवाने के लिए उसे सुरग लगवानी पडती है। तो यह सुरग लगवाना क्या 'फोडीकम्मे' है ? इसका उत्तर यह है कि—नही ! उसका सुरग लगवाना 'फोडीकम्मे' नही है। वह खेती की सिचाई के लिए या जनता के कल्याणार्थ पानी उपलब्ध करने के लिए कुँआ बनवाता है। उसने व्यावसायिक हित के लिए उसका उपयोग नही किया है। और कर्मादान का मतलब है—व्यवसाय करना। जो सुरग लगाने का धन्धा करता है, वह 'फोडीकम्मे' नामक कर्मादान का सेवन करता है। और जो अपनी आवश्य-कता-पूर्ति के लिए कार्य करता है वह कर्मादान का सेवन नही करता। बहिने भोजन बनाती है और जली हुई लकडी के कोयले बनाकर रख लेती है तो क्या उसे 'इगालकम्मे' कर्मा-

दान कह सकेंगे ? नहीं, वह 'इंगालकम्मे' नहीं है। कोयला बना-बनाकर बेचना और कोयले बनाने का धन्धा करना, 'इंगाल-कम्मे' अवश्य है।

इसी प्रकार सुरंगे लगा-लगाकर विस्फोट करने का व्यापार करना, फोडीकम्मे कर्मादान है। अपनी, या जनता की आवश्यकता पूर्ति के लिए कुँआ खुदवाना कर्मादान नहीं है।

एक बार प्रश्न किया गया था कि नन्दन मणियार ने एक बावडी बनवाई तो वह मेंढक बना। सामान्यत इसका आशय तो यही निकला कि जो बावडी बनवाएगा, वह मेंढक होगा ?

कहीं-कहीं दूर-दूर तक पानी नहीं मिलता और लोग पानी के लिए बडी तकलीफ पाते है। अत मरुधर प्रदेश मे प्राय ऐसा देखा गया है कि लोग अपनी गाढी कमाई का पैसा, कुँआ वगैरह खुदवा कर, जनता की सुख-सुविधा मे लगाते है। उन्हे उससे कोई स्वार्थ नहीं साधना होता है। यह भी वे नहीं जानते कि जहाँ जलाशय बनवाया है, वहाँ वे जीवन मे कभी आएँगे भी या नहीं ? तो आप उन सबको यह सूचना दे दीजिए कि तुम लोगो ने जो जलाशय बनवाए है, उसके प्रतिफल मे तुम सब अपने-अपने जलाशयो मे मेंढक बनोगे !

हिसार की तरफ मैने देखा कि वहाँ कुँओ की बहुत कमी है। गाँव के बाहर तलैया होती है। सब लोग उसी का पानी पीते हैं। उसमे मलेरिया के असख्य कीटाणु पैदा हो जाते हैं पानी सड जाता है और लोग वही सड़ा पानी पीकर

रोग के शिकार होते है। वहाँ के गाँवो की यह दुर्दशा देखकर कुछ लोगो ने सोचा—तलैया का सडा पानी पीना, एक प्रकार से जहर ही पीना है। यह जहर समूचे गाँव के स्वास्थ्य को बुरी तरह बर्बाद कर रहा है। ऐसा सोचकर उन्होने एक कुँआ बना लिया और तब मलेरिया का जोर कम हो सका। तो क्या, वे कुँआ बनवाने वाले अगले जन्म मे मेढक होगे ?

यदि ऐसा नही है तो नन्दन मणियार क्यो मेढक हुआ ? वास्तव मे बात यह है कि नन्दन बावडी बनवाने से मेढक नही हुआ। यदि ऐसा होता तो वह किसी दूसरी बावडी मे मेढक के रूप मे उत्पन्न हो सकता था। सिद्धान्त तो यह है कि उसे अपनी बावडी के प्रति ममता उत्पन्न हो गई थी और मृत्यु की अन्तिम घडी तक उसमे उसकी आसक्ति बनी रही थी। जब बावडी मे उसकी ममता और आसक्ति थी तो उसे उसमे जाना ही पडा। उसका धर्म उसे बावडी मे मेढक बनाने के लिए नही ले गया, बल्कि उसकी आसक्ति और ममता ने ही उसे बावडी मे घसीटा और मेढक बनाया।

शास्त्रकार, इसीलिए तो कहते है कि जो भी सत्कर्म करना हो, उसे यथा शीघ्र कर लो, किन्तु उसके फल मे आसक्ति मत रखो। यह बावडी मेरी है, इसका पानी मेरे अतिरिक्त दूसरे क्यो पीएँ ? इस पर पैर रखने का भी दूसरो को क्या अधिकार है ? हम जिसे चाहे उसे ही पानी लेने देगे और जिसे नही चाहे उसे नही लेने देगे ! इस प्रकार की क्षुद्र ममता ही मेढक बनाने वाली है। ज्ञातासूत्र या कोई दूसरा सूत्र उठाकर देखते है तो उसमे एक ही बात पाते है

कि—"मनुष्य तू सत्कर्म कर! पर ममता और आसक्ति मत रख। नन्दन मणियार को कुँए ने मेढक नही बनाया, उसके सत्कर्म ने भी मेढक नही बनाया। यदि ऐसा होता तो चक्रवर्ती सम्राटो ने देश के हित के लिए जलाशय निर्माण आदि अनेक काम किये है तो उन सबको भी मेढक और मछली बनना चाहिए था! परन्तु वे तो मेढक नही बने। इससे प्रमाणित होता है कि मेढक बनाने वाला कारण कुछ और ही है, सत्कर्म नही।

इस प्रकरण मे कृषि के सम्बन्ध मे मैने कतिपय प्रश्नो पर चर्चा की है। इससे पहले भी मै काफी कह चुका हूँ। जो कुछ कहा गया है, उस पर निष्पक्ष बुद्धि से, वास्तविकता को समझने की विशुद्ध भावना से विचार कीजिए। आपका भ्रम दूर होगा और आप सत्य के सुनिश्चित मार्ग पर उत्तरोत्तर अग्रसर होते जाएँगे।

—: ७ :—

एक प्रश्न

जीवन-निर्वाह के लिए व्यवसाय के रूप मे मनुष्य जब प्रयत्न करता है तो वह चाहे जितनी यतना करे, फिर भी हिसा तो होती ही है। वह हिसा, केवल इसीलिए कि जीवन के लिए वह अनिवार्य है, अहिसा नही बन सकती। फिर भी गृहस्थ श्रावक के लिए हिसा और अहिसा की एक मर्यादा है। यहाँ हमे यही देखना है कि कौन-सी हिसा श्रावक की भूमिका मे परिहार्य है और कौन-सी हिसा अपरिहार्य है ? कौन-सी हिसा श्रावक की मर्यादा मे है, और कौन-सी हिसा ऐसी है, जो श्रावक को अनिवार्य रूप से त्याग देना ही सर्वथा वाछनीय है ?

आखिर, जीवन मे यह विचार करना आवश्यक है कि कौन-सी मर्यादा का पालन करते हुए श्रावक, श्रावक की भूमिका मे रह सकता है ? यदि जीवन-व्यापार चला रहे है तो उसमे कहाँ तक न्याय और मर्यादा रहती है ? कहाँ तक औचित्य की रक्षा हो रही है ?

पन्द्रह कर्मादान सकल्पजा हिसा मे नही, औद्योगिक हिसा मे ही है, परन्तु जो औद्योगिक हिसा, मानव को सकल्पजा हिसा

की ओर प्रेरित करती हो, वह कहाँ तक मर्यादानुकूल है ? वह श्रावक की भूमिका मे यथावसर करने योग्य है या नही ? इस प्रश्न पर विचार कर लेना अति आवश्यक है ।

शास्त्रकारो ने इस विषय पर गहरा चिन्तन और मनन किया है । तीर्थङ्करो तथा आचार्यो ने जनता की मर्यादा को ध्यान मे रखकर जो प्रवचन किया है, वह आज भी हमारे लिए पथ-प्रदर्शक के रूप मे प्रकाश-स्तम्भ है ।

सच पूछो तो हम, आज के प्रगतिवादी वैज्ञानिक युग मे भी अन्धे जैसे है ! अन्धा जब चलता है तो कही भी ठोकर खाकर गिर सकता है । वह गड्ढे मे गिर सकता है, पानी मे डूब सकता है और दीवार से भी टकरा सकता है । किन्तु यदि उसके हाथ मे लाठी दे दी जाए तो समझ लीजिए कि आपने बहुत बडा पुण्य और परोपकार कर लिया । उस लाठी के सहारे वह मार्ग को टटोल कर चलता है और उसे गड्ढे का, दीवार का और पानी का पता सहज ही लग जाता है । जब दीवार आएगी तो पहले लाठी टकराएगी और वह बच जाएगा ।

इस प्रकार जो बात आप अन्धे के विषय मे सोचते है, वही बात हम लोगो के विषय मे भी है । वस्तुत धर्म-शास्त्र हमारी लाठी है । जैसे अन्धा सीधा नही देख सकता और लाठी के द्वारा ही वह देखता है, उसी प्रकार हम लोग भी केवल अपनी बुद्धि से सीधे नही देख सकते, शास्त्रो के सत् उपदेश द्वारा ही अपना मार्ग देखते है ।

जिस प्रकार लाठी अन्धे का अवलम्बन है, उसी प्रकार

धर्म-शास्त्र हमारा अवलम्बन है। अतएव हम जो कुछ भी कहे और समझे, वह शास्त्र के आधार पर और शास्त्र की मर्यादा के अन्तर्गत ही होना चाहिए। जहाँ शास्त्र स्वय कोई स्पष्ट मार्ग का निर्देश न करता हो, वहाँ उसके प्रकाश मे अपने विशुद्ध विवेक का, अपनी नैसर्गिक बुद्धि का उपयोग किया जाना चाहिए। परन्तु इस उपयोग मे हमारी विचार परम्परा शास्त्रो से सर्वथा अलग न होने पाए। आपका क्या विचार है, मेरा क्या विचार है, या अमुक व्यक्ति का क्या अभिमत है, शास्त्रो के समक्ष इसका कोई मूल्य नही है। अतएव शास्त्र हमे जो प्रकाश दे रहे है, उसी प्रकाश मे हमे देखना है कि जीवन-व्यवहार मे कहाँ महा-हिसा है और कहाँ अल्प-हिसा है ? हमारी कौन-सी प्रवृत्ति महारभ मे परिगणित होने योग्य है और कौन-सी प्रवृत्ति अल्पारभ मे गिनी जा सकती है ?

शास्त्रो मे महारभ को नरक का द्वार बतलाया है। अस्तु, श्रावक को यह सोचना पडेगा कि जो कार्य मै कर रहा हूँ, क्या वह महारभ है, शास्त्रो की मान्यता मे नरक का द्वार है, अथवा अल्पारभ है और नरक से अलग करने वाला है ?

जीवन मे हिसा तो अनिवार्य है। उससे पूरी तरह बचा नही जा सकता। यदि इस सत्य को कोई अस्वीकार करता है तो उसका कोई तर्क माना नही जा सकता। जीवन-सघर्ष मे खेती आदि जो व्यापार चल रहे है उनमे हिसा नही है, ऐसा कहने वाले की बात ज्ञान-शून्यता का प्रमाण है। जब शास्त्र जीवन-व्यवहार मे हिसा के अस्तित्व को स्वीकार करता है तो एक व्यक्ति

का यह कथन कि—"जीवन-व्यवहार हिंसा से शून्य है," क्या महत्त्व रखता है ? ऐसी स्थिति मे हमे केवल यही देखना चाहिए कि उस कार्य मे हिंसा और अहिंसा का कितना अश है ? और क्या वह कार्य महारम्भ है, नरक का कारण है, अथवा अल्पारभ है, स्वर्ग की सीढी है ।

विचारो मे भेद होना स्वाभाविक हे । परन्तु जब विचार का आधार शास्त्र है और शास्त्र भी एक ही हैं और किसी ओर से दुराग्रह भी नही है, तो यह भी आशा रखनी चाहिए कि एक दिन प्रस्तुत विचार-भेद भी समाप्त होकर रहेगा । परन्तु जब तक विचार-भेद समाप्त नही हो जाता, तब तक प्रत्येक विचारक को समभाव से, सहिष्णुतापूर्वक चिन्तन-मनन करते रहना चाहिए । विचार-विभिन्नता को अधिक महत्त्व देने से झगडने की प्रवृत्ति उत्पन्न होती है, जिससे सत्य को उपलब्ध करने का मार्ग रुक जाता है । मैं तो यहाँ तक कहने का साहस करूँगा कि किसी ने यदि कोई बात कही और वह बिना सोचे-समझे ही मान ली गई तो उसका भी कोई महत्व नही हे । जो बात विचारपूर्वक और चिन्तनपूर्वक स्वीकार की गई है, या इन्कार की गई है, वही महत्त्व रखती है । परन्तु आग्रह के रूप मे स्वीकार या अस्वीकार करने मे कोई कीमत नही है । वास्तविक तथ्य तो यह हे कि विवेक-पूर्वक, सत्य के प्रति दृढ आस्था रखकर, चिन्तन-मनन किया जाए और उसके बाद किसी बात को स्वीकार या अस्वीकार किया जाए ।

जैन-धर्म मनुष्य के विचारो को बलात् धक्का देने के लिए,

है। सत् शास्त्रो की चर्चा करना ही मेरा कार्य है और यही धन्धा मै आजीवन चलाते रहना पसन्द करता हूँ।

विचारो को सुलझने मे कुछ देर लगती है। आप एक सूत की लडो को सुलझाने वैठते है और जब वह जल्दी नही सुलझती है तो मन उचट जाता है और झट उसे पटक देते है। सोचते है—सूत क्या, आफत की पुडिया है। किन्तु मन स्थिर होते ही फिर उसे हाथ मे लेते है और फिर सुलझाने की चेष्टा करते है। विचारो की उलझन सूत से भी बडी जटिल है। विचार जब उलझ जाते है तो उन्हे सुलझाने मे वर्षो लग जाते है। कभी-कभी सदियाँ गुजर जाती है। आखिर, एक दिन वे सुलझ जाते है, किन्तु वे विवेक एव विचार के द्वारा ही सुलझते है। चाहे समय कितना ही लगे, हमे उनको सुलझाने का ही ध्येय सामने रखना चाहिए और धैर्य के साथ शान्त मन से सुलझाने का प्रयत्न करते रहना चाहिए।

हाँ, तो आपके हृदय मे जब कभी उलझन पैदा हो, आप अपनी शका से मुझे अवगत करा सकते है। जब आप मुझे अवगत करेंगे तो मेरे हृदय मे किसी प्रकार की कटुता पैदा नही होगी। मै आपके सामने जो विचार रख रहा हूँ, सम्भव है, उसमे आपको कही भ्रम मालूम दे। उस समय आप तटस्थ भाव से सोचे, विचार करे। चिन्तन मनन के द्वारा विभिन्न विचार वाले जल्दी ही यदि एक सुनिश्चित राह पर आ जाएँ तो खुशी की बात होगी। यदि न आएँ तो भी कोई चिन्ता नही, फिर सोचेगे, फिर मिलेगे, फिर बाते करेगे और विचार करते-करते अन्तत एक लक्ष्य पर आएँगे ही। इस प्रकार की मनोवृत्ति

रख कर निष्पक्ष और निष्कपाय होकर वस्तु-स्वरूप का चिन्तन करने मे अपूर्व रस मिलता है।

इस अवसर पर एक भाई के प्रश्न पर विचार है। यद्यपि वह प्रश्न एक व्यक्ति ने प्रस्तुत किया है, पर वह दूसरो के मन मे भी पैदा होना स्वाभाविक है। इसीलिये प्रत्यक्ष रूप मे उसकी चर्चा करना है।

प्रश्न है, प्याज (कादे) की खेती करना अल्पारभ है या महारभ ?

यह प्रश्न साधारण खेती के सम्बन्ध मे नही, प्याज की खेती के सम्बन्ध मे है। अतएव यह मान लेना चाहिए कि अनाज की खेती के सम्बन्ध मे अब कोई प्रश्न शेप नही रह गया है। अनाज की खेती अल्पारभ है या महारभ ? इसका निर्णय हो चुका है। पिछले प्रकरणो मे अन्न की खेती के विपय मे मैने शास्त्रो के अनेक पाठ उपस्थित किए है और विभिन्न आचार्यो की प्राचीन परम्पराएँ भी आपके सामने रखी है। आचार्य समन्तभद्र, हरिभद्र और हेमचन्द्र आदि के प्रमाणित कथन भी प्रस्तुत किए जा चुके है। अतएव यह समझ लेना चाहिए कि अन्न की खेती के सम्बन्ध मे विचार स्पष्ट हो चुका है। "वह महारभ या अनार्य-कर्म है", यह गलतफहमी पूर्णत दूर हो चुकी है। इसीलिए प्रस्तुत प्रश्न अन्न की खेती के विषय मे न होकर प्याज की खेती के सम्बन्ध मे किया गया है।

भगवती-सूत्र, स्थानाङ्ग-सूत्र और उववाई-सूत्र मे नरक-गति के चार कारण बतलाए गए है। उनमे पहला कारण महारभ

है । नरक-गति का कारण जो महारभ है, उसी को लक्ष्य मे रखकर सवाल किया गया है, या और किसी दूसरे अभिप्राय से है ? स्मरण रखना चाहिए कि जहाँ महारभ या अनार्य-कर्म आया, वही आपको नरक की राह ध्यान मे रखना होगा । शास्त्रो मे महारभ का सम्बन्ध नरक के साथ जोडा गया है । अनेक स्थलो पर शास्त्रो मे ऐसे उल्लेख मिलते है । ऐसी स्थिति मे प्याज की अथवा गाजर-मूली आदि की खेती को आप महारभ मानते है, तो उसे नरक-गति का कारण भी मानना होगा ।

कदाचित् आप यह कहे कि उसे महारभ तो मान ले, किन्तु नरक-गति का कारण न माने, तो यह अन्तर नही होने का । मै कहता हूँ, और मै क्या, शास्त्र ही कहते है कि जो महारभ है, वह नरक-गति का कारण वने विना नही रह सकता । महारभ भी हो और नरक-गति का कारण न हो, ऐसा कोई असगत समझौता नही हो सकता । फिर आलू आदि जमीकन्दो की खेती क्या नरक-गति का कारण है ? आप कहेगे, क्यो नही, जमीकन्द मे अनन्त जीव जो ठहरे ।

कल्पना कीजिए—एक आदमी भूख से तडप रहा है और उसके प्राण निकल रहे है । वहाँ दूसरा आदमी आ पहुँचता है । उसके पास आलू, गाजर आदि कदमूल है और वह दया से प्रेरित होकर उस भूखे को खाने के लिए दे देता है । भूखा आदमी उसे खाता है और उसके प्राण बच जाते है । अब प्रश्न यह है कि उस कन्दमूल देने वाले को एकान्त पाप होता है, या कुछ पुण्य भी होता है ? आप इस प्रश्न का क्या

उत्तर देते है ?

हमारे कुछ पडौसियो ने तो यह निर्णय कर रखा है कि दया से प्रेरित होकर भूखे के प्राण बचाने मे भी एकान्त पाप होता है। उनकी धर्म-पुस्तको ने और आचार्यो की वाणी ने एकान्त पाप का फतवा दे रखा है। क्योकि एक ओर एक जीव है और दूसरी ओर एक आलू मे नही, उसके एक टुकडे मे भी नही, सुई के अग्र भाग पर समा जाने वाले जरा से आलू के कण मे भी अनन्त जीव होते है और जब वह खाने के लिए दे दिया जाता है तो उन सभी की हिंसा हो जाती है। इस प्रकार एक जीव को बचाने के लिए अनन्त जीवो की हिंसा की गई है। उनके विचार से अनन्त जीवो की हिंसा तो पाप है ही, साथ ही उनकी हिंसा करके एक आदमी को बचा लेना भी पाप ही है और बचाने वाले की दया-भावना भी पाप है। इस प्रकार उस भूख से मरते को बचा लेने मे एकान्त पाप ही है। परन्तु आपका विचार क्या है ? आप मनुष्य के प्राणो की रक्षा करना पाप नही मानते और रक्षा करने की, दया की जो पुनीत भावना हृदय मे उत्पन्न होती है, उसे भी पाप नही मानते। ऐसी स्थिति मे आप उक्त प्रश्न का क्या उत्तर देते है ? आपके सामने यह एक विकट प्रश्न है, जिसका आपको निर्णय करना है।

सम्भव है, आप इस प्रश्न का उत्तर देने मे टालमटूल कर जाएँ। यदि ऐसा हुआ तो दूसरी जगह पकड मे आ जाएँगे। मान लीजिए, एक प्यासा आदमी प्यास से मर रहा है और किसी उदारमना ने उसे पानी पिला दिया। पानी की एक

बूँद मे असख्य जीव है, अस्तु एक गिलास पानी पिला दिया तो क्या हुआ ? एकान्त पाप हुआ या कुछ पुण्य भी हुआ ? पानी पिलाने से बचा तो एक केवल व्यक्ति, और मरे असख्य जीव ।

इस प्रश्न का कदाचित् आप यही उत्तर देगे—यद्यपि पानी पिलाने से पाप हुआ है किन्तु पुण्य भी हुआ है । और वह पुण्य, पाप की अपेक्षा अधिक है । ठीक है, जो तथ्य हो उसे स्वीकार कर लेना ही बुद्धिमता है ।

इस निर्णय से यह फलित हुआ कि जीवो की सख्या के आधार पर पुण्य-पाप का निर्णय नही हो सकता । सख्या अपने मे सही कसौटी नही है । इस कसौटी को, पानी पिलाने मे एकान्त पाप न मानकर, हमने अस्वीकार कर दिया है । हमने पुण्य-पाप को परखने के लिए दूसरी कसौटी अपनायी है और वह है कर्त्तव्य की भावना ।

वस्तुत असख्य एक बहुत बडी सख्या है । असख्य के अन्तिम अश मे यदि एक और जोड दिया जाए तो वह सख्या अनन्त हो जाती है । तो जहाँ बहुत असख्य जीव है, वहाँ अनन्त के लगभग जीव हो जाएँगे । और जहाँ पानी है वहाँ वनस्पति, द्वीन्द्रिय त्रस आदि दूसरे प्रकार के जीव भी होते है । इस दृष्टि से जीवो की सख्या मे भी अत्यधिक वृद्धि हो जाती है ।

हाँ, तो एक गिलास पानी पिलाने से अनन्त के लगभग जीव मरे और बचा सिर्फ एक मनुष्य ही । फिर भी भावना की प्रधानता के कारण पानी पिलाने वाले को पाप की

अपेक्षा पुण्य अधिक हुआ। जो जीव मरे हैं, वे मारने की हिंसक भावना से नही मारे गए हैं। पानी पिलाने वाले की भावना यह कदापि नही होती कि पानी के ये जीव मर नही रहे है। अत यदि कोई अतिथि आ जाए तो उसे पानी पिलाकर इन्हे मार डालूँ। उसकी एकमात्र भावना तो पचेन्द्रिय जीव को मरने से वचाने की है।

इस सम्वन्ध मे सिद्धान्त भी यह स्पष्टीकरण करता है कि एकेन्द्रिय जीव की अपेक्षा द्वीन्द्रिय जीव को मारने से असख्य गुना अधिक पाप वढ जाता है। और इसी प्रकार उत्तरोत्तर वढते-वढते चतुरिन्द्रिय की अपेक्षा पचेन्द्रिय को मारने मे असख्य गुना पाप अधिक होता है।

जव तक हम इस दृष्टि-विन्दु पर ध्यान रखेगे, तव तक भगवान् महावीर की अहिंसा और दया हमारे ध्यान मे रहेगी। यदि हम इस दृष्टिकोण से विचलित हो गए तो अहिसा और दया से भी विचलित हो जाएँगे। फिर हमे या तो कोई और दृष्टि पकडनी पडेगी, या हस्ति-तापसो की दृष्टि अगीकार करनी पडेगी। हस्ति-तापसो के सम्वन्ध मे सामान्यत उल्लेख अन्य प्रवचन मे किया जा चुका है। उनका मन्तव्य है कि अनाज के प्रत्येक दाने मे जव एक-एक जीव मौजूद है, तो बहुत-से दाने खाने से वहुत जीवो की हिसा होती है। उससे बचने के लिए हाथी जैसे एक स्थूल-काय जीव को मार लेना अधिक उपयुक्त है कि जिससे एक ही जीव की हिसा से वहुत से व्यक्तियो का, या वहुत दिनो

तक एक व्यक्ति का निर्वाह हो सके।*

भगवान् महावीर ने इस दृष्टिकोण का डटकर विरोध किया था। कारण यही है कि पाप का सम्बन्ध जीवों की गिनती के साथ नहीं, कर्त्तव्य की भावना के साथ है। सोचिए, पचेन्द्रिय जीव का घात करने मे कितनी निर्दयता और कितनी क्रूरता होती है। एक गिलास पानी मे जीवो की सख्या भले ही असख्य हो, फिर भी पानी को पीने वाले और पिलाने वाले मे वैसी निर्दय और क्रूर भावना नही होती। क्योकि पानी पीने वाले और पिलाने वाले, दोनो का लक्ष्य-विन्दु 'रक्षा' है। जो लक्ष्य-विन्दु 'रक्षा' का पवित्र प्रतीक है, वहाँ दया की विद्यमानता सुनिश्चित है, और जो कार्य-विशेष 'रक्षा' और 'दया' की सीमाओ के अन्तर्गत है, वह अहिंसक है।

इस प्रकार पानी के विषय मे जब निर्णय कर लिया तो इसी निर्णय के प्रकाश मे अब मूल प्रश्न की जाँच करे।

जिस प्रकार अन्न की हिंसा की अपेक्षा प्याज की या अन्य अनन्तकाय की हिंसा बडी है, इसी प्रकार अन्न की खेती की अपेक्षा इस खेती मे ज्यादा पाप है। फिर भी वह महारभ नही है, क्योकि सहार करने के लक्ष्य से, हिंसा के सकल्प से, या क्रूर भावना से, जिस उद्योग मे त्रस जीवो का हनन किया जाता है, वही महारभ की भूमिका मे आता है।

जिस देश मे अन्न की काफी जरूरत है, जिसे आधे से अधिक अन्न सुदूर विदेशो से मगाना पडता है, जिस देश के

---

* हस्थितावसत्ति ये हस्तिन मारयित्वा तेनैव बहुकाल भोजनतो यापयन्ति।
—औपपातिक सूत्र टीका

के लिए अमेरिका और आस्ट्रेलिया से रोटियाँ आती है और उसके बदले मे करोडो-अरबो की गाढी कमाई की सम्पत्ति बाहर चली जाती है, और उस सम्पत्ति के बदले मे सत्त्वहीन, सडा-गला एव निकम्मा अनाज मिलता है, जिसको खाकर लोग तरह-तरह की बीमारियो के शिकार हो रहे हैं और उसके भी अभाव मे लाखो आदमी मर गए और आज भी मर रहे है, उस देश मे प्याज की खेती का प्रश्न पहले विचारणीय नही है। वहाँ तो पहले अन्न की समस्या है और उसी के समुचित समाधान के लिए सर्वप्रथम विचार करना होगा।

कल्पना कीजिए—किसी के खेत मे अन्न नही उपजता। ऐसे लोगो मे से एक अपने खेत मे आलू बो रहा है और दूसरा तम्बाकू बो रहा है, तो तम्बाकू बोने मे ज्यादा हिंसा है, क्योकि तम्बाकू व्यसन की वस्तु है, जीवन-निर्वाह की वस्तु नही है। तम्बाकू जहर पैदा करता है और स्वास्थ्य को नष्ट करने वाला मादक पदार्थ है और उसे पैदा करने वाला केवल अपने स्वार्थ की भावना से ही पैदा करता है। उससे किसी प्रकार के परोपकार की आशा नही है, किसी के जीवन-निर्वाह की सम्भावना नही है। भूख से मरने वाले को तम्बाकू खिलाकर जीवित नही रखा जा सकता। तम्बाकू खाने से मृत्यु दूर नही होगी, बल्कि निकट ही आएगी।

आलू या प्याज को व्यसन की वस्तु नही बताया गया है। इसका अभिप्राय यह नही है कि आलू और प्याज की खेती मे आरम्भ नही है। आरम्भ तो अवश्य है और अन्न की अपेक्षा विशेष आरम्भ है, फिर भी वह महारभ

की भूमिका मे नही है, अर्थात्—वह नरक-गमन का हेतु नही है।

एक आदमी के खेत मे आलू ही उत्पन्न होते हैं और वह सोचता है कि लोगो को खुराक नही मिल रही है, तो मै आलू उत्पन्न करके यथाशक्ति पूर्ति क्यो न करूँ? यही सोच-कर वह आलू की खेती करता है। दूसरा सोचता है कि तम्बाकू से दूसरो का स्वास्थ्य नष्ट होता है, तो भले हो। उसे किसी के स्वास्थ्य से क्या मतलब! उसे तो पैसा चाहिए। इसीलिए वह तम्बाकू की खेती करता है। स्पष्ट है कि आलू की अपेक्षा तम्बाकू की खेती मे अधिक पाप है। इस प्रकार आलू की खेती मे अन्न की खेती की अपेक्षा अधिक पाप है और तम्बाकू की खेती की अपेक्षा अल्प पाप है। यही अनेकान्त का निर्णय है।

अभिप्राय यही है कि किसी भी कार्य मे एकान्त रूप से आरम्भ की अल्पता या अधिकता का निर्णय होना कठिन है। 'अल्प' और 'अधिक' दोनो ही ऐसे सापेक्ष शब्द है कि उन्हे कोई दूसरा चाहिए। हिन्दी भाषा मे जैसे 'छोटा' और 'बडा' शब्द सापेक्ष है। दूसरे की अपेक्षा ही कोई छोटा या बडा कहलाता है, अपने आप मे कोई छोटा या बडा नहीं होता। यही बात 'अल्प' और 'अधिक' के विषय मे भी है। इस बात को ठीक तरह समझने के लिए एक उदाहरण ले लीजिए। किसी ने आपसे प्रश्न किया कि—त्रीन्द्रिय जीव की हिंसा मे अल्प पाप है, या अधिक पाप है? तो आप उसे क्या उत्तर देगे? कोई भी शास्त्र का ज्ञाता यही कहेगा कि

एकेन्द्रिय और द्वीन्द्रिय की अपेक्षा अधिक पाप है और चतुरिन्द्रिय तथा पचेन्द्रिय की अपेक्षा अल्प पाप है।

हमारे कुछ साथी कृषि करने मे महारभ समझते है। यदि उनका मन्तव्य पूर्वोक्त अनेकान्तवाद के आधार पर हो, तो मतभेद के लिए गुँजाइश ही नही है। यदि वे 'महा' की अधिक मे लक्षणा करके यह कहते कि कृषि-कार्य मे वस्त्रादि के द्वारा आजीविका चलाने की अपेक्षा 'अधिक आरभ' है और वधशाला चलाने या सट्टा करने की अपेक्षा 'अल्प आरभ' है तो कोई विवाद न रहता। अपेक्षाकृत 'अधिक आरभ' और 'अल्प-आरभ' मानने से कौन इन्कार कर सकता है? परन्तु जब कृषि मे महारभ बताया जाता है, और वह महारभ बतलाया जाता है, जोकि नरक-गति का कारण है, तो अनेकान्तवाद का परित्याग कर दिया जाता है और मतभेद खडा हो जाता है।

—: ८ :—

जीवन के चौराहे पर

जरा अपने से बाहर इस विराट विश्व की ओर दृष्टि-पात कीजिए। देखिए, जगत् मे कितने अगणित जीव-जन्तु भरे पडे है। नाना प्रकार के पशु-पक्षी, कीडे-मकोडे तो है ही, लाखो प्रकार की वनस्पति और दूसरे भी छोटे-वडे असख्य प्रकार के प्राणी आपको दिखाई देगे। उनकी आत्मा मे कोई मूलभूत अन्तर नही है। अन्तर है केवल शरीर का और आत्मिक शक्तियो के विकास का। इसी अन्तर ने मनुष्य मे और दूसरे प्राणियो मे बडा भेद पैदा कर दिया है। इसी लिए शास्त्र मानव-जीवन की गौरव-गाथा गाता है और मानव भी अपनी स्थिति पर गर्व करता है, अपने को धन्य मानता है। पर, मनुष्य को यह भी सोचना है कि इस जीवन के लिए उसे कितनी तैयारी करनी पडी है? किस प्रकार की साधनाएँ करनी पडी है?

वडी-बडी तैयारियाँ और साधनाएँ करने के वाद जो दिव्य-जीवन मिला है, उसकी क्या उपयोगिता है? क्या, यह जीवन भोग-विलास मे लिप्त रहने के लिए हे, धन सचय या मान-प्रतिष्ठा के पीछे भटकते-भटकते समाप्त हो जाने के

लिए है ? क्या, इसलिए है कि एक दिन ससार मे यो ही आए और यो ही चले गए ?

जो आया है, वह जाएगा तो अवश्य ही। चाहे कोई भिखारी हो, दरिद्र हो, अथवा राजा हो, सेठ हो। यह आवागमन का क्रम अनादि काल से चलता आ रहा है, आज भी चल रहा है और भविष्य मे भी चलता रहेगा। प्रकृति के इस क्रम को रोकना आपके वश की वात नही है। चक्रवर्त्ती सम्राट् की शक्तिशाली सत्ता भी इसे वन्द नही कर सकती। यहाँ तक कि असख्य देवी-देवताओ पर शासन करने वाला देवाधिपति इन्द्र भी इसे रोकने मे असमर्थ है। ससार मे कोई ऐसी जगह नही कि जहाँ हम जम कर वैठ गए तो अव उठेगे ही नही। यद्यपि, आप यही चाहते है कि हम न उठे, किन्तु आपके चाहने की यहाँ कोई कीमत नहीं है। आप तो क्या, वडे-वडे शक्तिशाली यहाँ आए और चले गए। जिनकी मदमाती सत्ता ने एक दिन ससार मे भूकम्प पैदा कर दिया था, जिनकी सेनाओ ने हिन्दुस्तान के कौने-कौने को रौंद डाला था और अपना खजाना भर लिया था, उनकी शक्ति भी यहाँ विफल हो गई। लाखो वीरो की सुदृढ सेना एक ओर दीन भाव से खडी रही और जो वडे-वडे मत्री यह कहते थे कि वाल की खाल निकाल देगे और कोई न कोई रास्ता निकालेगे, परन्तु आवागमन के प्राकृतिक कार्य-क्रम को रोकने मे उनकी विलक्षण वुद्धि भी कुछ काम न दे सकी। देवी-देवता खडे रहे, उनसे भी कुछ नही वना। साराश मे हम देखते है, एक साधारण आदमी ससार से विदा होता है तो लाचार और

बेबस होकर जाता है। और जब धनी या सम्राट् विदा होते है, तो वे भी लाचार और बेबस होकर ही विदा होते है।

बिना वर्ग-भेद के सभी के लिए यदि एक राह नही होती तो दुनिया का फैसला होना मुश्किल हो जाता। मही राह गरीब और अमीर को एक करने वाली है, और झोपड़ियो तथा महलो तक का एक जैसा फैसला कर देती है। दुनिया मे और कितनी ही राह क्यो न हो, पर श्मशान की राह तो एक ही है, जिस पर सब को चलना है और जहाँ भिखारी से लेकर सम्राट् तक को जलकर मिट्टी मे मिल जाना है। यहाँ दो राह नही बन सकती, दो मजिल नही हो सकती है। सब के लिए एक ही राह है, एक ही मजिल है और उसी मे से सब को गुजरना है।

यह देखा गया है कि इन्सान की जिन्दगी मे अभिमान, प्रतिष्ठा, आदि जो भौतिक अलकरण है, वे सब यही समाप्त हो जाते है। मनुष्य, आगे क्या लेकर जाता है? महल, सोना-चाँदी, जेवर वगैरह सब यही रह जाते है। कुटुम्ब-कबीला, समाज और राष्ट्र सभी यहाँ छूट जाते हैं।

मानव-जीवन की सब से बडी जो विशेषता है, वह यही है कि मनुष्य सोच सकता है कि उसे यहाँ से क्या ले जाना है, क्या नही ले जाना है? खाली हाथ दरिद्र होकर लौटना है, या सम्राट् की तरह ऐश्वर्य की विराट साज-सज्जा के साथ वापिस होना है।

भगवान् महावीर ने अपने अन्तिम प्रवचन मे एक सुन्दर

उदाहरण कहा है, और उसके सहारे एक बहुत बडा सत्य प्रकाशित किया है। दूसरे शब्दो मे यह कहना चाहिए कि एक लघुकाय शब्द-सूत्र के सहारे करोडो मन सत्य का भार उतार दिया है। वह एक छोटा-सा दृष्टान्त अवश्य है, किन्तु उसके पीछे एक बहुत बडी सचाई, जीवन का महत्वपूर्ण अध्याय छिपा पडा है। उत्तराध्ययन सूत्र मे आता है —

जहा य तिन्नि वाणिया, मूल घेत्तूण निग्गया।
एगोत्थ लहइ लाह, एगो मूलेण आगओ ॥
एगो मूल पि हारित्ता, आगओ तत्थ वाणिओ।
ववहारे उवमा एसा, एव धम्मे वियाणह ॥

भगवान् महावीर ने व्यापार करने वाले वनियो का उदाहरण दिया है, और सौभाग्य से २५०० वर्ष वाद आज वे ही मेरे सामने भी वैठे है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र ये चार वर्ण है। उनमे से वैश्य ही वाणिज्य-व्यवसाय करते है और उनकी ही वात उदाहरण रूप मे यहाँ चलती है।

मानव की जिन्दगी मे व्यापार का क्रम तो चलता ही रहता है। जिस आत्मा ने दुनिया की इस मडी मे आकर व्यापार नही किया, उसने क्या किया ?

एक सेठ के तीन पुत्र थे। तीनो बुद्धिमान् और विचार-शील थे, पर वे घर मे ही पडे रहते थे, अत उनकी बुद्धि को परखने का प्रसग नही मिलता था। उनके विचारो को, चारित्र को और व्यक्तित्व को ठीक तरह पनपने का और विकसित होने का अवसर उपलब्ध नही होता था।

कभी-कभी ऐसा होता है कि जो बडे होते है, उनके सामने छोटे पनपने नही पाते। कभी-कभी पिता अपने सिर पर सब कामो का भार लादे रहता है और पुत्रो को कोई भी काम स्वाधीनता के साथ करने का अवसर नही देता। बात-बात मे वह निर्देशन करता है—इस काम को ऐसे नही, ऐसे करो, यो नही, त्यो करो। इस वातावरण मे लडको को अपनी बुद्धि को जॉचने और विकसित करने का मौका नही मिलता और वे बराबर सलाह लेने के ही आदी हो जाते है। फिर वे हर एक कार्य के लिए पूछते ही रहते है कि क्या करूँ, कैसे करूँ? किसी भी सामान्य प्रश्न को स्वतन्त्र रूप से निर्णय करने मे उनकी बुद्धि कुठित-सी हो जाती है और फिर जीवन के अन्तिम क्षण तक उनकी यही परमुखापेक्षी प्रवृत्ति बनी रहती है।

किसी बडे वृक्ष के आस-पास कोई पौधा लगा दिया जाता है, तो वह बडा वृक्ष उसे पनपने नही देता। इसका अर्थ यह नही कि पिता, पुत्र की बुद्धि को विकसित नही होने देना चाहता। वह चाहे भले ही, पर वात्सल्य की गलत पद्धति के कारण वैसा हो नही पाता। पुत्र, पिता की सहायता का आदी हो जाता है और वह स्वतन्त्र रूप से अपने पैरो पर खडा नही हो पाता।

हॉ, तो वह सेठ बडा बुद्धिमान था। उसने सोचा—देखना चाहिए, कौन लडका कैसा है और आगे चलकर मेरे वश का उत्तरदायित्व कौन कितना निभा सकता है? कौन मेरे कुल की प्रतिष्ठा को स्थायी रूप से सुरक्षित रख सकता है?

मै दुनिया भर की परीक्षा करता हूँ तो अपने लडको की परीक्षा भी क्यो न करूँ ?

सेठ ने एक दिन तीनो लडको को बुलाया और कहा—तुम सब समझदार और योग्य हो गए हो। जीवन के कार्य-क्षेत्र मे काम कर सकते हो। जो कुछ मै करता हूँ, वह तो तुम्हारा है ही। उसे मुझे कही अन्यत्र ले नही जाना है। किन्तु तुम मुझे यह विश्वास दिला दो कि तुम मेरे पीछे मेरी जिम्मेदारियो को पूरी तरह निभा सकोगे।

लडको ने कहा—पिताजी, फरमाइये, क्या करे ?

हाँ, तो 'क्या करे' ? इसी सवाल को हल करने के लिए तो पिता ने उन्हे बुलाया था। कमाने के लिए वह अपने लडको को बाहर नही भटकाना चाहता था। उसके पास आजीविका के सभी साधन मौजूद थे। परन्तु 'क्या करे' ? यह जो परमुखापेक्षी वृत्ति बन जाती है और बार-बार जो यह प्रश्न मन मे पैदा हो-होकर रह जाता है, इसी का उसे समुचित समाधान करना था।

सेठ ने कहा—करना क्या है ? चले जाओ। नाव को समुद्र मे बहने दो और लगर खोल दो, डाँड तो तुम्हारे हाथ मे है। वस्तुत सफल जीवन का यही अर्थ है कि तुम कितने पुरुषार्थ से, कितनी योग्यता से जीवन-नौका को सकुशल तट पर ले जाते हो। जिस नाव मे बैठे हो, उसका लगर यदि नही खोला है, तो उसके चलाने का कोई अर्थ नही। खोल दिया जाए जीवन-नौका का लगर और छोड दिया जाए लहरो पर। जब जीवन-नौका लहरो के थपेडे खाएगी

और नाना प्रकार के विघ्न उपस्थित होगे, तब पता लगेगा कि तुम्हारे अन्दर कितनी योग्यता है। यदि समुद्र मे तूफान आया है तो नाव को कैसे ले जाएँ, और कहाँ मन्द गति और कहाँ तीव्र गति दी जाए, आदि-आदि योग्यताएँ ही तो जीवन के सफल सचालन के लक्षण है।

पिता की बात सुनकर पुत्रो ने कहा बात ठीक है। आपका विचार सही है। हम अपनी योग्यता की जाँच करेगे।

अब उनको योग्य पूँजी दे दी गई। टीकाकार कहते है कि एक-एक लाख रुपया तीनो को दे दिया और उनसे कह दिया गया कि-तीनो, तीन दिशाओ मे अलग-अलग चले जाएँ। अपनी दिशाएँ इच्छा के अनुरूप निश्चित कर सकते है।

तीनो पुत्रो ने अपनी-अपनी इच्छा के अनुसार विभिन्न देशो मे जाकर बडी-बडी पेढियाँ स्थापित की।

उनमे एक बडा चतुर और बुद्धिमान् था। उसने अपनी पूँजी ऐसे व्यवसाय मे लगाई कि वारे-न्यारे होने लगे। दिन दूना और रात चौगुना धन बढने लगा। वह बडा सच्चरित्र था। जैसे-जैसे लक्ष्मी आती गई, वह नम्र होता गया। उसने आस-पास के व्यापारियो मे अपनी धाक जमा ली। जहाँ कही भी रहा, बेगाना बनकर नही रहा। ऐसे रहा, मानो उन्ही के घर का आदमी हो और किसी को लूटने नही आया, किन्तु अपने-पराये सब का समुचित सरक्षण करने आया है। इस तरह उसने अपनी चारित्रिक प्रतिष्ठा जमा ली। उसके पास लक्ष्मी

खूब आई, पर लक्ष्मी का नशा तनिक भी नही आया। वह दुश्चरित्र नही बना।

मज़ा तो यह है कि समुद्र मे डुबकी तो लगाए, किन्तु सूखा निकल आए। कोई तट पर बैठा रहे और कहे कि मै सूखा हूँ, भीगा नही, तो ऐसे सूखेपन का कोई मूल्य नही है। यदि समुद्र मे गोता लगा दे और वापिस सूखा निकल आए, भीगे नही, तब कहा जा सकता है कि वास्तव मे जादू है, चमत्कार है। इसी प्रकार यदि कोई धन वैभव पाकर भी सच्चरित्र बना रहे, उसे नशा न चढे, तब हम कहेगे कि समुद्र मे गोता तो लगाया किन्तु फिर भी सूखा ही निकला। जब चारो ओर लक्ष्मी की झनकार हो रही हो, फिर भी लक्ष्मी की मादकता से ठोकर न लगे और वासना की बौछार से बिना भीगे बाहर आ जाए, तब तो कह सकते है कि यह एक कला है। 'आनन्द' श्रावक ने ससार-समुद्र मे गोते लगाए थे, फिर भी वह सूखा ही निकला। महावीर के परम भक्त राजा चेटक आदि सभी ने ससार-समुद्र मे गोते लगाए हुए थे, किन्तु सभी सूखे थे। चक्रवर्ती भरत भी ससार-समुद्र मे गोते लगाकर भी सूखे ही रहे थे। साराश मे यही अभिमत पर्याप्त होगा कि सासारिक कार्यों मे सलग्न रहते हुए भी फल की प्राप्ति मे लिप्त नही रहना चाहिए।

"न लिप्पए भवमज्झे वि सतो, जलेण वा पोक्खरिणीपलासो।"

और—

'जहा पोम्मं जले जाय नोवलिप्पइ वारिणा।"

यदि तुम्हे सफल जीवन की कला सीखना है, तो कमल

से सीखो। जीवन-व्यापार को सफलता पूर्वक चलाने की महत्त्वपूर्ण कला जल मे खडे कमल से ही सीखी जा सकती है। कमल कीचड मे पैदा होता है, पत्थर की चट्टान, रेत या टीले पर नहीं। निस्सन्देह वह गहरे सरोवरो मे जन्म लेता है, फिर भी वह पानी से नही भीगता, क्योंकि वह पानी से ऊपर रहता है। कमल की यह विशेषता है कि यदि उसके ऊपर पानी डाला जाए, या वर्षा का पानी पडे, तब भी उसमे ऐसी चिकनाहट होती है कि सब पानी वह जाएगा और वह अपने निर्लिप्त गुण के कारण सूखा का सूखा ही रहेगा। हाँ, तो जैसे कमल पानी मे पैदा होता है, फिर भी पानी के प्रभाव से सर्वथा अलग रहता है। इसी प्रकार सफल जीवन का भी आदर्श होना चाहिये।

ऐसा भूलकर भी न समझो कि कमल पानी मे भीगने के भय से बाहर क्यो नही भागता। यदि भागने का प्रयत्न करे तो वह एक क्षण भी जिन्दा नही रह सकता। इसी प्रकार तुम भी ससार के बाहर कैसे भाग सकते हो? और भाग कर जाओगे भी कहाँ? इस विश्व से बाहर कहाँ तुम्हारा ठिकाना है? कही भी जाओ, रहोगे तो ससार के वायुमडल मे ही। इसलिए, जब तक गृहस्थ हो, ससार मे रहते हुए ही, कमल की भाँति निर्लिप्त रहने की कठिन साधना करो। ससार-सागर मे जीवन-जहाज को सफलता पूर्वक चलाने के लिये इसके सिवाय और कोई दूसरा चारा नही है।

यदि साधु गोचरी के लिए जाए और वहाँ किसी आकर्षण वश उसका मन डगमगाने लगे तो, यह कैसे चलेगा?

आखिर, उसे भी यह कला सीखनी ही पडेगी। यह अपार ससार है, यह दुर्गम दुनिया है। इसी मे से वस्त्र-पात्र भी लेना है, झोपडियो और महलो मे भी जाना है। आँख वन्द करके नही चल सकते, नाक वन्द करके नही जी सकते, और हाथ-पैर बाँधकर निष्क्रिय बैठ भी नही सकते। सब इन्द्रियाँ अपने गुण-कर्म-स्वभाव के अनुरूप अपना काम करती ही रहेगी। फिर साधु तो ऐसी कला सीखते है कि खाते, पीते, सुनते और देखते हुए भी मोह-वासना के कीचड मे नही फँसते। दैनिक व्यवहार मे प्राय वे निन्दा भी सुनते है, स्तुति भी सुनते है, अच्छा या बुरा, जैसा भी रूप आँखो के सामने से गुजरता है, उसे देखते भी है। किन्तु निर्लिप्त भावना के कारण वे मोह-जन्य वासना के कुचक्र मे नही फँसते, सदैव उससे परे ही रहते है, क्योकि सासारिक मोह-वासना का कुचक्र साधु-जीवन को अध पतन के गर्त मे ले जाने वाला है।

अस्तु, कमल की वही कला आपको भी सीखना है। यदि भागना भी चाहोगे तो कब तक भागोगे? भगवान् महावीर का यह अटल सिद्धान्त है कि—"जिस किसी भी स्थिति मे रहो, किन्तु यह कला सीख लो कि कमल जल मे रहता है और जल मे रह कर भी सूखा ही रहता है।" यदि यह दिव्य-दृष्टि जीवन मे मिल गई, तो समझ लो कि जीवन की सफल कला मिल गई। जिसे जीवन की यह मगलमयी कला मिल गई, वह साधक उत्तरोत्तर ऊपर ही उठता जाता है और सासारिक मोह-वासना का कोई विकार उसकी प्रगति मे बाधक नही होता।

हाँ, तो उस सेठ के लडके ने लाखो-करोडो कमाए। वह धन भी कमाता रहा और सदाचारी भी बना रहा। वह धन कमाकर जब घर लौटा तो नगर के लोग उसके स्वागत के लिए उमड पडे। सेठ भी अपने परिवार के साथ हर्षोल्लास से गद्गद स्वागतार्थ दौडा। बडे सम्मान के साथ, इज्जत के साथ और धूमधाम के साथ उसने नगर मे प्रवेश किया। वह तो प्रफुल्लित था ही, साथ ही हर एक नगर-निवासी भी हर्षोल्लास से भरपूर था।

सेठ का दूसरा लडका भी बाहर गया, उसने भी किसी व्यवसाय मे पूँजी लगाई। किन्तु वह अपनी बुद्धि एव प्रतिभा का अच्छी तरह उपयोग न कर सका, फलत उसने कुछ पाया नही, किन्तु साथ ही खोया भी नही। पिता की दी हुई पूँजी को बरावर बनाए रखा। यही उसकी बहुत वडी बुद्धिमानी थी। उसने ठीक ही सोचा—यदि पूँजी मे बढोतरी नही होती है तो अब चल देना चाहिए। घर पहुँचने पर यद्यपि उसका बडे भाई की भाँति स्वागत नही हुआ, किन्तु अनादर भी नही हुआ। पिता ने उससे कहा—बेटा, खेद की कोई बात नही। तुम जैसे गए थे, वैसे ही लौट आए। कुछ खोकर तो नही आए, यह भी तो एक कमाई है। कुछ न खोना भी तो कमाने के ही बराबर है।

सेठ का तीसरा लडका लक्ष्मी की गर्मी मे और नशे मे पागल हो गया, फलत वह दुराचार मे फँस गया। उसने सारी पूँजी भोग-विलास और ऐश-आराम मे उडा दी। जब सर्वस्व लुट चुका तो खाने को भी महाल हो गया। अन्त

मे उसने भी घर लौटने की सोची, किन्तु शोभनीय पोशाक की जगह चीथडे पहिने हुए था, प्रसन्नता की जगह आँसू बहा रहा था और स्वादिष्ट भोजन के नाम पर भीख माँगता आया था। जब उसने गाँव मे प्रवेश किया, तो कोई सूचना नही भेजी और बीच बाजार से न होकर अन्धेरी गली मे से ही घर की ओर भागा। उसने मुँह पर कपडा ढँक लिया था जिससे कोई पहचान न सके। आखिर घर मे आकर वह रो पडा। घर वालो ने कहा—अरे मूर्ख! तू तो मूल पूँजी को भी गँवा आया?

हाँ, तो यह ससार जीवन-व्यापार का एक बाजार है। हम मानव गति-रूप गाँव मे पहुँच गए हैं और व्यापार करने के लिये यहाँ बाजार मे एक स्थान मिल गया है। जो पहले नम्बर का व्यापारी होगा वह यहाँ और वहाँ, अर्थात्—लोक और परलोक दोनो जगह आनन्द पाएगा। जब लौटेगा तो पहले से उसके स्वागत की तैयारियाँ होगी। जब यहाँ रहेगा तब यहाँ भी जीवन का महत्त्वपूर्ण सन्देश देगा और जहाँ कही अन्यत्र भी जाएगा, वही सुखद सन्देश सुनाता रहेगा। उसके लिए सर्वत्र आनन्द-मगल और जय-जयकार होगे। वह स्वर्गीय जीवन का अधिकारी है।

जो मूल पूँजी लेकर आया है, अर्थात्—जिसने इन्सान की यह जिन्दगी पाई है और जो आगे भी इन्सान की जिन्दगी पाएगा, उसके लिए कह सकते है कि उसने कुछ नया कमाया नही, तो कुछ अपनी गाँठ का गँवाया भी नही।

परन्तु जो आता है इन्सान बनकर और वापिस लौटता है

कूकर-सूकर बनकर, वह फिर क्या हुआ ? यदि यहा पचास, या सौ वर्ष रहा, और लौटा तो कीडा-मकोडा बना, गधा-घोडा बना, या नरक का मेहमान हुआ तो वह हारा हुआ व्यापारी है। वस्तुत वह ऐसा व्यापारी है, जिसने अपने जीवन के लक्ष्य का अच्छी तरह निर्णय नही किया है।

हाँ, तो भारतीय चिन्तन की गूढ भाषा मे भावार्थ यह है कि इन्सान की जिन्दगी श्रेष्ठतम जिन्दगी है। अत जो करना है और जो करने योग्य है, वह सब यहाँ ही कर लेना चाहिए। यदि ऐसा नही किया गया, तब फिर कहाँ करेगे ?

"इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति, न चेदिहावेदीन्महती विनष्टि ।"

—केनोपनिषद्

"यहाँ का नाश सबसे बडा नाश है ! यहाँ की हार सब से बडी हार है !! यहाँ, यदि अच्छी बाते न हुई तो यहाँ-वहाँ सर्वत्र सब से बडा अनादर है, अपमान है।"

मानव, जीवन के चौराहे पर खडा है। यहाँ से एक रास्ता—स्वर्ग एव मोक्ष को जाता है, दूसरा—नरक को जाता है, तीसरा—पशु-पक्षी की योनि को, और चौथा—मनुष्य-गति को जाता है। अब यह तय करना है कि किस रास्ते पर चलना है ? चारो रास्तो के दरवाजे खुले पडे है। चारो ओर सडके चल रही हैं। एक ओर प्रकाश चमक रहा है, तो दूसरी ओर अन्धकार घिर रहा है। अब तू विचार ले कि अपनी जिन्दगी को किधर ले जाना चाहता है ! यदि तू सत्य और अहिंसा के सन्मार्ग पर चलेगा तो तू यहाँ भी आनन्द-

मगल पाएगा और आगे जहाँ कही भी जाएगा, जन-ससार को दु ख के वजाय सुख की ही जिन्दगी देगा। देख ! यह दिव्य-प्रकाश का आदर्श मार्ग है। यह वह प्रकाश है जो कभी धुँधला नही पडता, अन्धकार से नही घिरता।

इस सम्वन्ध मे भगवान् महावीर ने कहा है कि—"हृदय मे जव धर्म के आचरण करने की पवित्र भावना उत्पन्न हो और सकल्प भी पक्का हो, तो फिर टालमटोल करने की क्या आवश्यकता है? 'मा पडिवध करेह', अर्थात्—'देरी मत करो।' भूखे को जव भूख के समय भोजन मिल जाए तव क्या भूखा इन्तजार करेगा? नही, उसी वक्त खाएगा और दौडकर खाएगा।

हाँ, तो जव आध्यात्मिक भूख लगी हो, जीवन-निर्माण की सच्ची लालसा जागृत हुई हो तो उस समय जीवन का जो महत्वपूर्ण मार्ग है, सच्चाई का मार्ग है, समाज एव राष्ट्र के हित का कल्याण-पथ है, सत्यनिष्ठ होकर उसी पर चल पडो ! तनिक भी इन्तजार मत करो !! इस रूप मे तत्क्षण-कारिता ही जीवन-निर्माण का एक महत्वपूर्ण आदर्श है, जो साक्षात् रूप मे हमारे सामने है। परन्तु लोग वहुधा कहा करते हैं, 'जी हाँ, वात ठीक है ! पर, अभी अवकाश नही है।' यह क्या विचित्र चिन्तन है? हृदय की इस अशोभन दुर्वलता को जितना भी जल्दी हो, दूर कर देना चाहिए और जो कुछ भी सत्कर्म करना हो, उसे यथाशीघ्र कर लेना चाहिए। क्योंकि समय की गति तेज है, वह किसी की प्रतीक्षा नही करता, किन्तु अवसर को अवश्य प्रकट कर देता है। अवसर भी

साकार रूप मे प्रकट नही होता, पक्षी की भाँति अपने पख ही फडफडाता है । जो अपनी कुशाग्र बुद्धि से अवसर के पख को पहिचान लेता है और अपने अभीष्ट कार्य को उस पख से सुसम्बद्ध कर देता है, वह समय की द्रुतगामी गति के साथ प्रगति करता हुआ एक दिन अवश्य ही उन्नति के शिखर पर पहुँच जाता है ।